Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
20.02
य२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Arya Samaj Foundation Chennai and

lic Domain. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

V3445

विज्ञान महाविद्यालय पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

R
20.02
य2द

विषय संख्या (1862)

आगत पंजिका संख्या ~~66163~~

तिथि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
20.02
म2द
(1962)

पुस्तकालय

(विज्ञान विभाग)

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित १५वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५ पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

~~66163~~

Stock Verification-2024

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
COMPILED

दर्शन-समीक्षा

संपादक :
यशदेव शल्य

वर्ष : २ जुलाई, १९७२ अंक : १

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

113445

दर्शन समीक्षा

षाण्मासिक

वर्ष : २ जुलाई, १९७२ अंक : १

संपादक :

यशदेव शल्य

परामर्शदाता :

चांदमल, दयाकृष्ण, नंदकिशोर देवराज,
राजेन्द्रप्रसाद, (कु.) रूपरेखा वर्मा

विषय सूची

१. मूर तथा रसल : विश्लेषणवादी परंपरा	रूपरेखा वर्मा	१
२. वैयक्तिक भाषा-संबंधी विमर्श	नारायण शास्त्री द्राविड़	३६
३. संवादी विसंवाद : धर्मों का अन्योन्याश्रयत्व	हर्षनारायण	५६
४. विज्ञान-दर्शन का स्वरूप	वी० के० भारद्वाज	९१
पत्रिका-लेख सारांश		१३६-१६८

लेखक : राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, भगवती,
आभा चतुर्वेदी, रमेशचन्द्र

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रंथ-योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

वार्षिक शुल्क : साधारण : १२.००
संस्थाओं के लिए : २०.००

COMPILED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

20.02
प2ध
(१९62)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

मूर तथा रसल : विश्लेषणवादी परंपरा*

रूपरेखा वर्मा

"लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लौजिक", "दि फाउन्डेशन्स् ऑफ एम्पिरिकल नौलेज", "दि प्रौब्लम ऑफ नौलेज", "दि कौन्सेप्ट ऑफ ए पर्सन एण्ड अदर ऐसेज़" आदि सुविख्यात पुस्तकों के रचनाकार प्रो० ए० जे० एयर की नवीनतम पुस्तक "रसेल एण्ड मूर-दि एनालिटिक हेरिटेज" हार्वर्ड विश्वविद्यालय में १९७० में दिए गए विलियम जेम्स भाषणों का मुद्रित रूप है। यह पुस्तक रचनाकाल की ही दृष्टि से नवीन नहीं है अपितु विषयवस्तु एवं शैली की दृष्टि से भी नवीन है। इस पुस्तक तथा एक अन्य पुस्तक "दि ओरिजिन्स् ऑफ प्रैग्मेटिज़्म" (१९६८), दोनों ही में प्रो० एयर कुछ दार्शनिकों के सिद्धान्तों की विवेचना तथा आलोचना तक स्वयं को सीमित रखते हैं। इनसे पूर्व की पुस्तकों में प्रो० एयर ने किसी विशिष्ट दार्शनिक की किसी विशेष विचारधारा के विवरण और समालोचना को उतना केन्द्रीय नहीं बनाया है जितना समस्या तथा उससे सम्बन्धित अपने विचारों के व्यवस्थित सृजन को। इसका अर्थ यह नहीं है कि पहले की पुस्तकों में प्रो० एयर किसी भी समस्या की विवेचना में किसी अन्य दार्शनिक के मत का उल्लेख अथवा विवरण करते ही नहीं और इन अपेक्षाकृत नवीन पुस्तकों में अपने विचारों के लिए तर्क नहीं करते। "दि ओरिजिन्स् ऑफ प्रैग्मेटिज़्म" तथा "रसेल एण्ड मूर", इन दोनों पुस्तकों में लेखक ने लगभग हर समस्या पर अपने मत का कम से कम उल्लेख तो किया ही है, अधिकांशतः अपने मत के लिए युक्तियां भी दी हैं। इसी प्रकार इनसे पहले की पुस्तकों में किसी भी समस्या की चर्चा में अन्य दार्शनिकों के प्रासंगिक विचारों की विवेचना पर्याप्त रूप से पाई जाती है। प्रश्न केवल विवेचना के इन दो पक्षों के अनुपात तथा प्रधानता का है। उस दृष्टिकोण से "दि ओरिजिन्स् ऑफ प्रैग्मेटिज़्म" में मुख्यतः चार्ल्स सैण्डर्स पायर्स तथा विलियम जेम्स के सिद्धान्तों की समालोचना है। इसी तरह "रसेल एण्ड मूर" का उद्देश्य, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है,

---

* Moor and Russell : The Analytic Heritage, by A. J. Ayer, Macmillan, 1971, P. 254.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषणपरक दार्शनिक आन्दोलन के प्रणेताओं रसेल तथा मूर की विचारधाराओं की विवेचना है। इस उद्देश्य में पुस्तक पूर्ण सफल हुई है। रसेल तथा मूर दोनों ही दार्शनिकों पर अनेकों पुस्तकें मिल जायंगी, पर जो उत्कृष्ट स्तर प्रो० एयर की इस पुस्तक में मिलता है वह कुछ गिनी-चुनी पुस्तकों में ही मिलेगा। स्वयं विश्लेषण-परक आन्दोलन को नवीन दिशाएं तथा विकास देने वाले तथा इस दार्शनिक विचारधारा के श्रेष्ठतम पोषकों में से एक प्रो० एयर रसेल तथा मूर जैसे दार्शनिकों के विचारों को जिस गहराई से समझ सके हैं और जिस विशद अध्ययन तथा परिपक्व दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में उनकी आलोचना कर सके हैं वह इने-गिने लेखकों की ही सामर्थ्य में है। विशेषत: रसेल के विचार करीब-करीब सभी समस्याओं पर इतने संशोधित तथा परिवर्तित होते रहे हैं, और उनकी रचनाएं इतनी विशद रही हैं कि उनको उनकी लगभग समग्रता में प्रस्तुत करके समालोचित करना सरल कार्य नहीं है। रसेल के विशाल रचना-भंडार को ऐसी समग्रता से देखने के प्रयास अन्य भी हुए हैं, और उनमें से बहुत से प्रशंसनीय स्तर के भी हैं, उदाहरणार्थ, डी०एफ० पियर्स की पाँच वर्ष पूर्व लिखी पुस्तक "बर्ट्रेण्ड रसेल एण्ड दि ब्रिटिश ट्रेडीशन इन फिलोसोफ़ी" रसेल पर उस समय तक की सर्वोत्कृष्ट पुस्तकों में मानी जा सकती है। पर एयर की यह पुस्तक सूक्ष्मता के दृष्टिकोण से उससे भी श्रेष्ठ मानी जा सकती है। पुस्तक में खटकने वाली बात केवल एक ही लगती है कि इसकी शैली अपेक्षाकृत कम सरल है। पुस्तक को भलीभाँति समझने के लिए रसेल की विचारधारा तथा संबद्ध दार्शनिक समस्याओं का अच्छा ज्ञान पहले से ही होना आवश्यक है। क्योंकि अधिकांश स्थानों पर एयर ने रसेल की युक्ति अथवा मत के विवरण में और उससे संबद्ध पूर्व-उपलब्ध विवेचना के उल्लेख में भी केवल उन्हीं बातों को अपेक्षाकृत विस्तार दिया है जो अधिक सूक्ष्म हैं और अधिक विवादास्पद होने के कारण जिनकी विवेचना वह स्वयं करते हैं। इस कारण रसेल तथा मूर से पूर्णत: अनभिज्ञ पाठक को यह पुस्तक कठिन प्रतीत हो सकती है।

पुस्तक के प्रथम पाँच अध्याय प्रथम भाग का निर्माण करते हैं और शेष चार अध्याय द्वितीय भाग का। प्रथम भाग रसेल पर और द्वितीय मूर पर है।

प्रथम अध्याय—"दि चैलेंज ऑफ स्केप्टिसिज्म" में चार खंड हैं, जिनमें से प्रथम रसेल की जीवन-कथा एवं उनकी रचनाओं का संक्षिप्त सामान्य विवरण देता है। द्वितीय खण्ड में कुछ विस्तार से रसेल की दर्शन विषयक अवधारणा समझायी गयी है। एयर बताते हैं कि आधुनिक दर्शनशास्त्र को बहुत कुछ देने के बाद भी दर्शनशास्त्र के स्वरूप एवं कार्य के विषय में रसेल का विचार अपेक्षाकृत पुराना है। इस कारण वह मूर, विट्गेन्स्टाइन एवं कार्नेप आदि के उतना निकट नहीं रह पाते जितना प्राचीन अनुभववादियों—लौक, बर्कले एवं ह्यूम के। क्योंकि रसेल की मुख्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवधारणा यह है कि हमारे हर विश्वास के लिए एक दार्शनिक प्रामाणिकता की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि तथाकथित अनुभवात्मक वाक्यों की सत्यता अथवा असत्यता के निर्धारण के लिए दार्शनिक युक्तियाँ पर्याप्त हैं। रसेल दार्शनिक प्रामाणिकता को सभी विश्वासों के लिए पर्याप्त नहीं, अनिवार्य मानते हैं। क्योंकि उनके विचार से, हर अनुभवात्मक विश्वास कुछ विशेष प्रकार के अस्तित्व मानकर चलते हैं और यह सिद्ध करना कि उस प्रकार के अस्तित्वों को मानना युक्तियुक्त है, दर्शनशास्त्र का कार्य है। एयर बताते हैं कि रसेल केवल इतना ही नहीं मानते कि हमारे विश्वासों की इन अस्तत्वपरक अविधारणाओं का परीक्षण करना दर्शनशास्त्र का कार्य है, अपितु यह भी मानते हैं कि दर्शनशास्त्र की हर समस्या या तो इसी प्रकार अस्तित्वमीमांसात्मक है, अथवा उससे संबद्ध है।

रसेल के दर्शन के मूल में ही अस्तित्वमीमांसा के इस महत्व को रसेल के व्याख्याकार बहुधा भूल जाते हैं। कारण यह हो सकता है कि दार्शनिक विधि में विश्लेषण का प्रयोग स्वयं रसेल द्वारा शक्तिशाली बनाया गया, और चूँकि विश्लेषण में अस्तित्वमीमांसात्मक प्रश्न सीधे रूप से नहीं उठते, यह मान लिया जाता है कि इन प्रश्नों को रसेल अपने दर्शन में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं दे सकते। मौरिस वाइज[1] आदि का यही मत है। परन्तु एयर के मतानुसार रसेल की यह व्याख्या सही नहीं है, क्योंकि रसेल विश्लेषण को केवल विश्लेषण के ही लिए प्रयुक्त नहीं करते, अपितु अस्तित्वपरक विश्वासों की एक विशेष प्रकार की प्रामाणिकता के लिए प्रयुक्त करते हैं। विश्लेषण से हम यह जान लेते हैं कि हम एक विशेष प्रकार की वस्तु को दूसरे प्रकार से परिभाषित कर सकते हैं, और इस प्रकार अपनी अस्तित्वमीमांसा में केवल दूसरे प्रकार की ही वस्तुओं को मानना अनिवार्य एवं पर्याप्त है, यह सिद्ध कर सकते हैं।

अपनी इस व्याख्या के लिए एयर रसेल एवं मूर की ज्ञानमीमांसा का तुलनात्मक विवरण देते हुए बताते हैं कि मूर साधारण व्यक्ति के विश्वासों पर संशय की संभावना मानते ही नहीं। वे दर्शनशास्त्र का कार्य इन विश्वासों की **आलोचना** अथवा खंडन-मंडन नहीं मानते। उनके मतानुसार दर्शनशास्त्र का कार्य केवल इन विश्वासों का **विश्लेषण** करना है। अर्थात् मूर के अनुसार दर्शनशास्त्र का कार्य शुद्ध रूप से विश्लेषणात्मक है। पर रसेल के अनुसार दर्शनशास्त्र का अंतिम लक्ष्य कुछ विश्वासों अथवा सिद्धान्तों की स्थापना अथवा खंडन करना है; अर्थात् दर्शन का कार्य हमारे विश्वासों को प्रमाण प्रदान करना है। एयर की व्याख्या के अनुसार, रसेल

---

१ 'एनालिसि एण्ड दि यूनिटी ऑफ रसेल्स फिलोसोफी' (**दि फिलोसोफी ऑफ बर्ट्रेण्ड रसेल में**), पृ० ८७,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी वाक्य के विश्लेषण का उद्देश्य उसकी ऐसी व्याख्या ढूंढ़ना मानते हैं जिसके आधार पर उस वाक्य की सत्यता संभव मानी जा सके। एयर ने मूर की व्याख्या पूर्ण रूप से ठीक की है, इसमें कोई संदेह नहीं। मूर के प्रसिद्ध लेखों 'ए डिफेन्स ऑफ कौमन सेन्स', 'प्रूफ ऑफ एन एक्स्टर्नल वर्ल्ड' आदि में उनका यह मत पूर्ण स्पष्ट है। परन्तु रसेल के विषय में एयर की व्याख्या पर कुछ संदेह किया जा सकता है क्योंकि "दि फिलोसोफी ऑफ बर्ट्रेण्ड रसेल" पुस्तक में अपने आलोचकों को दिए गए प्रत्युत्तर में स्वयं रसेल मौरिस वाइज, आदि की व्याख्या का खंडन नहीं करते। यह कहा जा सकता है कि दूसरी आलोचनाओं का उत्तर देते समय रसेल का ध्यान अपने दर्शन की व्याख्या संबंधी सूक्ष्म बातों पर नहीं गया और इस प्रकार उनकी उन्होंने उपेक्षा सी कर दी। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि किसी व्याख्या का खंडन न करना उसे सही मान लेने का द्योतक नहीं है। एयर का यही मत है। पर ऐसा बहुत असंभावित प्रतीत होता है कि अपने दर्शन के इतने मूलभूत सिद्धान्त के प्रति रसेल ऐसी उपेक्षा कर जांय। अतः यह कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि रसेल विश्लेषण की सोद्देश्यता तथा दर्शन में तत्वमीमांसा के स्थान के विषय में बहुत स्पष्ट नहीं थे।

जो भी हो, एयर न केवल अपनी व्याख्या के सही होने का दावा करते हैं, वे व्याख्या में दिए गए सिद्धान्त को एक बड़े अंश तक स्वीकार भी करते हैं। एयर ने इस मान्यता की आलोचना की है कि हर अस्तित्वपरक प्रश्न का उत्तर अनुभवात्मक विधि से ही दिया जा सकता है और दर्शन के लिए केवल विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण का कार्य ही शेष रहता है। वस्तुतः एयर के नवीन विचार के अनुसार, स्पष्टीकरण (तथा विश्लेषण) और तथ्यात्मक ज्ञान के बीच उस तरह का स्पष्ट भेद अथवा वैपरीत्य नहीं है जैसाकि मूर, विट्गेन्स्टाइन तथा उनके अनुयायी मानते आए हैं। दर्शन की अतथ्यात्मकता के विरुद्ध मूर आदि के दर्शन में जो युक्ति मिलती है उसके विरुद्ध एयर ने पुस्तक के द्वितीय भाग में तर्क किया है। इसके अतिरिक्त, अन्यत्र भी उन्होंने इस विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं। एक स्थान पर वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि, यद्यपि एक अर्थ में यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक अन्वेषणों का संबंध संसार की क्रियाओं-प्रक्रियाओं से नहीं है, अपितु इस बात से है कि हम संसार के विषय में किस प्रकार बात करते हैं, फिर भी यह कोई पक्का भेद नहीं है। क्योंकि हम संसार पर भाषा के माध्यम से ही दृष्टिपात कर सकते हैं और इस प्रकार "तथ्यों पर अपनी भाषा द्वारा आरोपित की गई माँगों को समझना स्वयं तथ्यों के स्वरूप को समझने की भी एक विधि है।"[२] अतः किसी दार्शनिक निष्कर्ष

२ ए० जे० एयर : **मैटाफ़िज़िक्स एण्ड कौमन सेन्स**, १९६९ (अध्याय : 'आन मेकिंग फिलोसोफी इन्टेलिजिबिल') पृ० १६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को हम तथ्यों के विषय में मानें या तथ्यों के विषय में हमारे बात करने की विधा के विषय में मानें, इन दोनों विकल्पों में एयर कोई महत्वपूर्ण भेद नहीं मानेंगे। यही बात उन्होंने एक अन्य स्थान पर भी स्पष्ट की है। तत्वमीमांसा के स्वरूप एवं संभावना की विवेचना करते हुए एयर उदाहरण के रूप में भौतिक वस्तुओं की समस्या लेते हैं। सुविदित है कि इस समस्या की विवेचना न केवल तथाकथित तत्त्व-मीमांसकों ने की है अपितु तत्त्वमीमांसा के विरोधियों ने भी की है। एयर का मत है कि यदि हम भौतिक वस्तु की अनुभवमूलक (फिनोमिनोलोजिकल) व्याख्या को मानें तो इस स्वीकृति को ही विभिन्न दार्शनिक विभिन्न रूपों में रख सकते हैं। विश्लेषणपरक मनोवृत्ति का दार्शनिक यह कहेगा कि भौतिक वस्तुएं संवेद्यों (सेंस डाटा) से तार्किक रचनाएं हैं, और तत्वमीमांसा को संभव तथा निर्दोष मानने वाला दार्शनिक यह कहेगा कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। परन्तु यह केवल हमारे कहने का ही भेद है; यह कोई वास्तविक भेद नहीं है।[3] न केवल एयर, कुछ अन्य महत्वपूर्ण आधुनिक दार्शनिक भी, जो पारम्परिक अर्थ में तत्वमीमांसक नहीं हैं, इसी प्रकार का विचार रखते हैं। उदाहरणार्थ, एच० एच० प्राइस दर्शन का कार्य स्पष्टीकरण मानते हुए भी कहते हैं कि "विश्लेषणपरक दार्शनिक यह मानने को बाध्य नहीं हैं कि दर्शनशास्त्र का लक्ष्य वाक्यों के अर्थ-विश्लेषित करना मात्र है। वह उसी तरह यह भी कह सकता है कि इसका लक्ष्य हमारे अनुभव का विश्लेषण करना या तथ्य के विभिन्न प्रकारों अथवा रूपों का विश्लेषण करना है.........।"[4]

रसेल के अधिदार्शनिक (मेटाफ़िलोसोफ़िकल) विचार की मीमांसा करने के बाद एयर उनके दर्शन की कुछ अभिधारणाओं का उल्लेख करते हैं। एयर के मतानुसार रसेल के सम्पूर्ण दर्शन के पीछे निम्नलिखित दस अभिधारणाएं निहित हैं:

(1) हमारे समस्त तथ्यात्मक विश्वासों के आधारवाक्यों के रूप में कुछ विशेष प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ कार्य करती हैं, जो इस अर्थ में निश्चयात्मक हैं कि उनकी असत्यता सिद्ध करने के लिए कोई दूसरे आधारवाक्य हमें उपलब्ध नहीं हैं।

(2) ये प्रतिज्ञप्तियाँ परमाणविक हैं क्योंकि उनका निर्माण अन्य प्रतिज्ञप्तियों से नहीं हुआ है और उनमें से हर दो प्रतिज्ञप्तियाँ परस्पर तार्किक रूप से स्वतंत्र हैं।

---

३ ए० जे० एयर : **मैटाफिज़िक्स एण्ड कौमन सेन्स,** १९६९ (अध्याय : 'मैटाफ़िज़िक्स एण्ड कौमन सेन्स') पृ० ७२–७३।

४ संपा०—एच० डी० ल्युइस : **क्लैरिटी इज़ नोट इनफ़** (अध्याय : 'क्लैरिटी इज़ नोट इनफ़') पृ० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) परमाणविक प्रतिज्ञप्तियों को अभिव्यक्त करने वाले वाक्य व्यक्ति-वाचक नामों (प्रौपर नेम्स) तथा विधेयों से बने होते हैं।

(४) नाम का अर्थ वह वस्तु होती है जिसका निदर्शन नाम करता है। अतः निदर्शन-हीन नाम अर्थहीन भी होगा।

(५) हम केवल अपने प्रत्यक्षों एवं मानसिक स्थितियों को ही नाम दे सकते हैं। इन्हें हम परिचय (एक्वेंटेंस) से जानते हैं।

(६) सामान्यों (यूनीवर्सल्स) से परिचित होना संभव है। अपनी उत्तर-वर्ती रचनाओं में रसेल किसी सामान्य के परिचय द्वारा ज्ञेय होने की यह अनिवार्य शर्त मानते हैं कि वह हमारे अनुभव में अभिव्यक्त हो।

(७) जो वस्तुएं परिचय से ज्ञात नहीं होतीं उन्हें विवरण से जाना जा सकता है। परन्तु यह आवश्यक है कि विवरण इस प्रकार का हो जो वर्णित वस्तु को परिचय द्वारा ज्ञात वस्तुओं से संबंधित करता हो।

(८) प्रत्येक विवरण में इस प्रकार का परोक्ष अनुमान निहित रहता है कि ऐसी कोई वस्तु है जो उस वस्तु से वांछित संबंध रखती है जिस पर विवरण आधा-रित किया गया है। ऐसे अनुमानों के ग़लत होने की संभावना सदैव रहती है।

(९) गणितीय प्रतिज्ञप्तियाँ जिन अमूर्त्त वस्तुओं का निदर्शन करती प्रतीत होती हैं उनका अस्तित्व संदेहजनक है।

(१०) दार्शनिक का एक कार्य "क्या है" इसका सामान्य लेखा प्रस्तुत करना है। इस कार्य में अपने समय के प्रचलित विज्ञान की मान्यताओं का सहारा लेना दार्शनिक के लिए विवेकपूर्ण होता है। क्योंकि विज्ञान के सिद्धान्त पूर्णरूपेण निश्च-यात्मक न होते हुए भी दूसरे अवैज्ञानिक सिद्धान्तों से अधिक संभाव्य होते हैं।

प्रथम अध्याय का तृतीय खंड रसेल के तार्किक निर्मितियों के सिद्धान्त (थीयरी ऑफ लोजीकल कंस्ट्रक्शंस्) के उद्देश्यों की विवेचना करता है। एयर के मतानुसार गौण (सेकंड्री) अथवा अनुमानित (इन्फर्ड) वस्तुओं को प्राथमिक अथवा मौलिक वस्तुओं से तार्किक रचनाएं मानने के तीन मुख्य कारण हो सकते हैं। प्रथमतः, ऐसा हो सकता है कि वस्तु किसी प्रकार रहस्यात्मक प्रतीत हो। द्वितीयतः, वस्तु तार्किक दृष्टिकोण से स्वीकार्य न हो। उदाहरण के लिए, मीनौंग द्वारा स्वीकृत गोल चतुर्भुज तार्किक रूप से अस्वीकार्य है। तृतीयतः, वस्तु का अस्तित्व ज्ञात करने में कुछ कठिनाइयाँ हों। यह अंतिम कारण ज्ञानमीमांसात्मक है।

चतुर्थ खण्ड में एयर ने वर्ग के प्रत्यय तथा उससे सम्बन्धित रसेल के प्ररूपों के सिद्धान्त थ्योरी ऑफ टाइप्स पर टिप्पणी दी है। रसेल द्वारा अंक की वर्ग के माध्यम से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द गई परिभाषा की ओर संकेत करते हुए एयर प्रश्न उठाते हैं कि क्या वर्ग का प्रत्यय अंक के प्रत्यय से कम रहस्यात्मक है? अंक को वर्ग द्वारा परिभाषित करने, अर्थात् अंक को वर्गों से तार्किक रचना मानने का कारण ही यह माना जाता है कि अंक का प्रत्यय बहुत रहस्यात्मक है। अतः यह माँग स्वाभाविक ही है कि वर्ग के प्रत्यय को हम अंक के प्रत्यय की अपेक्षा अधिक ठीक तरह समझते हों। यदि हम वर्ग को कुछ वस्तुओं के मात्र समूह के रूप में समझें, अर्थात् उन्हें वस्त्वर्थक (एक्स्टेंशनल) दृष्टिकोण से देखें, तो वर्ग के प्रत्यय में कोई रहस्यात्मक बात नहीं प्रतीत होगी। परन्तु एयर बताते हैं कि वर्गों की इस प्रकार की व्याख्या रसेल के लिए व्यर्थ होगी। क्योंकि रसेल इस व्याख्या का उपयोग गणितीय वाक्यों को वर्ग-विषयक वाक्यों में रूपान्तरित करने के लिए करना चाहते हैं, और इस प्रयोग में हमें अनन्त सदस्यों वाले वर्ग भी मानने होंगे। परन्तु अनन्त सदस्यों वाले वर्ग के प्रत्यय में कठिनाइयाँ हैं। यदि उन सदस्यों का संयोजन किसी नियम के अनुसार किया जाता है तो यह माना जा सकता है कि ऐसे वर्ग के किसी भी अंश की गणना की जा सकती है। परन्तु असंख्य सदस्यों वाले वर्ग के होने पर यह नहीं माना जा सकता कि उस वर्ग के सभी अंशों की सामूहिक रूप से गणना की जा सकती है।

इस प्रत्यय की एक और कठिनाई यह होगी कि रिक्त वर्ग (नल क्लास) को भी एक प्रकार का समूह मानना पड़ेगा। परन्तु एक रिक्त वर्ग समूह कैसे हो सकता है (क्योंकि उसमें कोई सदस्य तो होता ही नहीं), यह बोधगम्य नहीं है। तीसरी कठिनाई इकाई-वर्ग (यूनिट क्लास) को लेकर खड़ी होगी। जैसाकि एयर संकेत करते हैं, तार्किक दृष्टिकोण से हम इकाई-वर्ग तथा इसके एकमात्र सदस्य को एक ही नहीं मान सकते। परन्तु इस प्रकार के वर्ग तथा इसके एकमात्र सदस्य का भेद भी क्या हो सकता है, स्पष्ट नहीं है। यह कठिनाई केवल इकाई वर्ग की ही नहीं है, सामान्य है। सामान्य रूप से, समूह को इसके सदस्यों से अलग एक भिन्न अस्तित्व मानना सार्थक प्रतीत नहीं होता, जबकि ऐसा भेद मानना भी कुछ तार्किक कारणों से अनिवार्य प्रतीत होता है। स्वयं रसेल यह बताते हैं कि समूह को उसके सदस्यों से भिन्न वस्तु मानने के कुछ परिणाम आत्म-विरोधी होंगे। क्योंकि यह गणित से सिद्ध किया जा सकता है कि य वस्तुओं के समूह में से ('य' वस्तुओं की कोई भी संख्या इंगित करता है) २य संख्या के विभिन्न चयन किये जा सकते हैं; और जैसाकि कैन्टर ने सिद्ध कर दिया है, 'य' के अनन्त होने पर भी '२य' की संख्या 'य' से अधिक ही होगी। इसका निष्कर्ष यह होगा कि यदि अस्तित्ववान् वस्तुओं की समग्रता में वस्तुओं के सभी संभव समूह भी सम्मिलित किए जाएं तो हमें यह आत्म-विरोधी बात माननी पड़ेगी कि अस्तित्ववान् वस्तुओं की संख्या उनकी समग्रता से अधिक है। संक्षेप में, वस्तुओं की समग्रता का प्रत्यय आत्मविरोधी अथवा अर्थहीन हो जायगा। इससे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वर्गों का वस्त्वर्थक (एक्स्टेंशनल) प्रत्यय ठीक नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका विकल्प है वर्गों को गुणार्थिक (इंटेंशनल) दृष्टिकोण से समझना। इस विकल्प के आधार पर वर्ग ऐसी वस्तुओं का एक विन्यास (सैट) माना जायगा जो किसी प्रदत्त प्रत्यय के अन्तर्गत आते हैं अथवा किसी प्रदत्त प्रतिज्ञप्ति-फलन को संतुष्ट करते हैं। इस परिभाषा के आधार पर वर्गों का निराकरण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यह कहने के स्थान पर कि वर्ग 'प्रथम चन्द्रयात्री' के दो सदस्य हैं, हम यह कह सकते हैं कि प्रतिज्ञप्ति-फलन 'य चन्द्रयात्री है' को 'य' के दो मूल्य संतुष्ट करते हैं। इसी प्रकार 'वर्ग "भारतीय चन्द्रयात्री" का एक भी सदस्य नहीं है' वाक्य के स्थान पर इस वाक्य का प्रयोग किया जा सकता है: 'प्रतिज्ञप्ति-फलन "य भारतीय चन्द्रयात्री है" को 'य' का एक भी मूल्य संतुष्ट नहीं करता।' परन्तु इस परिभाषा में भी एक कठिनाई यह है कि इसमें प्रतिज्ञप्ति-फलन का प्रत्यय प्रयुक्त किया है गया जो प्रतिज्ञप्ति के प्रत्यय पर आश्रित होने के कारण उतना ही समस्यात्मक है जितना स्वय प्रतिज्ञप्ति का प्रत्यय। यह सुविदित है कि प्रतिज्ञप्ति के स्वरूप के विषय में दार्शनिक समस्याएं अभी भी सुलझी नहीं हैं। अतः विचाराधीन परिभाषा पूरी तरह संतोषजनक नहीं कही जा सकती। फिर भी, एयर यह मानते हैं कि चूँकि प्रतिज्ञप्ति के स्वरूप की समस्या गणित-दर्शन की विशिष्ट समस्या न होकर समस्त दर्शनशास्त्र की समस्या है, इस परिभाषा को हम अन्य परिभाषाओं से कहीं अधिक उपयोगी मान सकते हैं, यदि इस परिभाषा के कारण गणित-दर्शन में कोई अन्य समस्या खड़ी न हो जाय।

इस परिभाषा की यह दूसरी विशिष्ट समस्या इस प्रकार की है। सामान्यतः यह माना जायगा कि प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति-फलन एक वर्ग निश्चित करता है, और कुछ स्थितियों में कोई प्रतिज्ञप्ति-फलन ऐसा वर्ग निश्चित कर सकता है जो वर्गों का वर्ग हो। पर यदि इन दूसरे प्रकार के प्रतिज्ञप्ति-फलनों पर किसी प्रकार की सीमा आरोपित नहीं की जाती तो हमें पुनः आत्मविरोधी निष्कर्ष प्राप्त होंगे। इसका एक सुपरिचित उदाहरण है वर्गों का वह विभाजन जिसके अनुसार एक प्रकार के वर्ग वे हैं जो स्वयं अपने सदस्य हैं तथा दूसरे वे जो स्वयं अपने सदस्य नहीं हैं। यदि ऐसे वर्गों के वर्ग के विषय में, जो स्वयं अपने सदस्य नहीं हैं, हम यह पूछें कि वह स्वयं अपना सदस्य है अथवा नहीं, तो दोनों संभव उत्तर आत्मविरोधी होंगे। यदि हम कहें कि वह वर्ग स्वयं अपना सदस्य है तो यह मानना होगा कि वह अपना सदस्य नहीं है (क्योंकि वह वर्ग ऐसे वर्गों का ही वर्ग माना गया है जो स्वयं अपने सदस्य नहीं हैं), और यदि हम कहें कि वह अपना सदस्य नहीं है तो उसका अर्थ होगा कि वह प्रथम प्रकार के वर्ग का सदस्य है जिसके सभी सदस्य स्वयं अपने सदस्य हैं, जिसका निष्कर्ष यह होगा कि विचाराधीन वर्ग भी अपना सदस्य है। इस प्रकार के आत्मविरोधों का निराकरण करने के लिए ही रसेल ने अपना प्रसिद्ध प्ररूपों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संक्षेप में, प्ररूपों का सिद्धान्त यह कहता है कि कोई भी प्रतिज्ञप्ति-फलन अपने संभव मूल्यों की समग्रता पूर्वकल्पित करता है। अतः किसी भी प्रतिज्ञप्ति-फलन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए (उस सीमा तक जहाँ तक वह अर्थवान् कहा जा सकता है) उसको संतुष्ट कर सकने वाले संभव विषयों का विस्तार (रेंज) बताना आवश्यक है। इसका निष्कर्ष यह होगा कि विषयों के विस्तार में ऐसी कोई वस्तु सम्मिलित नहीं की जा सकती जो स्वयं प्रतिज्ञप्ति-फलन से परिभाषित की जाती हो। अतः स्वयं अपने सदस्य न होने वाले वर्गों के वर्ग के विषय में हम सार्थकता से न तो यह कह सकते हैं कि वह स्वयं अपना सदस्य है, और न यह कि वह अपना सदस्य नहीं है। इस प्रकार हमें प्रतिज्ञप्ति-फलनों तथा प्रतिज्ञप्तियों का एक श्रेणीबद्ध संगठन प्राप्त होता है, जिसमें प्रथम स्तर की प्रतिज्ञप्तियों अथवा फलनों के विषय केवल विशिष्ट विषय होते हैं और अधिकाधिक उच्च स्तर की प्रतिज्ञप्तियों अथवा फलनों के विषय अपने से एक कम स्तर की प्रतिज्ञप्तियाँ अथवा फलन होते हैं। किसी एक स्तर के फलनों को संतुष्ट करने वाले विषय एक प्रकार अथवा प्ररूप (टाइप)का निर्माण करते हैं और मुख्य सिद्धान्त यह है कि जो कुछ एक प्ररूप के विषयों के लिए सार्थकता से कहा जा सकता है वह दूसरे प्ररूप के विषयों के लिए नहीं कहा जा सकता।

रसेल की इस युक्ति के विरुद्ध एयर की आपत्ति यह है कि ऐसे शब्द अथवा प्रत्यय मिल सकते हैं जो रसेल के इस सिद्धांत के आधार पर अनेकार्थक माने जाने चाहिएं, किन्तु जो अनेकार्थक प्रतीत नहीं होते। उदाहरणार्थ, अस्तित्व का प्रत्यय अनेकार्थक प्रतीत नहीं होता, जब हम विभिन्न वस्तुओं के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व की चर्चा करते हैं, तो अस्तित्व का एक ही प्रत्यय प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। परन्तु रसेल के सिद्धांत के अनुसार हम एक ही प्रकार की बात सभी प्ररूपों अथवा दो विभिन्न प्ररूपों के विषयों के लिए नहीं कह सकते। रसेल ऐसे प्रत्ययों अथवा शब्दों को, जिन्हें हम विभिन्न प्ररूपों के विषयों के लिए प्रयुक्त करते रहते हैं, "व्यवस्थित रूप से अनेकार्थक" कहते हैं। इस व्याख्या के अनुरूप, जब हम कहते हैं कि विशिष्ट विषय हैं, तो हमारा तात्पर्य होता है कि प्रथम स्तर के कुछ प्रतिज्ञप्ति-फलन संतुष्ट होते हैं, जब हम कहते हैं कि ऐसे वर्गों का अस्तित्व है जिनके सदस्य विशिष्ट विषय हैं, तो हमारा तात्पर्य यह कहने का होता है कि द्वितीय स्तर के कुछ प्रतिज्ञप्ति-फलन संतुष्ट होते हैं। परन्तु एयर ठीक ही इंगित करते हैं कि स्वयं रसेल इस व्याख्या को अन्ततः नहीं निभा पाते। क्योंकि वे यह स्वीकार नहीं करेंगे कि जब वे वर्गों को अस्तित्वहीन अथवा तार्किक रचनाएं मात्र मानते हैं तो उनका अर्थ केवल यह कहने का होता है कि प्रथम स्तर से उच्चतर स्तर का कोई प्रतिज्ञप्ति-फलन कभी भी संतुष्ट होता ही नहीं।

प्ररूपों के सिद्धांत के लिए रसेल द्वारा दिए गए तर्क के विरुद्ध एयर की यह आपत्ति गंभीर तो है, पर इसका निराकरण असंभव प्रतीत नहीं होता। यह कहा जा सकता है कि अपने इस सिद्धांत के माध्यम से रसेल वस्तुओं तथा वर्गों संबंधी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी भाषा को एक नई रूपरेखा अथवा विधा प्रदान कर रहे हैं, और इस नई विधा का एक अनिवार्य निष्कर्ष अवश्य ही यह होगा कि समस्त वर्गों के विषय में हम कोई एक बात एक ही अर्थ में नहीं कह सकते हैं। क्योंकि वर्गों की समष्टि में विभिन्न प्ररूपों के वर्ग सम्मिलित होंगे, और प्ररूपों का सिद्धांत ही यह है कि विभिन्न प्ररूपों के विषयों के लिए हम एक ही बात सार्थकता से नहीं कह सकते, अतः एयर की आपत्ति यह नहीं होनी चाहिए थी कि वर्गों के अनस्तित्व की रसेल की मान्यता की व्याख्या उपरोक्त प्रकार से करनी होगी, जिसे रसेल स्वीकार नहीं करेंगे। इसके विपरीत आपत्ति यह होनी चाहिए थी कि या तो रसेल स्वयं अपने सिद्धांत को अन्ततः निभा नहीं पाते और इसलिए वे अपनी मान्यताओं में पर्याप्त **सुसंगत नहीं हैं**, अथवा वे अपनी भाषा को प्ररूप-सिद्धांत की माँगों के अनुरूप प्रयुक्त नहीं कर शिथिल रूप से प्रयुक्त करने लग जाते हैं। दोनों ही विकल्प रसेल के विचारों अथवा भाषा की शिथिलता दर्शाते हैं, न कि प्ररूप-सिद्धांत की।

द्वितीय अध्याय में एयर वर्णनों के सिद्धांत (थ्योरी ऑफ डिस्क्रिप्शंस्) की मीमांसा करते हैं। इस अध्याय का प्रथम खंड निदर्शन (डिनोटेशन) पर है। इस खंड में एयर रसेल की उस अभिधारणा का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार नाम का अर्थ उसके द्वारा निर्दशित विषय होता है। इसके अनुसार, किसी भी वस्तु को नाम देने की एक अनिवार्य शर्त यह हो जायगी कि वह वस्तु निर्दशित की जा सके। एयर बताते हैं कि अपने दर्शन के आरंभिक काल में रसेल ने इस शर्त की बहुत ही उदार व्याख्या दी। 'दि प्रिन्सिपल्स ऑफ मैथेमेटिक्स' लिखते समय रसेल ने यह माना था कि हर उल्लेखनीय विषय एक पद माना जायगा, हर पद किसी न किसी प्रतिज्ञप्ति का तार्किक उद्देश्य पद हो सकता है, और हर ऐसा विषय, जो किसी प्रतिज्ञप्ति का तार्किक उद्देश्य पद हो सके, नामोद्दिष्ट किया जा सकता है (अर्थात्, उसे नाम दिया जा सकता है)। इसका निष्कर्ष यह होगा कि न केवल देश, काल में अस्तित्व रखने वाली विशिष्ट वस्तुएँ, अपितु अमूर्त विषय और अस्तित्वहीन विषय, जैसे, 'रूस का वर्तमान ज़ार', आदि भी नामोद्दिष्ट किए जा सकते हैं और इस प्रकार उनका **निदर्शन** भी हो सकता है। रसेल केवल इतना ही नहीं मानते वरन् यह भी मानते हैं कि 'सभी मनुष्य', 'प्रत्येक मनुष्य', 'कोई मनुष्य', 'एक मनुष्य' 'कुछ मनुष्य' आदि शब्द रचनाएं भी विभिन्न विषय निर्दशित करती हैं।

परन्तु अपने इस विचार को स्वयं रसेल ने संशोधित कर लिया। उन्होंने स्वीकार किया कि वास्तविक संसार में गोल चतुर्भुज, स्वर्ण-पर्वत, वर्तमान रूसी ज़ार जैसे विषयों का अस्तित्व नहीं है। निदर्शन सम्बन्धी अपने पुराने सिद्धांत में इस संशोधन का एक कारण स्वयं रसेल ने एक विशेष प्रकार का 'अस्तित्व बोध' अथवा 'संसार-बोध' बताया है जिसका उल्लेख एयर ने ('फीलिंग फार रिआलिटी, पृ० २६) में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा डी० एफ० पियर्स (ए विविड सेंस ऑफ रिअलिटी)[५] में किया है। परन्तु मुख्य कारण इस सिद्धांत द्वारा उठी कुछ समस्याएं हैं जिनका विशद विवरण रसेल के प्रसिद्ध लेख "आन डिनोटिंग"[६] में मिलता है। मुख्य समस्या इस प्रकार है: उदाहरण के लिए हम पद-रचना " 'वेवर्ली' का रचयिता" लें। यदि यह पद-रचना निदर्शनात्मक है तो यह नाम की भाँति कार्य करेगी और रसेल की उल्लिखित मान्यता, कि नाम का अर्थ उसका निर्दशित विषय होता है, के अनुसार इसका अर्थ व्यक्ति स्कौट होगा। इसका निष्कर्ष यह होगा कि वाक्य "स्कौट 'वेवर्ली' का रचयिता था" का अर्थ केवल यह कहना है कि स्कौट था। स्पष्ट है कि जब जौर्ज चतुर्थ ने प्रश्न किया था कि स्कौट 'वेवर्ली' का रचयिता था या नही तो उन्होंने केवल यही नहीं पूछना चाहा था कि स्कौट स्कौट था अथवा नहीं। दूसरी कठिनाई वहाँ उठेगी जहाँ इसी प्रकार की वे पद-रचनाएं वाक्य में उद्देश्यपद का स्थान लेती हैं जिनका निदर्शन अस्तित्वहीन है, उदा० 'फ्रांस का वर्तमान राजा'। यदि हम मानें कि यह पद कोई विषय निर्दशित करता है तो मध्याभाव नियम के अनुसार हमें या तो "फ्रांस का वर्तमान राजा गंजा है" वाक्य या "फ्रांस का वर्तमान राजा के केश हैं" वाक्य सत्य मानना पड़ेगा। परन्तु वस्तुतः इनमें से एक भी वाक्य सत्य नहीं है। इसके अलावा, इस पद को निदर्शनात्मक मानने का एक और अस्वीकार्य परिणाम यह होगा कि, यह कहने में भी कि फ्रांस के वर्तमान राजा का अस्तित्व नहीं है, हमें उसका अस्तित्व मानना पड़ेगा।

स्वयं रसेल द्वारा स्वीकृत इन कठिनाइयों की चर्चा के बाद एयर फ्रेगे द्वारा किए गए अर्थ (सेंस) तथा निदर्शन (रेफरेंस) के भेद की रसेल द्वारा की गई आलोचना का संक्षिप्त विवरण देते हैं। रसेल के मतानुसार, फ्रेगे का यह भेद यहाँ सहायक नहीं हो सकता। फ्रेगे स्वीकार करेंगे कि वाक्य "स्कौट वेवर्ली के रचयिता थे" अन्ततः केवल यही कहता है कि स्कौट स्कौट थे। परन्तु यह महत्वहीन बात इस प्रकार से रखी गई है कि इससे एक शब्द-अर्थ सबंधी सूचना भी प्राप्त हो जाती है कि "स्कौट" तथा "वेवर्ली का रचयिता" शब्दों के निदर्शन एक ही हैं। पर इसका अर्थ यह हुआ कि विचाराधीन वाक्य द्वारा दी गई संपूर्ण सूचना में केवल इतनी ही बात सम्मिलित नहीं है कि स्कौट स्कौट थे, अपितु एक शाब्दिक अथवा भाषात्मक सूचना भी सम्मिलित है कि दो शब्दों के निदर्शन एक ही हैं। परन्तु स्पष्ट है कि विचाराधीन वाक्य अंशतः भी भाषा-विषयक नहीं है। इसके अलावा, अर्थ (सेंस) का प्रत्यय सरल नहीं है। अर्थ क्या है, वह किस प्रकार निदर्शन कर सकती है, यह सभी उलझी समस्याएं हैं।

---

५ **बर्टेण्ड रसेल एण्ड दि ब्रिटिश ट्रेडीशन इन फ़िलोसोफी**; पृ० १३।

६ बर्टेण्ड रसेल : 'आन डिनोटिंग'; **माइण्ड**; १९०५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ्रेगे के सिद्धांत में तीसरी कठिनाई यह है कि इसके आधार पर जौर्ज चतुर्थ के वास्तविक प्रश्न 'क्या स्कौट वेवर्ली के रचयिता हैं ? की व्याख्या 'क्या स्कौट स्कौट हैं ?' प्रश्न से की जायगी। परन्तु जौर्ज चतुर्थ के इसी प्रश्न को जब हम 'जौर्ज चतुर्थ जानना चाहते थे कि क्या स्कौट वेवर्ली के रचयिता थे' वाक्य द्वारा वर्णित करते हैं तो इस की एकदम भिन्न व्याख्या हो जाती है। इस व्याख्या के अनुसार जौर्ज चतुर्थ का प्रश्न था कि 'स्कौट' तथा 'वेवर्ली के रचयिता' के अर्थों का निदर्शन एक ही है कि नहीं। एयर ठीक ही बताते हैं कि वस्तुतः जौर्ज चतुर्थ के प्रश्न की ये दोनों ही व्याख्याएं सही नहीं हैं; प्रश्न केवल यह था कि स्कौट ने वेवर्ली की रचना की या नहीं।

स्वयं रसेल की युक्ति जो एयर ने पुस्तक में दी है, अत्यन्त जटिल है। उसका निष्कर्ष केवल यही है कि यदि फ्रेगे के अनुसार यह मान लिया जाय कि हर निदर्शनात्मक पद में अर्थ (सेंस) व निदर्शन (रेफरेन्स) दोनों होते हैं, और अर्थ को यदि विषय की भाँति समझा जाय, तो अर्थ व निदर्शन के संबंध की व्याख्या असंभव हो जाती है।

इस प्रकार निदर्शन संबंधी इन सभी कठिनाइयों का प्रधान कारण रसेल का यह विश्वास है कि वह सभी शब्द अथवा पद, जिन्हें वह निदर्शनात्मक पद मानते थे, बिल्कुल उसी प्रकार के हैं जैसे नाम होते हैं। इन कठिनाइयों से छुटकारा पाने के दो उपाय हो सकते थे : या तो अभी बताए गए विश्वास को छोड़ दिया जाय, या फिर नामों का कोई दूसरा सिद्धांत स्वीकार किया जाय। रसेल नामों के अपने पुराने सिद्धांत में कोई परिवर्तन नहीं करते हैं, परन्तु इस धारणा का त्याग कर देते हैं कि निश्चित अथवा अनिश्चित वर्णनात्मक पदों का कार्य एवं स्वरूप नामों की भाँति है। ऐसा नहीं है, यही दिखाने के लिए उन्होंने अपना प्रसिद्ध 'वर्णनों का सिद्धांत' प्रतिपादित किया है जिसका उल्लेख एयर इस अध्याय के द्वितीय खंड में करते हैं।

निश्चित अथवा अनिश्चित वर्णनों को रसेल 'अपूर्ण प्रतीक' (इन्कम्प्लीट सिम्बल्स) कहते हैं क्योंकि उनकी मान्यतानुसार इन पदों अथवा शब्दों का अपने वाक्य-संदर्भों से स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं होता; यह केवल उन वाक्यों के अर्थों में विशेष प्रकार से योगदान करते हैं जिनमें उनका प्रयोग होता है। अर्थों का यह योगदान कैसा है, और यह नामों से किस प्रकार भिन्न है, यह वर्णनों के सिद्धांत में समझाया गया है। इस सिद्धांत का एयर द्वारा विवरण संक्षेप में इस प्रकार है—सिद्धांत का आधारभूत प्रत्यय है, किसी प्रतिज्ञप्ति-फलन का इसमें प्रयुक्त चल-प्रतीकों के मूल्यों के लिए सत्य होना। 'सभी वस्तुओं में गुण प है' वाक्य की व्याख्या होगी कि प्रतिज्ञप्ति फलन 'प$_{य}$' 'य' के सभी मूल्यों के लिए सत्य है। 'कोई भी वस्तु प नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है' की व्याख्या होगी कि प्रतिज्ञप्ति फलन '$प_{य}$' 'य' के सभी मूल्यों के लिए असत्य है। और 'कुछ वस्तुएं प हैं' की व्याख्या होगी कि प्रतिज्ञप्ति फलन '$प_{य}$' 'य' के कुछ मूल्यों के लिए सत्य है। इस प्रकार 'कुछ व्यक्तियों ने चन्द्रयात्रा की है' वाक्य को इस प्रकार रखा जा सकता है : प्रतिज्ञप्ति फलन "य एक व्यक्ति है और य ने चन्द्रयात्रा की है" "य" के कम से कम एक मूल्य के लिए सत्य हैं। निश्चित वर्णनों (उदा० "फ्रान्स का वर्तमान राजा" आदि) का प्रयोग करने वाले वाक्यों का विश्लेषण बहुत प्रसिद्ध है ही। उसमें हमें केवल यह और जोड़ना पड़ता है कि दिए गए वर्णन (प्रतिज्ञप्ति फलन) को एक, और केवल एक, वस्तु ही संतुष्ट करती है। 'प्रिन्सिपिया मैथेमेटिका' में वाक्यों का यह रूपान्तरण अधिक सरल रूप में रखा गया है। इस रूप में रूपान्तरित वाक्य में प्रतिज्ञप्ति फलन का **उल्लेख** नहीं किया जाता और उस उल्लेख का कार्य परिमाणकों (क्वांटीफायर्स) द्वारा लिया जाता है। इस रूपान्तरण में "$प_{य}$' 'य' के सभी मूल्यों के लिए सत्य है' को इस प्रकार रखा जायगा : '(य) $प_{य}$'।

परिमाणकों का प्रयोग यह स्पष्ट कर देता है कि सिद्धान्त स्वयं कितना सरल है। इसका विश्वास है कि उन सभी वाक्यों में, जिनमें किसी वस्तु में किसी गुण की उपस्थिति बताई जाती है या कुछ वस्तुओं के मध्य कोई संबंध बताया जाता है, यह कथन परोक्ष रूप से सम्मिलित होता है कि दिये गए विवरण के अनुरूप कोई वस्तु अस्तित्ववान् है। शुद्ध अस्तित्ववाचक वाक्य, जिनमें किसी वस्तु को या तो केवल अस्तित्ववान् या केवल अस्तित्वहीन बताया जाता है, इसके अपवाद माने गए हैं। वर्णनों के सिद्धान्त के अनुसार किये गए रूपान्तरण में यह परोक्ष कथन अपरोक्ष रूप से प्रस्तुत कर दिया जाता है।

द्वितीय अध्याय के तृतीय खंड 'अस्तित्व का अर्थ' में एयर ने रसेल के अस्तित्व के प्रत्यय की फ्रेगे, मूर आदि के प्रत्ययों से तुलना की है। फ्रेगे तथा रसेल में समानता यह है कि दोनों ही मानते हैं कि किसी वस्तु को अस्तित्ववान् कहने का अर्थ है एक विशेष प्रत्यय को प्रयुक्त मानना, अथवा एक विशेष प्रतिज्ञप्ति–फलन को संतुष्ट हुआ मानना। इसका अर्थ यह होगा कि कौनसी वस्तुएं अस्तित्ववान् मानी गई हैं, इसका निर्धारण इस बात से होगा कि कौन से प्रतिज्ञप्ति फलन संतुष्ट हुए माने गए हैं।[७] एयर यहाँ पर अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि रसेल तथा फ्रेगे का यह सिद्धान्त 'अस्तित्व' की एक विशेष संदर्भ में तो ठीक व्याख्या करता है पर अन्य संदर्भों में नहीं। अर्थात्, 'अस्तित्व' शब्द का एक प्रकार का प्रयोग ऐसा

---

७ क्वाइन ने माना है कि अस्तित्व का अर्थ है किसी चल प्रतीक का मूल्य होना। इस सिद्धांत तथा रसेल के उपरोक्त सिद्धांत में भी समानता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी है जैसा रसेल तथा फ्रेगे के सिद्धांतों में प्रतिपादित हुआ है। परन्तु इसके अलावा दूसरे प्रयोग भी ऐसे हैं जिनके साथ यह सिद्धान्त न्याय नहीं करता। उदाहरण के लिए एयर दार्शनिक तत्वमीमांसा में इस शब्द के प्रयोग का उल्लेख करते हैं।

रसेल के सिद्धान्त का एक निष्कर्ष यह होगा कि कोई भी ऐसा वाक्य, जिसका उद्देश्य–पद विशिष्ट नाम (प्रापर नेम) हो, शुद्ध अस्तित्ववाचक नहीं हो सकता। अर्थात् एक विशिष्ट नाम के साथ अस्तित्व का प्रत्यय जोड़ने से बना हर वाक्य निरर्थक होगा। क्योंकि रसेल यह मानते हैं कि एक नाम तभी सार्थक है जब इससे निर्दशित कोई विषय अस्तित्ववान् हो। मूर इस निष्कर्ष से असहमत हैं। क्योंकि किसी भी वस्तुतः अस्तित्ववान् वस्तु के लिए यह सार्थकता से कहा जा सकता है कि **हो सकता था कि वह अस्तित्ववान् नहीं होती**। और इसका अर्थ है कि वाक्य 'क अस्तित्ववान् नहीं है' (जहाँ 'क' उस वस्तु का विशिष्ट नाम है) सत्य हो सकता था। परन्तु इसके लिए इस वाक्य को कम से कम सार्थक मानना आवश्यक है कि क अस्तित्ववान् है। एयर का मत है कि मूर की यह आलोचना रसेल के सिद्धान्त का खंडन नहीं करती, परन्तु उसकी सीमाएं तथा कमज़ोरी दिखाती है। रसेल 'अस्तित्व' का एक विशेष प्रत्यय विश्लेषित कर रहे हैं और उस विशेष संदर्भ में हम कह सकते हैं कि 'क अस्तित्ववान् है' पुनरुक्तिपूर्ण है और 'क अस्तित्ववान् नहीं है' व्यावहारिक रूप से (आकारिक रूप से नहीं) आत्म-व्याघातक है। एयर के अनुसार, मूर की आलोचना उनके इस मत के ही पक्ष में है कि 'अस्तित्व' के अनेक अर्थ हैं जिनमें से केवल एक का सही विवरण रसेल का सिद्धान्त दे पाया है। एयर ने अन्य प्रयोगों के कुछ उदाहरण इस स्थान पर दिए हैं। इनमें से अधिकांश उसी प्रकार के उदाहरण हैं जिनका उल्लेख मध्याभाव नियम की परिचर्चाओं में दिया जाता है।

रसेल के सिद्धान्त का एक अनिवार्य निष्कर्ष यह भी है कि साधारण विशिष्ट नाम वर्णनों की भाँति कार्य करते हैं और इसलिए वह वस्तुतः विशिष्ट नाम नहीं है। इस संबंध में रसेल का तार्किक विशिष्ट नामों का सिद्धान्त सुविदित ही है। रसेल 'यह', 'वह' आदि जैसे शब्दों को ही तार्किक रूप से विशिष्ट नाम मानते हैं।

साधारण रूप से स्वीकृत विशिष्ट नामों को वर्णनों का स्थान देने के विरुद्ध एयर ने आपत्ति यह उठाई है कि ऐसा कहना भ्रमात्मक हो सकता है। क्योंकि इसका अर्थ यह समझा जा सकता है कि उन नामों के स्थान पर दूसरे परिचित वर्णनात्मक पदों को रखा जा सकता है। रसेल ने इस प्रश्न पर गंभीरता से चिन्तन नहीं किया है। उनका मत केवल यह प्रतीत होता है कि साधारण विशिष्ट नाम उसे प्रयुक्त करने वाले के ध्यान में उस समय होने वाले विवरण का स्थानापन्न होता है। स्पष्ट है कि इसका निष्कर्ष यह होगा कि इन वर्णनों का अर्थ हर व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त वाक्य में भिन्न हो सकता है, और एक ही व्यक्ति द्वारा भिन्न समयों पर प्रयुक्त वाक्यों में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न हो सकता है। चूँकि रसेल हर वर्णनात्मक पद को अन्ततः परिचय के विषयों (ऑब्जेक्ट्स ऑफ एक्वेंटेंस) से संबंधित मानते हैं, और सभी ऐसे विषयों को या तो सामान्य (universal) अथवा वाक्य-प्रयोग करने वाले के प्रत्यक्ष मात्र मानते हैं, बहुधा इन मान्यताओं का निहितार्थ यह माना जाता है कि कोई भी दो व्यक्ति कभी भी एक ही अनुभवात्मक वाक्य अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं। परन्तु एयर इस धारणा को ग़लत मानते हैं। उनका मत है कि रसेल की मान्यताएँ केवल यह आपादित करती हैं कि कोई भी दो व्यक्ति एक ही विशिष्ट वस्तु को निश्चयात्मक रूप से निर्दशित नहीं कर सकते हैं। कुछ अनुभवात्मक वाक्यों का विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक समान ही प्रयुक्त किया जाना एयर इसलिए संभव मानते हैं क्योंकि विभिन्न व्यक्ति एक ही प्रकार के परिमाणित चल प्रतीकों (क्वांटीफाइड वेरियेबल्स) तथा एक ही समान विधेयों का प्रयोग करके समान वाक्य बना सकते हैं। एयर का यह मत पूर्णतः ठीक प्रतीत होता है।

तृतीय खण्ड अधिक विशद रूप से रसेल का नामों का सिद्धान्त परीक्षित करता है। इस खंड के बड़े भाग में डेविड पियर्स द्वारा की गई रसेल के सिद्धान्त की व्याख्या की समालोचना की गई है। किसी भी नाम के लिए यह तीन अनिवार्य विशेषताएं रसेल द्वारा मानी गई हैं: (१) शब्द किसी अस्तित्ववान् वस्तु का निदर्शन करे, (२) निर्दशित विषय से शब्द का प्रयोगकर्ता परिचित हो (अर्थात् केवल वर्णन द्वारा विषय ज्ञात न हो, अपितु परिचय द्वारा ज्ञात हो); (३) शब्द एक सरल प्रतीक हो और इसलिए उससे निर्दशित विषय भी सरल हो। यहाँ पर एयर रसेल द्वारा दी गई सरल विषय की उस परिभाषा का उल्लेख करते हैं जिसके अनुसार एक सरल विषय वह है जिसका प्रतीकीकरण सरल प्रतीकों के अलावा किसी दूसरे प्रतीक से करना असंभव हो। सरल प्रतीक वह प्रतीक माना गया है जिसके अंश स्वयं प्रतीक न हों। एयर इस परिभाषा की कमियाँ बताते हुए संकेत करते हैं कि सरल विषय की अनिवार्य विशेषता के रूप में जटिल प्रतीकों द्वारा प्रतीकीकरण असंभव मानना न केवल अनावश्यक है अपितु ग़लत भी है। केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि एक सरल विषय वह है जिसे सरल प्रतीक द्वारा प्रतीक-बद्ध किया जा सकता है।

इस प्रकार महत्वपूर्ण परिभाषा सरल प्रतीक की परिभाषा है, और रसेल की यह परिभाषा भी त्रुटिपूर्ण दिखाने में एयर सफल हुए हैं। एयर प्रस्ताव रूप में स्वयं एक परिभाषा रखते हैं और उसका परीक्षण करते हैं। एयर का सुझाव है कि रसेल का उद्देश्य तब पूर्ण हो सकता है जब वह एक सरल प्रतीक को ऐसा प्रतीक माने जिसका अन्य में अन्तर्भाव (रिडक्शन) नहीं की जा सके। इसका अर्थ है कि यह ऐसा प्रतीक है (१) जिसका कोई भी अंश इस प्रकार इसके अर्थ में योगदान न देता हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस प्रकार 'तार' शब्द 'बेतार' में योगदान देता है परन्तु 'विस्तार' में नहीं, और (२) जिस वाक्य में वह प्रयुक्त हो उसका यथासंभव विश्लेषण करने के बाद भी वह पूर्ववत् रहता हो। दूसरे शब्दों में, एक विधेय तब सरल माना जायगा जब वह स्वयं दूसरे विधेयों का संयोजन अथवा वियोजन न हो, और नाम तब सरल माना जायगा जब उसमें किसी भी प्रकार का वर्णनात्मक अंश न हो।

इस परिभाषा की मुख्य कठिनाई विधेयों के विषय में है। यदि हर प्रकार के संयोजन तथा वियोजन जटिलता के चिह्न माने जांय तो कोई भी विधेय इस परिभाषा के आधार पर सरल नहीं माना जा सकता। क्योंकि किसी भी विधेय 'प' को विधेयों 'फ' तथा 'व' का संयोजन माना जा सकता है जबकि 'फ' 'प' तथा 'व' का वियोजक माना जाय।

सरल तथा जटिल विषयों के भेद पर टिप्पणी करते हुए एयर रसेल के विरुद्ध एक और आपत्ति उठाते हैं। चूँकि रसेल यह मानते हैं कि जटिल प्रतीकों द्वारा निर्दशित सभी विषय तार्किक रूप से कल्पित हैं, रसेल को यह मानना पड़ेगा कि सभी वास्तविक विषय सरल ही होते हैं। अर्थात् रसेल जटिल विषयों का अस्तित्व ही नहीं मान सकते हैं। अतः एयर का कहना है कि रसेल के दर्शन में सरलता तथा जटिलता का भेद विषयों (वस्तुओं) पर प्रयुक्त ही नहीं हो सकता, जबकि रसेल स्वयं ऐसे भेद की चर्चा करते हैं। एयर के मतानुसार यह भेद इस दर्शन में केवल विधेयों पर ही लागू हो सकता है। एयर की यह आपत्ति बहुत उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। यह ठीक है कि यदि सभी विषय सरल ही माने गए हैं तो सरल एवं जटिल विषयों का भेद केवल सैद्धान्तिक महत्व का ही रह जाता है और विषयों की जटिलता कोई वास्तविक समस्या खड़ी नहीं करती। परन्तु जबतक जटिल विषयों का अस्तित्व तार्किक रूप से असंभव न माना जाय, यह कहना ग़लत प्रतीत होता है कि सरलता व जटिलता का भेद विषयों पर प्रयुक्त ही नहीं होता।

एयर डेविड पियर्स के इस मत का उल्लेख करते हैं कि रसेल साधारण विशिष्ट नामों के तार्किक विशिष्ट नामों के रूप में प्रयोग की संभावना स्वीकार करते हैं, चाहे हम यह जानते भी हों कि उनका प्रयोग सरल विषयों को निर्दशित करने के लिए नहीं किया जा रहा है। पियर्स के मत की पुष्टि के रूप में "लौजिकल एटोमिज़्म" पर दिए गए रसेल के भाषणों में से छटा भाषण दिया गया है जिसमें एक स्थान पर रसेल कहते हैं कि यदि "स्कौट" शब्द नाम की भाँति प्रयुक्त किया जाय तो उसका अर्थ उसी पर आश्रित होगा। संभवतः, इसका एक निहितार्थ पियर्स ने यह समझा होगा कि इस प्रकार के शब्दों को रसेल वर्णनों की भाँति 'अपूर्ण-प्रतीक' नहीं मानेंगे। परन्तु एयर का विचार है कि चूँकि ऐसा मानने पर रसेल को अपना महत्वपूर्ण सिद्धान्त, कि हम उन्हीं विषयों को नाम दे सकते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनसे हम परिचित हैं, छोड़ना पड़ेगा, जोकि बहुत असंभाव्य है, यहाँ पर हमें रसेल के वाक्यों की शाब्दिक व्याख्या नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः, इन भाषणों में रसेल बहुत सुनिश्चित व सही भाषा प्रयुक्त नहीं कर रहे हैं। नामों के रूप में साधारण विशिष्ट नामों का उदाहरण भाषा को साधारण पाठक के लिए अधिक बोधगम्य बनाने के लिए दिया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि सिद्धान्ततः रसेल इन नामों को तार्किक दृष्टिकोण से वास्तविक विशिष्ट नाम नहीं मानते।

विशिष्ट नामों के रसेल के सिद्धान्त में एक गंभीर समस्या एयर ने इंगित की है। अपनी "इन्क्वायरी इन्टु मीनिंग एण्ड ट्रुथ" में वे कहते हैं कि हम केवल गुणों का अनुभव करते हैं, उस अधिष्ठान का नहीं जिसमें उन गुणों को अवस्थित माना जाता है। इसका अर्थ यह होगा कि नामों द्वारा निर्दशित विषय हमारे प्रत्यक्ष अनुभव (एक्वेंटेंस) का विषय नहीं हो सकता। परन्तु नामों के विषय में जो सिद्धान्त रसेल अपनाते हैं, उसके अनुसार नाम का विषय प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञात होना चाहिए, और इसका निष्कर्ष यह होगा कि हमारा सम्पूर्ण विषयपरक ज्ञान वर्णनात्मक है। परिचय से केवल गुणों तथा संबंधों का ही ज्ञान हो सकता है। और इसका अर्थ यह होगा कि हमारी भाषा में नामों की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

एयर के मतानुसार, रसेल के ही सिद्धान्तों के आधार पर नामों के केवल दो विशेष कार्य शेष रहते हैं : उन द्रव्यों को निर्दशित करना जिनमें गुणों को अवस्थित माना जाता है; और हमारे वाक्य के विषय का स्थान निर्धारित करने के लिए निदर्शकों (डिमोंस्ट्रेटिव्ज) का कार्य करना। इनमें से प्रथम के लिए नामों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, क्योंकि परिमाणित चल प्रतीक भी वही कार्य करते हैं। नामों में इन प्रतीकों से अधिक कोई विशेषता नहीं होती जिसके द्वारा वे अव्यवहित सम्बन्ध स्थापित कर सकें। अतः नामों के लिए केवल विषयों की स्थिति-निर्धारण का ही कार्य शेष रह जाता है। परन्तु जैसाकि एयर बताते हैं, यह कार्य नियर्शनात्मक चिह्न (डिमोंस्ट्रेटिव साइंज) भी भलीभाँति कर सकते हैं। निदर्शनात्मक चिह्न उस स्थान को इंगित करते हैं जहाँ हमें दिए गए वर्णन की वास्तविकता अथवा पूर्णता मिल सकती है। इसके अलावा, एयर यह भी बताते हैं कि निदर्शनात्मक चिह्नों को विशिष्ट नामों के रूप में स्वीकार करना ही ग़लत है। क्योंकि निदर्शनात्मक चिह्नों का मुख्य कार्य दूसरे व्यक्तियों के निदर्शनों को समझाना है। परन्तु यदि ये चिह्न विशिष्ट नाम माने जांय तो उनके अर्थ उन्हें प्रयुक्त करने वाले व्यक्ति के प्रत्यक्ष अथवा संवेद माने जांयगे जो पूर्णतः व्यक्तिगत होने के कारण अन्य व्यक्तियों द्वारा जाने नहीं जा सकते। एयर का निष्कर्ष है कि रसेल का सिद्धान्त यह आपादित करता है कि भाषा में विशिष्ट नाम आवश्यक हैं। स्वयं रसेल ने अपने सिद्धान्त के इस परिणाम को नहीं जाना, और यह उनकी त्रुटि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी कि वे अपने नामों के सिद्धान्त को वर्णनों के सिद्धान्त के लिए आवश्यक मानते रहे।

एयर की यह आलोचना एक बडे अंश तक सही है। यह ठीक प्रतीत होता है कि रसेल के वर्णनों का सिद्धान्त उनके नामों के सिद्धान्त की अपेक्षा नहीं करता। उनका यह कहना भी उचित प्रतीत होता है कि वर्णनों के सिद्धान्त को नामों के सिद्धान्त से अलग करके अधिक उन्नत बनाया जा सकता है। परन्तु उनका यह विचार उतना सही प्रतीत नहीं होता कि रसेल के सिद्धान्त से ही यह आपादित होता है कि नामों का हमारी भाषा में कोई स्थान नहीं है। समस्या हमारे वर्तमान प्रत्यक्षों को लेकर उठेगी। निदर्शनात्मक चिह्नों के ही रूप में जिन शब्दों का प्रयोग हम अपने वर्तमान प्रत्यक्षों अथवा संवेदों को निर्दशित करने के लिए करेंगे, वे रसेल के सिद्धान्त के अनुसार विशिष्ट नाम ही होंगे। यह सत्य है कि यह स्वयं एक बड़ी जटिल समस्या है कि संवेद तथा प्रत्यक्ष पूर्णतः व्यक्तिगत हैं या नहीं और यदि वे व्यक्तिगत हैं तो उनके मात्र निदर्शन का कोई अर्थ है अथवा नहीं। विट्गेन्स्टाइन की "ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स" तथा "फ़िलोसोफ़िकल इन्वेस्टीगेशन्स" में इस समस्या की चर्चा है। परन्तु जबतक यह निश्चयात्मक रूप से सिद्ध नहीं हो जाता कि संवेदों के निदर्शन का कोई अर्थ नहीं है अथवा यह असंभव है, तबतक प्रत्यक्षों के निदर्शन-चिह्नों के रूप में विशिष्ट नामों के स्थान की संभावना रसेल के सिद्धान्त के लिए आवश्यक मानी जानी चाहिए।

परन्तु विचित्र बात यह है कि स्वयं रसेल ने अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में अपने मत को इस प्रकार रखा है कि उसमें नामों का स्थान असंभव हो जाता है। "इन्क्वायरी इन्टु मीनिंग एण्ड ट्रुथ" में रसेल कहते हैं कि संवेद्य गुणों को परस्पर संगठित रखने के लिए किसी द्रव्य की आवश्यकता नहीं है; यह कार्य 'सह-उपस्थिति' (कंप्रेसेंस) का संबंध कर सकता है। अतः नामों का विषय सरल विषय नहीं, अपितु गुणों के जटिल समूह होते हैं। इस कथन के प्रकाश में एयर ने जो कुछ कहा है वह पूर्ण सत्य प्रतीत होता है। क्योंकि यदि नामों के निदर्शन गुणों के जटिल समूह माने जांय तो नामों का गुणार्थ (कोनोटेशन) मानना पड़ेगा, और उस दशा में उनमें और वर्णनों में कोई विशिष्ट भेद नहीं रहेगा। इस बात के लिए इससे भी अधिक बलशाली युक्ति यह है कि उल्लिखित पुस्तक में ही रसेल "यह" शब्द को आधारभूत विशिष्ट नाम मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सभी प्रयोगों में इस शब्द का एक अपरिवर्तित अर्थ रहता है। इसका भी अर्थ होगा कि सभी विशिष्ट नामों में कुछ न कुछ गुणार्थ रहता है, और इस प्रकार नामों तथा वर्णनों का विशिष्ट भेद भी समाप्त हो जाता है।

इस अध्याय के अंतिम खण्ड में एयर वर्णनों के सिद्धान्त का संक्षिप्त मूल्यांकन करते हैं। अधिकांश बातें वही हैं जो पिछले खण्डों में कही जा चुकी हैं। इसमें एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवीन युक्ति रसेल की इस मुख्य अभिधारणा के विरुद्ध दी है, कि नाम का अर्थ उससे निर्दशित विषय है । युक्ति की मुख्य आपत्ति यह है कि नामों के विषय में इस सिद्धान्त को मानने से हम यह नहीं मान सकते कि उनका कोई भी निश्चित तथा अपरिवर्तित अर्थ होता है । जैसाकि हम अभी देख चुके हैं, रसेल स्वयं इस विषय पर सुसंगत नहीं रहे हैं; उन्होंने तार्किक विशिष्ट नामों के अपरिवर्तित अर्थ माने हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि नामों के लिए उनके निर्दशित विषयों का अस्तित्ववान् होना (दूसरे शब्दों में, उनका निदर्शन सफल होना) अनिवार्य नहीं है ।

इस खण्ड में एयर यह प्रश्न भी उठाते हैं कि रसेल का वर्णनों का सिद्धान्त हमारी भाषा के **साधारण प्रयोग** का विश्लेषण करता है अथवा वस्तुओं के विषय में हमारी बातचीत की एक भिन्न विधा प्रस्तुत करता है । मूर[८] तथा रैम्जे[९] आदि का मत है कि रसेल का सिद्धान्त हमारी साधारण भाषा का विश्लेषण करता है, जब कि एयर का मत इसके विपरीत है । एयर की युक्ति है कि यदि हम रसेल के सिद्धान्तानुसार अपने वाक्यों को पूर्ण विश्लेषित करें तो वह हमें इतने नवीन तथा विचित्र प्रतीत होंगे कि उन्हें हम अपने वाक्यों के साधारण अर्थ के रूप में स्वीकार नहीं कर पाएँगे । इसके अलावा एयर स्ट्रोसन द्वारा लिखे गए उनके प्रसिद्ध लेख "आन रिफ़रिंग"[१०] का भी उल्लेख करते हैं जिसमें अनेक स्थानों पर स्ट्रोसन ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि रसेल का सिद्धान्त हमारे साधारण भाषा-प्रयोग के साथ न्याय नहीं करता ।

एयर की एक और युक्ति यह है कि, चूँकि रसेल के सिद्धान्तानुसार हमारे वर्णनात्मक वाक्यों का एक अंश अस्तित्ववाचक वाक्य भी माना जाता है, वे वाक्य जो निदर्शन में असफल होते हैं, सदैव असत्य मानने पड़ेंगे । परन्तु साधारण प्रयोग में हम ऐसे वाक्यों को असत्य नहीं कहते, अपितु उनके विषय में सत्यता, असत्यता की प्रश्न अनुपयुक्त मानते हैं । दूसरे शब्दों में, रसेल के सिद्धान्त में वाक्य की असत्यता तथा उसके निदर्शन की असफलता में कोई भेद नहीं माना जाता, जबकि साधारण प्रयोग में यह भेद माना जाता है । परन्तु एयर यह भी कहते हैं कि यदि रसेल के सिद्धान्त को भाषा की एक नई व अधिक परिष्कृत विधा माना जाय, तो निदर्शन की असफलता तथा वाक्य की असत्यता के भेद की उपेक्षा सिद्धान्त का एक गुण माना जा सकता है । क्योंकि इस प्रकार हम मध्याभाव नियम के कम से कम एक प्रकार के विवादास्पद उदाहरणों का निराकरण कर सकते हैं ।

---

८ **दि फ़िलोसोफी ऑफ बर्ट्रेण्ड रसेल,** १९४६; पृ० ४१–५० ।

एफ० पी० रैम्जे : **दि फाउण्डेशन्स ऑफ मैथेमेटिक्स,** १९३१ ।

१० **माइण्ड;** १९५० ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एयर के मतानुसार रसेल के सिद्धान्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह वाक्य के वर्णनात्मक तथा निदर्शनात्मक रूपों को पूरी तरह अलग कर देता है, और वर्णनात्मक रूप को अधिक प्रधानता देता है।

तृतीय अध्याय में एयर रसेल के तार्किक परमाणुवाद के कुछ सिद्धान्तों की मीमांसा करते हैं। प्रथम खंड में पुनः सरलता के मापदंड पर विचार किया गया है। बहुत थोड़े शब्दों में एयर तार्किक परमाणुवाद की तत्वमीमांसा का विवरण देते हैं। तार्किक परमाणुवाद के निदर्शन-विस्तारपरक सिद्धान्त (एक्स्टेंशनलिज़्म) तथा बाह्य संबंधों के सिद्धान्त का भी अति संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। एयर द्वितीय अध्याय में विवेचित सरलता की परिभाषा का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं कि चूँकि अन्तर्भाव केवल विधेयों का ही किया जा सकता है, और चूँकि यह केवल विधेयों के लिए ही कहा जा सकता है कि वे केवल तभी सरल हैं जब इनका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, किसी विषय की सरलता का मापदंड यही है कि उसके गुण सरल हों।

इस परिभाषा से संबद्ध उस कठिनाई का भी स्मरण एयर कराते हैं जो उन्होंने पिछले अध्याय में बताई थी। इस कठिनाई का एकमात्र हल जो एयर ने प्रस्तावित किया है वह है प्राथमिक माने जाने वाले गुणों की मात्र सूची प्रदान करना। इसी खंड में एयर अपना यह मत दोहराते हैं कि सरल गुणों का आधार संवेद अथवा प्रत्यक्ष मानने से यह सिद्ध नहीं होता कि कोई भी दो व्यक्ति एक ही भावात्मक प्रतिज्ञप्ति अभिव्यक्त नहीं कर सकते। एयर के विचार से, सरल गुणों का संवेदों में आरोपण संप्रेषण (कम्यूनिकेशन) की कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं करता। और यदि अनुभवजन्य विशिष्ट विषयों को गुणों का समूह ही माना जाय (जैसाकि रसेल ने अपने उत्तरवर्ती दर्शन में माना) तो हमें निरपेक्ष, नकि व्यक्तिगत, प्रदत्तों का अस्तित्व मानना होगा।

तृतीय अध्याय के दूसरे खंड में संवेद (सेंस डैटा) तथा संवेद्यों (सेंसीबिलिआ) के भेद तथा इससे संबद्ध दूसरी विचारधाराओं पर विचार किया गया है। संवेद व्यक्ति द्वारा अनुभूत होते हैं, जबकि संवेद्य का अनुमान होना आवश्यक नहीं है। रसेल के अनुसार, संवेद्यों का तात्विक तथा भौतिक अस्तित्व संवेदों जैसा ही होता है, परन्तु जबकि संवेद किसी व्यक्ति के द्वारा अनुभूत होते हैं, संवेद्य का किसी भी व्यक्ति द्वारा अनुभूत होना आवश्यक नहीं है। संवेद्यों का अस्तित्व मानकर तथा उन्हें हमारे कथनों के वास्तविक विषय मान कर रसेल ने अपने इस नियम को थोड़ा शिथिल कर दिया है कि सरल विषय वही हो सकते हैं जिनसे व्यक्ति परिचित है। संवेद्यों का अस्तित्व अनुमान से ही जाना जा सकता है, और एयर आलंकारिक भाषा में बताते हैं कि इस प्रकार का अनुमान एक से प्रकार क्षैतिज है, लंबवत्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

20.02
म २८
(२५६२)

नहीं। क्योंकि इसमें उसी प्रकार का अस्तित्व अनुमानित किया जाता है जिस प्रकार का अस्तित्व इस अनुमान का आधार होता है। परन्तु जब हम अन्य व्यक्तियों द्वारा अनुभूत संवेदों की बात करते हैं तो **अन्य व्यक्तियों** का अस्तित्व मान लेते हैं अथवा उन्हें भी अनुमानित कर लेते हैं, और यह अनुमान इस अर्थ में लंबवत् प्रकार का है कि इसमें अनुमानित अस्तित्व अनुमान के आधार में माने गए अस्तित्व से भिन्न प्रकार का होता है। परन्तु यदि प्रत्ययों का अन्तर्भाव पूरी तरह से किया जाय तो अन्त में सभी अनुमान क्षैतिज ही होंगे। फिर भी, जैसाकि एयर बताते हैं, उन क्षितिज रेखीय अस्तित्वों को, जिनका अस्तित्व पहले से ज्ञात है, स्वीकारने और उच्च-स्तरीय अस्तित्वों के लिए अनिवार्य संबंधों को स्वीकारने में भेद रहेगा ही। एयर का सुझाव है कि अन्तर्भाव का कार्यक्रम पूर्ण करने के लिए हमें उच्चस्तरीय विषयों को उनकी संरचना करने से पूर्व ही नहीं मान लेना चाहिए। एयर की आपत्ति है कि रसेल यही भूल अपने दर्शन में करते हैं।

रसेल ने संवेदों को भौतिक माना है[११] क्योंकि वह उन्हें हमारी मान-सिक क्रियाओं के विषय मानते हैं घटक तत्त्व नहीं मानते। इसलिए वे संवेदों की सार्व-जनिकता तथा स्थायित्व को संभव मानते हैं। इस संभावना को मानते हुए भी संवेदों को व्यक्तिगत तथा क्षणिक मानने का कारण रसेल का यह विश्वास है कि संवेद प्रत्यक्षकर्त्ता की शारीरिक स्थिति पर निर्भर करते हैं। चूंकि संवेद्य इस प्रकार प्रत्यक्ष-कर्त्ता पर निर्भर नहीं करते, रसेल उन्हें क्षणिक व व्यक्तिगत नहीं मानते। एयर की आपत्ति है कि संवेदों को प्रत्यक्षकर्त्ता की शारीरिक स्थिति पर कारणता संबंध के माध्यम से निर्भर मानकर तथा अन्यत्र भी उन पर भौतिक वस्तुओं के संबंधों द्वारा परिभाषित गुण आरोपित करके रसेल उन भौतिक वस्तुओं को पहले से ही मान लेते हैं जिनकी व्याख्या अथवा रचना संवेदों के माध्यम से की जाती है।

वस्तुत: स्वयं संवेदों अथवा संवेद्यों की व्याख्या तथा वर्णन में भौतिक वस्तुओं के उल्लेख का बहिष्कार कैसे हो, यह संवेदवादी अन्तर्भाववाद की एक जटिल समस्या है, जिससे आधुनिक दर्शन के सभी पाठक परिचित होंगे। भौतिक वस्तुओं द्वारा संवेदों का वर्णन तथा संवेदों द्वारा भौतिक वस्तुओं की पुनारचना का प्रयत्न चक्राकार परिभाषा के दोष से दूषित है। इसी प्रकार की कठिनाई रसेल की देश की व्याख्या में है, जिसका उल्लेख एयर ने इसी खंड में किया है। एयर विस्तार से बताते हैं कि रसेल किस प्रकार 'व्यक्तिगत देशों' के प्रत्यय से परिप्रेक्ष्य का प्रत्यय समझाते हैं और परिप्रेक्ष्यों के आधार पर एक सार्वजनिक देश की पुनारचना करने का प्रयत्न करते हैं। इसके पश्चात् वे

११ सेन्स डेटा एण्ड फ़िज़िक्स (**मिस्टिसिज़्म एण्ड लौजिक में**); १९१८।

113445

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह दिखाते हैं कि रसेल के इस सिद्धान्त में एक प्रकार की चक्रिकता है। समस्या यह है कि परिप्रेक्ष्यों, जिनके आधार पर देश की पुनारचना की जानी है, का चयन व अभिज्ञान (आइडेंटीफिकेशन) किस प्रकार हो। हर विकल्प में हमें स्वयं परिप्रेक्ष्यों से परे उच्चस्तरीय वस्तुओं को उनकी पुनारचना से पूर्व ही मान लेना पड़ता है। काल के संबंध में चक्रिकता अधिक स्पष्ट है। यह कहना कि विभिन्न जीवनियों की प्रतीतियाँ (अपीरेंसिस) तब समकालीन हैं जब वे किसी क्षणिक वस्तु की होते हैं, यह कहने के समान है कि वे तब समकालिक हैं जब वे एक ही वस्तु की किसी एक ही क्षणिक अवस्था की हों, और यह कहना यह कहने के समान है कि वे तब समकालिक हैं जब वे एक ही क्षण घटित होती हों।

एयर ने इन कठिनाइयों का जो समाधान प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त जटिल व विस्तृत है। संक्षेप में, यह समाधान ज्ञानात्मक तथा तात्विक प्राथमिकताओं पर निर्भर करता है। पूर्वोक्त विवेचन में वर्णित पुनारचनाएं ज्ञानात्मक प्राथमिकताओं को ध्यान में रखते हुए की गई हैं। एयर के मतानुसार, एक बार संवेदों के आधार पर इस प्रकार अपने भौतिक सिद्धान्त का निर्माण करने के बाद हम अपने व्यवस्था के प्राथमिक विषय-समूह की पुनर्व्याख्या कर सकते हैं, और इस व्याख्या में (जो ज्ञानात्मक प्राथमिकता के आधार पर व्यवस्था-निर्माण करने के बाद की जायगी) हम उस भौतिक सिद्धान्त का प्रयोग कर सकते हैं। एयर विस्तार से बताते हैं कि किस प्रकार संवेदों अथवा प्रत्यक्षों को मानक रूप प्रदान करके संवेद्यों की स्थापना की जायगी, और किस प्रकार इन संवेद्यों को वांछित रूप देने के लिए एक विषयपरक (सार्वजनिक) देश-काल में विषयगत एवं निरपेक्ष स्थिति प्रदान की जायगी। इस प्रकार स्थापित विषयगत संवेद्यों की व्यवस्था को एयर रसेल द्वारा स्वीकृत प्राथमिक व्यवस्था का समकक्षी मानते हैं। एयर के मतानुसार, प्राथमिक व्यवस्था में संवेद तथा प्रत्यक्ष विशेष प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं के **विषय** नहीं, अपितु उनके घटक तत्व माने जाएंगे। ये मानसिक प्रक्रियाएं उन्हीं भौतिक विषयों पर आरोपित की जाएंगी जिन्हें हम चेतन स्वीकार करते हैं। चूँकि इन मानसिक प्रक्रियाओं के भागीदार विभिन्न भौतिक विषय नहीं होंगे, एक अर्थ में यह कहा जा सकेगा कि ये क्रियाएं व्यक्तिगत हैं। परन्तु ऐसा तभी कहा जायगा जब हम प्राथमिक व्यवस्था से बाहर, उच्चतर स्तर पर बात करें, जहाँ संवेदों के अस्तित्व का उनके भौतिक विषयों से संबंधों के विषय में कुछ न कुछ निहितार्थ माना जायगा। अन्यथा जबतक हम प्राथमिक स्तर पर ही हैं, मानसिक प्रक्रियाओं अथवा संवेदों के व्यक्तिगत अथवा विषयगत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह व्याख्या रसेल के तटस्थ अद्वैतवाद न्यूट्रल मोनिज़्म को भी प्रतिबिम्बित करती है।

अध्याय के तृतीय खंड में उपरोक्त व्यवस्था को और अधिक विस्तृत करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए एयर स्पष्ट करते हैं कि इसके विषय साधारणतः स्वीकृत भौतिक विषयों के ही समान हैं क्योंकि इनमें आकार, रंग, आदि जैसे गुण आरोपित किए जाते हैं तथा इनकी विषयगत दैशिक-कालिक अवस्थिति मानी जाती है। परन्तु ये विषय भौतिक विषयों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनमें साधारणतः स्वीकृत कारणात्मक एवं अभिवृत्यात्मक (डिस्पोज़ीशनल) गुणों का आरोपण नहीं किया जाता। जिन गुणों को प्राथमिक विषयों में आरोपित किया जाता है वे पूर्णतः संवेदात्मक अथवा गोचर हैं; उनका आरोपण कुछ विशिष्ट गुणों की उपस्थिति के अलावा और कुछ भी आपादित नहीं करता।

प्राथमिक विषयों के गुणों का विशिष्ट होना विषयों की सरलता के लिए अनिवार्य माना गया है। चूँकि इन विषयों के गुण तथा इनके पारस्परिक संबंध सरल माने गए हैं, यह मानना होगा कि जिन प्रतिज्ञप्तियों में इन विषयों की चर्चा हुई है वे परमाणविक हों। एयर के मतानुसार परमाणविक प्रतिज्ञप्ति की पारिभाषिक विशेषता उसमें तार्किक चल प्रतीकों का अभाव नहीं है अपितु उसमें तार्किक रूप से स्वतंत्र तथ्यों का सूत्रबद्ध होना है। यदि गुणों को एकसंयुज (monadic) संबंध माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि इस परमाणविक तथ्य से. कि य विषयों में एक संबंध है, यह आपादित नहीं होता कि य + । व विषय का अस्तित्व है।

इस स्थान पर एक गंभीर समस्या का संकेत किया गया है। यह समस्या है चर्चित विषयों के अभिज्ञान (आइडेंटिफिक्ये) की समस्या। निदर्शनात्मक अभिज्ञान केवल कुछ ही विषयों का हो सकता है। अतः हमें अभिज्ञान की किसी दूसरी विधि का सहारा लेना होगा। और यह दूसरी विधि वर्णन द्वारा ही प्राप्त होगी। इन वर्णनों में संबंधात्मक वर्णन यहाँ स्वीकृत नहीं होंगे, क्योंकि यह वाक्य की परमाणविकता के लिए घातक होगा। इस प्रकार हमारे पास केवल गुणों के माध्यम से अभिज्ञान की विधि शेष रहती है। परन्तु यह विधि वांछित कार्य पूर्ण नहीं कर सकती क्योंकि हमारे पास इसका न कोई तार्किक आधार है और न आनुभविक आधार कि कोई भी दो वस्तुओं का भेद सदैव उनके अन्तर्निहित गुणों के आधार पर हो सकेगा। इस प्रकार वस्तुओं के अभिज्ञान की समस्या रसेल के दर्शन में उलझी हुई ही रहती है।

अंतिम खंड में सामान्यों तथा विशिष्टों (यूनीवर्सलज़ एंड पर्टिकुलज़्) के भेद पर विचार किया गया है। एयर बर्कले तथा ह्यूम के नाममात्रवाद (नोमिनलिज़्म) की रसेल द्वारा की गई आलोचना का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं प्रतीत होता कि किसी भी उपयोगी वार्तालाप में सामान्य-सूचक शब्दों का उपयोग अनिवार्य है। परन्तु, एयर के विचार से, जब रसेल यह कहते हैं कि सामान्य गुणों को विशिष्टों के मध्य 'पूर्ण समानता' (एग्ज़ेक्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिज़ेम्बलेंस) के संबंध से परिभाषित किया जा सकता है तो वे नाममात्रवादियों के पक्ष में आवश्यकता से अधिक स्वीकृति दे देते हैं। एयर तर्क करते हैं कि सामान्य गुणों की परिभाषा पूर्ण समानता के संबंध से नहीं दी जा सकती। संक्षिप्त युक्ति यह है कि किसी वस्तु अ को लाल मानने से यह आपादित नहीं होता कि एक दूसरी वस्तु ब अस्तित्ववान् है। अतः अ को लाल कहने का अर्थ यह नहीं हो सकता कि अ का रंग ब के रंग के पूर्ण समान है।

इसी खंड में सामान्य के प्रत्यय का अंशतः स्पष्टीकरण किया गया है। इस संदर्भ में एयर क्वाइन आदि द्वारा उठाई गई समस्याओं की चर्चा करते हुए स्पष्ट करते हैं कि सामान्य का प्रत्यय स्वयं स्पष्ट नहीं है और जब विभिन्न दार्शनिक सामान्यों के अस्तित्व का प्रश्न उठाते हैं तो उनके विभिन्न प्रत्ययों के कारण उनके प्रश्न भी भिन्न होते हैं।

विशिष्टों के अस्तित्व के विषय में रसेल के विचार परिवर्तित होते रहे हैं। अपने दार्शनिक विचार के एक काल में रसेल विशिष्टों के अस्तित्वों को भी अनिवार्य मानते रहे हैं। यह काल रसेल के द्वैतवाद का काल है। रसेल की मुख्य युक्ति के पीछे अव्यावृत्त-तादात्म्य सिद्धान्त (आइडेंटिटि आफ इंडिस्सर्नीबल्ज़) की अस्वीकृति है। स्वयं एयर इस सिद्धान्त की स्थिति के विषय में निश्चित मत नहीं रखते; न इसकी सत्यता और न असत्यता उन्हें निश्चित प्रतीत होती है।

अपने दर्शन के उत्तरवर्ती काल में रसेल विशिष्टों की अपरिहार्यता के लिए अपनी युक्ति का स्वयं खंडन कर देते हैं। "इन्क्वायरी इन्टु मीनिंग एण्ड ट्रुथ" में रसेल विशिष्टों की परिहार्यता के लिए तर्क देते हैं। यहाँ रसेल ने विशिष्टों के स्थान पर सह-उपस्थित (कम्प्रेज़ेंट) गुण-समूह को माना है। चूँकि यह कल्पनीय है कि एक ही गुण-समूह विभिन्न स्थानों पर एक ही समय घटित हो अतः यह सिद्धान्त कि "कोई वस्तु एक ही समय दो स्थानों पर नहीं हो सकती" आपातिक माना जायगा।

इस खंड के शेष भाग में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि विशिष्टों की व्याख्या सह उपस्थित गुण-समूहों से करना संतोषजनक नहीं है क्योंकि वैभिन्य अथवा व्यष्टीकरण (इंडीविडुएशन) की समस्या पुनः खड़ी हो जाती है। यों, एयर इस मत के पक्ष में हैं कि हमारे आनुभविक विचार-विनिमय के लिए विशिष्टों की आवश्यकता नहीं है। इस मत के पक्ष में उन्होंने स्वयं दो-तीन वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत किए हैं।

चतुर्थ अध्याय रसेल के तार्किक परमाणुवाद की ज्ञानमीमांसा पर है। इसमें रसेल के परिचितता तथा प्रतिज्ञप्ति संबंधी सिद्धान्तों की विवेचना है। प्रथम खंड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"प्रतिज्ञप्तियाँ तथा तथ्य" में रसेल के प्रतिज्ञप्ति के प्रत्यय में आने वाले सभी परिवर्तनों तथा उसके विकास का आलोचनात्मक लेखा है। जैसाकि स्वयं रसेल ने अपनी पुस्तक "माइ फिलोसोफिकल डिवलपमेंट" में व्यक्त किया है, उनके दीर्घ चिन्तन-काल में उनकी दार्शनिक विचारधारा परिवर्तित होती रही है। इस असाधारण रूप से गतिमान दर्शन का मुख्य कारण रसेल का आलोचनात्मक तथा अनवरत परीक्षणात्मक दृष्टिकोण है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि रसेल की दार्शनिक विचारधारा में उनके प्रतिज्ञप्ति-संबंधी सिद्धान्त सर्वाधिक परिवर्तन के विषय रहे हैं। जब रसेल के दर्शन पर प्लेटोवादी वास्तवतावाद का विशेष प्रभाव था, रसेल ने प्रतिज्ञप्तियों को वाक्यों के अर्थ मानने के साथ-साथ उनके घटक तत्त्वों में मूर्त्त विषयों को भी माना। इसका कारण यह है कि वे नाम का अर्थ उससे निर्दशित विषय को मानते थे। इस काल में रसेल ने यह भी माना कि असत्य प्रतिज्ञप्तियां उसी प्रकार वास्तव हैं जिस प्रकार सत्य प्रतिज्ञप्तियाँ हैं। सत्यता व असत्यता को उन्होंने उसी प्रकार प्रतिज्ञप्तियों के कुछ विशिष्ट गुण माना जिस प्रकार लालपन व हरापन वस्तुओं के दो विशिष्ट गुण हैं।[१२] परन्तु यदि सत्य और असत्य दोनों ही प्रकार की प्रतिज्ञप्तियां एक-समान यथार्थ हैं तो सत्य प्रतिज्ञप्तियों को दी जाने वाली वरीयता निराधार हो जाती है। रसेल का नैतिक सिद्धान्त कि, सत्य प्रतिज्ञप्तियों में विश्वास करना अच्छा है और असत्य प्रतिज्ञप्तियों में विश्वास करना बुरा, निराधार एवं निरंकुश भी प्रतीत होता है।

अपने मत की इन कठिनाइयों को रसेल स्वयं अनुभव करते हैं। परिणामतः प्रतिज्ञप्तियों का यह वास्तवतावादी प्रत्यय रसेल की उत्तरवर्ती रचनाओं में नहीं मिलता। चूंकि रसेल अपने नामों के सिद्धान्त को पूर्ववत् मानते रहते हैं, वे अभी भी प्रतिज्ञप्तियों के घटकों के रूप में वास्तविक वस्तुओं को स्वीकार करते हैं, परन्तु उन घटकों का संगठन वास्तविक तथ्य के संगठन से भिन्न हो सकता है। इस प्रकार अपने इस चिन्तन-काल में रसेल ने प्रतिज्ञप्ति तथा तथ्य का भेद सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है। तथ्य प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता-असत्यता के आधार हैं, जबकि प्रतिज्ञप्तियाँ स्वयं अपनी सत्यता-असत्यता की आधार नहीं हैं। परन्तु समस्या है कि सत्य प्रतिज्ञप्तियों के घटक तो मूर्त्त अथवा वास्तविक विषय होंगे ही, साथ ही, उनका संगठन भी वैसा ही होगा जैसाकि तथ्य का है। इस स्थिति में, प्रतिज्ञप्ति तथा तथ्य का भेद पुनः समाप्त हो जाता है। एयर का विचार उचित प्रतीत होता है कि उस समय के रसेल के दर्शन में यह भेद संभव नहीं है।

---

१२ प्रतिज्ञप्ति तथा सत्यता सम्बन्धी इस प्रकार के मत की आलोचना एच० एच० जोकिम ने अपनी पुस्तक **"दि नेचर ऑफ ट्रुथ"** (१९३९; पृ० ३१–६३) में की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एयर रसेल के इस सिद्धान्त की भी चर्चा करते हैं कि तथ्यों को नाम नहीं दिया जा सकता। इसी संदर्भ में वे 'निषेधात्मक तथ्यों' संबंधी रसेल के विचार की समीक्षा करते हैं। 'रसेल निषेधात्मक तथ्यों' की वास्तविकता स्वीकार करते है क्योंकि उनके विचार से इस स्वीकृति के अभाव में किसी परमाणविक वाक्य की असत्यता नहीं समझाई जा सकती। एयर ने एक विकल्प की चर्चा की है जिसके अनुसार एक परमाणविक वाक्य प की असत्यता की आधार दूसरे परमाणविक वाक्य फ की सत्यता मानी जा सकती है, यदि प तथा फ परस्पर विरोधी हों। रसेल ने जो युक्ति इस विकल्प के विरुद्ध दी है उसका एयर द्वारा किया गया खंडन पूर्णत: सही प्रतीत होता है। पर आश्चर्य है कि उससे भी अधिक स्पष्ट तथा प्राथमिक आपत्ति एयर तथा रसेल दोनों ही नहीं उठाते। निषेधात्मक तथ्यों की चर्चा रसेल के तर्कीय परमाणुवाद के संदर्भ में ही हो रही है। अत: हमें यह देखना है कि संभव समाधान इस सिद्धान्त में कहां तक समन्वित हो सकते हैं। दिया गया समाधान दो परमाणविक वाक्यों के मध्य विरोध स्वीकार करता है, जोकि तर्कीय परमाणुवाद के प्रधान सिद्धान्तों के विरुद्ध है।

अपनी उत्तरवर्ती रचनाओं में रसेल ने निषेधात्मक तथ्यों के विषय में भी अपनी सम्मति परिवर्तित कर ली। इन रचनाओं में वह अपनी तत्वमीमांसा से निषेधात्मक तथ्यों के बहिष्कार के लिये यह युक्ति देते हैं कि निषेधात्मक वाक्यों को उनके अनुरूप विधानात्मक वाक्यों में अविश्वास अभिव्यक्त करने वाले वाक्यों के रूप में समझा जा सकता है। चूंकि रसेल अविश्वास तथा विश्वास दोनों को एक-समान भावात्मक अवस्थाएं मानते हैं,निषेधात्मक वाक्यों को भावात्मक अवस्थाओं तथा घटनाओं का वर्णन माना जा सकता है। एयर की आपत्ति, जोकि उचित प्रतीत होती है, यह है कि यह 'समाधान' समस्या के मूल तक नहीं पहुँचता। तथाकथित विधानात्मक तथा निषेधात्मक वाक्यों का भेद इस प्रकार की व्याख्या के आधार पर सापेक्ष भी हो जायगा। क्योंकि "यह लाल है" जैसे विधानात्मक वाक्य को भी "यह लाल नहीं है" में अविश्वास वर्णित करने वाला माना जा सकता है, ऐसी स्थिति में निषेधात्मक तथ्यों की समस्या पूर्ववत् बनी रहती है।

वस्तुत: एयर निषेधात्मक तथ्यों की समस्या के पीछे निहित इस युक्ति को त्रुटिपूर्ण मानते हैं कि ऐसे तथ्यों को माने बिना निषेधात्मक वाक्यों की सत्यता का कोई आधार संभव प्रतीत नहीं होता। रसेल का सरल समाधान यह है कि जिस प्रकार यह मानने में हमें कोई समस्या प्रतीत नहीं होती कि एक वियोजक वाक्य की सत्यता का आधार एक सरल वाक्य होता है जो उस वियोजक वाक्य को आपादित करता है, उसी प्रकार यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि एक निषेधात्मक वाक्य अपनी सत्यता के लिए एक ऐसे विधानात्मक वाक्य पर निर्भर करता है जो उसे आपादित करता है पर स्वयं उससे आपादित नहीं होता। इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार का समाधान एयर ने अन्यत्र भी दिया है,[१३] जहां वे कहते हैं कि एक निषेधात्मक वाक्य की सत्यता हम उसी प्रकार अपनी इन्द्रियों से निर्णीत करते हैं जिस प्रकार विधानात्मक वाक्यों की सत्यता निर्णीत की जाती है। यह मत स्वयं में साधारण विश्वासों के अनुरूप तो है ही, दार्शनिक दृष्टिकोण से भी यह अधिक निर्दोष प्रतीत होता है। परन्तु यहां फिर एयर यह भूल जाते हैं कि रसेल के तार्किक परमाणु-वाद के अन्दर ऐसे सभी समाधान अधिक कठिनाइयां उत्पन्न करेंगे। क्योंकि यह समाधान तथाकथित सरल अथवा परमाणविक वाक्यों के मध्य विरोध की संभावना को या तो अभिधारणा के रूप में या परीक्ष्य निष्कर्ष के रूप में मान लेता है, जबकि ऐसा विरोध इस दर्शन में स्वीकार्य नहीं हो सकता।

इस अध्याय के द्वितीय खंड में विस्तारसिद्धांत (एक्स्टेंशनलिज्म) पर विचार किया गया है। इस खंड का एक बड़ा भाग इस सिद्धान्त के विवरण के लिए दिया गया है, जिससे दर्शनशास्त्र के अधिकांश विद्यार्थी परिचित होंगे। संक्षेप में, एक प्रतिज्ञप्ति-समूह अथवा तंत्र तब विस्तारात्मक (एक्स्टेंशनल) कहा जाता है, जब इसके किसी भी वाक्य में एक नाम-सूचक पद का इसी प्रकार के दूसरे पद से, जिसका निदर्शन प्रथम पद वाला ही हो, अथवा एक विधेयात्मक पद का दूसरे ऐसे विधेयात्मक पद से, जिसे प्रथम पद को संतुष्ट करने वाले विषय ही संतुष्ट करते हों, अथवा एक वाक्य को उसी के समान सत्यता मूल्य वाले वाक्य से, स्थानान्तरण करने से मौलिक वाक्य का सत्यता-मूल्य परिवर्तित न हो। कम से कम ऊपरी दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वास-सूचक प्रतिज्ञप्याँ, प्रतिज्ञप्त्यात्मक अभिरुचि सूचक प्रतिज्ञप्तियां तथा अभिवृत्यात्मक (डिपोजीश्नल) प्रत्यय प्रयुक्त करने वाली प्रतिज्ञप्तियां विस्तारात्मक भाषा में सूत्रबद्ध नहीं हो सकतीं। इन सभी प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों की विस्तारात्मक व्याख्या-संबंधी समस्या बहुचर्चित है। इस संबंध में एयर एक मौलिक प्रस्ताव देते हैं। इस प्रस्ताव के अनुसार, इन विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों द्वारा विस्तारात्मक भाषा के लिए प्रस्तुत कठिनाइयों को पृथक् पृथक् सुलझाने का प्रयत्न करने से अधिक उपयोगी प्रयत्न इन सभी समस्याओं को एक-दूसरे से संबंधित करके एक समस्या का रूप देना और तब उस पर ध्यान एकाग्रित करना होगा। एयर के विचार से, निश्चयमात्रिक(मोडल) तथा अभिवृत्यात्मक (डिस्पोजीश्नल) प्रत्ययों द्वारा प्रस्तुत समस्याओं को अन्त में प्रतितथ्यात्मक सोपाधिक वाक्यों की व्याख्या की समस्या के रूप में रखा जा सकता है, और इस समस्या को मानसिक अभिरुचियों द्वारा प्रस्तुत समस्या का एक रूप माना जा सकता है। विचाराधीन खंड में एयर ने इस योजना की एक स्पष्ट रूपरेखा दी है। परन्तु एक प्रकार की समस्या को दूसरे प्रकार की समस्या के रूप में परिवर्तित करते समय एयर कुछ दूसरी अत्यन्त विवादास्पद बातें

१३ **फिलोसोफ़िकल ऐसेज़**; (अध्याय : निगेशन) पृ० ५४–५६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान लेते हैं, जिसके कारण पूर्ण स्थिति सुलझने के स्थान पर और भी अधिक जटिल हो जाती है। उदहारणार्थ, एयर का मत है कि निश्चयमात्रिक (मोडल) प्रत्ययों को सोपाधिक वाक्यों से 'नियम' के प्रत्यय द्वारा सम्बन्धित किया जा सकता है। एयर के शब्दों में, "किसी भी विषय को हम संभव तब कहते हैं जब हम ऐसे किसी नियम को नहीं जानते जिसके वह विरुद्ध होगा" (पृ० ९४)। इस व्याख्या के पक्ष में एयर की युक्ति है कि इसके द्वारा तार्किक एवं भौतिक दोनों ही संभावनाएं एक ही सामान्य प्रत्यय के अन्तर्गत आ जाती हैं। "तार्किक रूप से वह संभव है जो तार्किक नियमों से, अथवा अधिक सामान्य शब्दों में, हमारी भाषा के नियमों से, सुसंगत हो; भौतिक रूप से संभव वह है जो प्रकृति के नियमों से सुसंगत है। तब, तार्किक अनिवार्यता को विरोधी उदाहरणों को सोचने की हमारी क्षमता पर निर्भर माना जा सकता है, और भौतिक अनिवार्यता को इस परिकल्पना पर निर्भर माना जा सकता है कि तार्किक रूप से संभव विरोधी उदाहरणों में से एक भी वस्तुतः घटित नहीं होगा।" (पृ० ९४)। इस प्रकार की परिभाषाओं के विरुद्ध अनेक आपत्तियां उठाई जा सकती हैं। प्रथमतः, तार्किक अनिवार्यता को कुछ घटनाओं को कल्पित करने की अक्षमता मात्र मानना स्पष्टतः त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। तार्किक अनिवार्यता को परिभाषित करने की समस्या आधुनिक दर्शन की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या है, और स्वयं एयर तथा उनके अनुयायी उस प्रकार की 'मनोवैज्ञानिक' परिभाषाओं का विरोध करते आये हैं जैसी एयर ने इस पुस्तक में प्रस्तावित की हैं। न तो तार्किक अनिवार्यता और न भौतिक अनिवार्यता किसी भी प्रकार की घटनाओं को सोच सकने की हमारी क्षमता पर निर्भर हो सकती है। उल्लिखित प्रथम अवतरण में संभावना को हमारे ज्ञान की वास्तविक स्थिति अथवा सीमाओं पर निर्भर कर देना अनुचित प्रतीत होता है। वस्तुतः, तार्किक एवं भौतिक अनिवार्यताओं को एक रूप देना परिभाषा का गुण नहीं है (जैसाकि एयर ने माना है) अपितु त्रुटि है।

इसके अलावा, संभावना की परिभाषा की एक और कमज़ोरी यह प्रतीत होती है कि इसके विरुद्ध उसी प्रकार का चक्रिकता-दोष लगाया जा सकता है जैसाकि मौर्टन व्हाइट[१४] तथा क्वाइन[१५] आदि ने निश्चयमात्रिक प्रत्ययों की कुछ परिभाषाओं के विरुद्ध लगाया था। संभावना की इस परिभाषा में 'विरोध' (इन्कॉम्पेटीबिलिटी) का प्रत्यय प्रयुक्त किया गया है। परन्तु स्वयं यह प्रत्यय संभावना के प्रत्यय से कम कठिन नहीं है, और इसे परिभाषित करने के लिए सभी

---

१४ टुवर्ड्स रीयूनियन इन फ़िलोसोफ़ी; १९५६; PP. 196–199

१५ 'टू डोग्माज़ आफ एम्पिरिसिज़्म'; फ़िलोसोफ़िकल रिव्यू १९५१; पृ० २०-४३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्ध परिभाषाएं पुनः संभावना के प्रत्यय का उपयोग करती हैं। इस प्रकार दी गई परिभाषा अन्त में व्यर्थ सिद्ध हो जाती है जिसके कारण एयर की पूरी योजना खंडित हो जाती है।

तृतीय खंड में एयर रसेल के प्रतिज्ञप्ति संबंधी विचारों पर टिप्पणी देते हैं। इस विषय में रसेल के क्रमशः परिवर्तित एवं विकसित विचारों का उल्लेख पूर्वोक्त खंड में भी किया गया है। एयर रसेल के सिद्धान्त में मुख्य आपत्तिजनक कमी यह पाते हैं कि इसमें आपेक्षिकता (इन्टेन्शनेलिटी) की समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। प्रतिज्ञप्ति के पदों को रसेल वास्तविक वस्तुएं ही मानते हैं और इस प्रकार यह सिद्धान्त इस संभावना का बहिष्कार कर देता है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु के विषय में कोई बात तब सत्य माने जब उसका विवरण एक विशेष प्रकार से दिया गया है, और उसी वस्तु के विषय में वही बात तब सत्य न माने जब उसका विवरण दूसरे प्रकार से दिया गया है। परन्तु न केवल ऐसा संभव है,बहुधा वास्तव में भी होता है। क्योंकि व्यक्ति इस सत्य के प्रति अनभिज्ञ हो सकता है कि दोनों विवरण एक ही वस्तु के हैं। बाद में जब रसेल ने मानसिक क्रियाओं में अनास्था के कारण यह सिद्धान्त छोड़ दिया कि प्रतिज्ञप्तियां विश्वासों के विषय होती हैं, उन्होंने यह मानना प्रारंभ किया कि प्रतिज्ञप्तियां विश्वासों की विषय-वस्तु प्रदान करती हैं। यह विषय वस्तु, रसेल के अनुसार, शब्द अथवा मानसिक प्रतिभायें हो सकती हैं। विश्वास के विश्लेषण में रसेल ने यह माना कि मात्र प्रतिज्ञप्ति का 'अस्तित्व' पर्याप्त नहीं है। इसके साथ ही विश्वास की जाने वाली प्रतिज्ञप्ति के प्रति विश्वासकर्त्ता की एक विशेष प्रकार की 'भावना' अथवा मानसिक प्रक्रिया भी जुड़ी होनी चाहिये। इतना ही नहीं, प्रतिज्ञप्ति तथा इस "विश्वास-भावना" (बिलीफ फीलिंग) के मध्य एक विशेष प्रकार का संबंध भी होना चाहिये। परन्तु रसेल ने कहीं भी यह संतोषजनक रूप से नहीं समझाया कि यह विशेष संबंध क्या और किस प्रकार का है। अतः यहां भी उनका सिद्धान्त अपूर्ण ही रह जाता है। खंड का शेष भाग रसेल द्वारा कैपलान तथा कोपिलोविश[१६] के 'चिह्न-वाहक' (साइन विहाइकल्स) सिद्धान्त की आलोचना का समीक्षात्मक विवरण देने में व्यय हुआ है।

---

१६ कैपलान एण्ड कोपिलोविश :"मस्ट देयर बी प्रोपोज़ीशन्स ? "; माइण्ड; १९३९। इन दार्शनिकों ने प्रतिज्ञप्ति संबन्धी अपने सिद्धान्त में "परोक्ष व्यवहार" (इम्प्लिसीट बिहवीयर) तथा "चिह्न वाहकों" (साइन विहाइकल्स) के मुख्य प्रत्यय प्रयुक्त किये हैं। परोक्ष व्यवहार से उनका तात्पर्य उन घटनाओं से है जो कोई चिह्न प्रयुक्त करते समय प्रयोगकर्त्ता के अन्दर घटित होती हैं। "चिह्न वाहक" से उनका तात्पर्य किसी प्रतीक के मूर्त उदाहरण से है। रसेल की मुख्य आपत्ति इस दूसरे प्रत्यय से संबद्ध है। क्योंकि उनके अनुसार चिह्नता का ही प्रत्यय मुख्यतः स्पष्ट किया जाना है, और कैपलान कोपिलोविश-सिद्धान्त इस प्रत्यय को स्पष्ट नहीं कर पाया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय का अन्तिम तथा चौथा खंड रसेल के सत्यता संबंधी मतों का विकास संक्षेप में बताता है। जिस प्रकार रसेल अपनी प्रतिज्ञप्ति संबंधी मान्यताओं को बदलते रहे हैं, उसी प्रकार उन्होंने अपने सत्यता संबंधी सिद्धान्तों को भी बदला है। एक विशेष काल में उन्होंने सत्यता व असत्यता को प्रतिज्ञप्तियों के सरल, अपरिभाष्य गुण माना। प्रतिज्ञप्तियों के निरपेक्ष अस्तित्व में विश्वास छोड़ने पर उन्होंने यह माना कि कोई प्रतिज्ञप्ति तभी सत्य होती है जब उसके घटक तत्त्व उसी प्रकार संबद्ध हों जिस प्रकार वे वास्तविकता में भी संबद्ध हैं। रसेल के इस सिद्धान्त को बहुधा अनुरूपता सिद्धान्त (कोरस्पोन्डेन्स थ्योरी) का एक रूप माना जाता है। परन्तु एयर की यह आपत्ति पूर्णतः उचित प्रतीत होती है कि इस सिद्धान्त को अनुरूपता सिद्धान्त के अन्तर्गत रखना अनुचित है। क्योंकि उस समय तक रसेल यह मानते थे कि प्रतिज्ञप्ति के घटक तत्त्व वास्तविक वस्तुएं ही होती हैं और इस प्रकार, एक सत्य-प्रतिज्ञप्ति व उसकी सत्यता के आधार रूप में माने जाने वाले 'तथ्य' के बीच कोई भेद नहीं रह जाता। परन्तु किसी भी प्रकार का अनुरूपता सिद्धान्त 'तथ्य' तथा प्रतिज्ञप्ति का तादात्म्य स्वीकार नहीं कर सकता। इस सिद्धान्त की विशेषता तथ्य तथा प्रतिज्ञप्ति का द्वैत तथा प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के आधाररूप उनका एक विशेष संबंध मानना है।

एयर रसेल के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं कि शब्दों से बनी हर प्रतिज्ञप्ति का अर्थ मानसिक प्रतिमाओं से बनी प्रतिज्ञप्ति होता है। अपनी इसी मान्यता के कारण रसेल मानसिक प्रतिमाओं से बनी प्रतिज्ञप्ति को शब्द-प्रतिज्ञप्तियों से अधिक प्राथमिक मानते हैं। फिर भी, वे यह मानते हैं कि यद्यपि शब्द-प्रतिज्ञप्तियां निषेधात्मक हो सकती हैं, प्रतिमा-प्रतिज्ञप्तियां केवल विधानात्मक ही हो सकती हैं। इसकी युक्तियों का उल्लेख पुस्तक में किया गया है। निषेधात्मक शब्द-प्रतिज्ञप्तियों का अर्थ तथा सत्यता दोनों ही विधानात्मक प्रतिमा-प्रतिज्ञप्तियों द्वारा परोक्ष रूप से निश्चित होते माने गए हैं। इस प्रकार सत्यता का अन्तिम तथा भौतिक आधार विधानात्मक प्रतिमा-प्रतिज्ञप्ति तथा 'तथ्य' के बीच एक विशेष संबंध हो जाता है। यह संबंध 'समानता' का संबंध है। इस सिद्धान्त में कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन व संशोधन एयर ने प्रस्तावित किये हैं। पर मुख्य आपत्ति यह है कि दो विषयों के मध्य केवल भौतिक समानता इस बात के लिए पर्याप्त नहीं होती कि उनमें से एक को दूसरे का प्रतिनिधि माना जाय। एक विषय दूसरे का प्रतीक अथवा प्रतिनिधि है, इसके लिए उनके भौतिक स्वरूप की समानता न अनिवार्य है, न पर्याप्त; इसके लिए हमें सदैव व्याख्या के नियम ("प्रक्षेपण नियम"-विट्गेन्स्टाइन) अपेक्षित होते हैं। रसेल के इस सिद्धान्त तथा विट्गेन्स्टाइन की 'ट्रैक्टेटस' के 'चित्र-सिद्धान्त' (पिक्चर थ्योरी) के मध्य समानता स्पष्ट है। एयर की आपत्तियां भी लगभग उसी प्रकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जिस प्रकार की विट्गेन्स्टाइन के आलोचकों ने उनके चित्र-सिद्धान्त के विरुद्ध उठाई थीं।

अन्त में, एयर रसेल द्वारा स्वीकृत उनके सत्यता-संबंधी मत के अन्तिम रूप का उल्लेख करते हैं जिसे रसेल ने "एन इन्क्वायरी इन्टु मीनिंग एन्ड ट्रुथ" पुस्तक में विकसित किया है। इस पुस्तक में भी वह सत्यता का अनुरूपता सिद्धान्त ही मानते हैं, पर उसका जो रूप यहां विकसित किया गया है वह उतना सरल व सीधा नहीं है जैसाकि पूर्वकाल में स्वीकार किया गया था। "इन्क्वायरी" में विकसित रसेल की सत्यता संबंधी धारणाओं का एयर बहुत ही संक्षेप में उल्लेख करते हैं। परन्तु पाठक इनसे पूर्व परिचित ही होंगे। रसेल सभी प्रकार के (अनुभवात्मक) वाक्यों की सत्यता-असत्यता का आधार तथ्यों व उनके बीच अनुरूपता संबंध की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति मानते हुए भी अनुरूपता-संबंध का स्वरूप विभिन्न प्रकार के वाक्यों के लिए विभिन्न प्रकार का मानते हैं। अधिक सामान्य तथा अधिक जटिल वाक्य के लिए अनुरूपता-संबंध भी अधिक जटिल दर्शाया गया है। एयर इन संबंधों का उल्लेख भी नहीं करते हैं। वे केवल रसेल के अर्थ-संबंधी कारणता-सिद्धान्त (काज़ल थ्योरी ऑफ मीनिंग) पर ही ध्यान एकाग्रित करते हैं। 'इन्क्वायरी' में रसेल परमाणविक वाक्यों के सृजन का कारण इनसे निर्दशित तथ्यों की उपस्थिति मानते हैं और साथ ही यह भी मानते हैं कि यह कारणता-संबंध ही उन वाक्यों की सत्यता का आधार होता है। एयर की यह आपत्ति पुनः सत्य प्रतीत होती है कि परमाणविक वाक्यों के सृजन का कारण निर्दशित तथ्यों की उपस्थिति मानते हुए भी यह मानना न तो अनिवार्य प्रतीत होता है और न ही उचित कि इस कारणता-संबंध के कारण विचाराधीन वाक्य सत्य है। वाक्य की सत्यता के लिए तथ्य की उपस्थिति मात्र पर्याप्त है, नकि उल्लिखित कारणता संबंध।

पांचवें अध्याय, अर्थात् पुस्तक के प्रथम भाग के अन्तिम अध्याय, में रसेल की अस्तित्वमीमांसा विवेचित की गई है। रसेल के तटस्थ अद्वैतवाद (न्यूट्रल मोनीज़म) का उल्लेख करके एयर सर्वप्रथम रसेल के मन अथवा आत्मा संबंधी विचारों का क्रमशः विकास बताते हैं। जैसाकि पहले ही देख चुके हैं, रसेल के मतानुसार अनुभवात्मक जगत् का अन्तिम तत्व न तो पारम्परिक अर्थ में समझी जाने वाली आत्मा है और न भौतिक द्रव्य, अपितु संवेद अथवा संवेद्य है। रसेल के इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही संवेद तथाकथित भौतिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार के वर्गों का सदस्य हो सकता है। मन तथा भूत का मौलिक भेद उनके घटक तत्त्वों का स्वरूप-भेद नहीं है अपितु उन तत्वों के संगठन का भेद ही है। एयर यह संकेत करते हैं कि इसी प्रकार का निरपेक्ष अद्वैतवाद विलियम जेम्स ने भी प्रतिपादित किया था। एयर के मतानुसार, रसेल तथा जेम्स के एकतत्ववाद में सिद्धान्त का कोई भेद नहीं है; भेद केवल उनकी रुचियों का है। जेम्स ने आत्मा अथवा मन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या तथा विश्लेषण करने पर अधिक ध्यान एकाग्र किया है जबकि रसेल ने भौतिक पदार्थ की पुनारचना करने में।

अपने रचना-काल के पूर्ववर्ती भाग में रसेल आत्मा का अस्तित्व भी मानते हैं और उसको ज्ञेय भी। उनका तर्क 'आत्म-चेतना' के तथ्य पर आधारित है। आत्म-चेतना से उनका तात्पर्य है किसी वस्तु का ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष होते समय यह ज्ञान अथवा चेतना भी होना कि ऐसा ज्ञान अथवा प्रत्यक्ष हो रहा है। परन्तु बाद में रसेल ने यह युक्ति छोड़ दी क्योंकि स्वयं आत्म-चेतना का प्रत्यय उतना ही (या उससे भी अधिक) कठिन है जितना आत्मा का, और आत्म-चेतना का विश्लेषण विषय तथा विषयी के माध्यम से किया जाना किसी भी प्रकार लाभदायक नहीं होगा। इसके साथ ही रसेल ने आत्मा के द्रव्यात्मक, स्वतंत्र रूप को भी अस्वीकार कर दिया। एयर रसेल के इस उत्तरवर्ती मत से पूर्ण सहमति प्रकट करते हैं।

'आत्मा' की अस्वीकृति के साथ ही रसेल पर इसकी तार्किक रचना के रूप में व्याख्या करने का उत्तरदायित्व आ जाता है। इसके लिए वे स्मृति तथा कुछ विशेष प्रकार के कारणता संबंधों का सहारा लेते हैं। रसेल का विचार है कि एक ही व्यक्ति के आश्रित मानसिक प्रक्रियाओं के बीच कुछ ऐसे विशिष्ट कारणता संबंध होते हैं जो विभिन्न व्यक्तियों पर आश्रित विभिन्न मानसिक प्रक्रियाओं के बीच नहीं होते। उन्होंने स्मृति को इनका एक उदाहरण माना है। एयर की संक्षिप्त आपत्ति है कि ऐसी कोई विधि स्पष्ट नहीं की गई है जिससे कुछ अनुभवों को एक ही व्यक्ति के अथवा स्वयं के अनुभव-रूप में जाने बिना उनके बीच का कारणता-संबंध खोजा जा सके। यदि इन कारणता-संबंधों को जानने के लिए यह पहले से जानना आवश्यक हो कि वह एक ही व्यक्ति के आश्रित हैं, तो पूरी विधि चक्रिकता के दोष से दूषित हो जायेगी।

इसी संबंध में एयर रसेल के कारणता संबंधी विचारों की भी आलोचना करते हैं। 'मिस्टिसिज़्म एण्ड लोजिक' में सम्मिलित प्रसिद्ध लेख 'आन दि नोशन आफ़ कॉज़' में रसेल ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि कारणता के प्रत्यय में विरोधाभास है। (पृ० १८४) रसेल का तर्क भी प्रसिद्ध है कि चूंकि कोई भी दो क्षण पूर्ण समीपस्थ (कोंटीगुअस) नहीं होते अतः कारण को क्षणिक नहीं माना जा सकता, और तब दो विकल्प शेष रहते हैं : या तो कारण को आन्तरिक रूप से परिवर्तनमय माना जाय, या उसे अपरिवर्तनमय माना जाय। दोनों ही विकल्पों को अमान्य ठहराने का प्रयत्न रसेल ने किया है। प्रथम विकल्प की कठिनाई है कि परिवर्तनमय कारण के आन्तरिक अंशों के मध्य कारणता-संबंध मानना होगा और तब वे सभी समस्याएं पुनः खड़ी हो जायगी जो हम अपने मौलिक 'कारण' व 'कार्य' के संबंध में सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। दूसरे विकल्प का दोष यह है कि परिणाम उत्पन्न करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व भी उसी रूप में अवस्थित परिवर्तनहीन 'कारण' किसी विशेष समय ही परिणाम उत्पन्न क्यों कर सका, यह समझना कठिन हो जाता है।

रसेल की इस युक्ति के पीछे यह विश्वास है कि कारण तथा कार्य को किसी न किसी प्रकार समीपस्थ ही मानना पड़ेगा। वस्तुत: रसेल ने उल्लिखित लेख में इस विश्वास के लिए यह युक्ति भी दी है कि कारणता-सम्बन्ध अनिवार्य संबंध माना जाता है, और इस अनिवार्यता को संरक्षित रखने के लिए कारण व कार्य की समीपस्थता स्वीकार करना आवश्यक है। क्योंकि अन्यथा कारण व कार्य के बीच किसी ऐसी तीसरी घटना की संभावना सदैव बनी रहेगी जो कार्य को घटित होने से रोक दे। एयर की यह आपत्ति उचित प्रतीत होती है कि कारणता-सम्बन्ध को अनिवार्य मानने का एक निहितार्थ यह है कि कारण तथा कार्य के बीच कोई बाधक तीसरी घटना नहीं घटेगी। अत: दो घटनाओं अ तथा ब के मध्य कारणता-सम्बन्ध मान लेने के बाद यह संभावना स्वीकार्य नहीं हो सकती कि कार्य-उत्पत्ति में बाधक कोई अन्य घटना घटित हो। इसी प्रकार उपर्युक्त विरोधाभास के दोनों विकल्पों को सिद्ध करने में रसेल किस प्रकार असफल रहे हैं, यह एयर सफलतापूर्वक दिखा सके हैं। क्षणिक वस्तुओं की समीपस्थता के लिए रसेल द्वारा दिया गया तर्क अवैध है। इसी प्रकार 'कारण' को कुछ क्षणों तक अवस्थित मान सकने के विरुद्ध रसेल की युक्ति भी उचित प्रतीत नहीं होती। यदि हमारा कार्य-कारण संबंधी सिद्धान्त दो जटिल (तथा अ-क्षणिक) वस्तुओं अ तथा ब को इस संबंध से संबद्ध मानता है, तो अ के किसी एक अंश को ही ब का कारण मानना न तो अनिवार्य होगा और न उपयुक्त ही। सिद्धान्त के अनुसार **समग्र** अ ब का कारण माना जायेगा।

जैसाकि हम देख चुके हैं, रसेल ने आत्मा अथवा मन की व्याख्या करने के लिए कारणता का प्रत्यय प्रयुक्त किया था और व्यक्तिगत अभिज्ञान (पर्सनल आइडेण्टिटी) के लिए स्मृति को आधार माना था। इस धारणा पर एयर ने अगले खंड में विचार किया है। 'स्मृति' की रसेल द्वारा दी गई विवेचना का उल्लेख करते हुए एयर रसेल के 'स्मरण-विषय कारणता' (नेमिक कॉजेशन) के प्रत्यय की चर्चा करते हैं। रसेल का विचार है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि विगत अनुभव वर्तमान व्यवहार को केवल शारीरिक परिवर्तनों द्वारा प्रभावित करता है। उनके अनुसार, विगत अनुभव किसी वर्तमान उद्दीपक तथा विषयी की वर्तमान शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं के साथ मिलकर वर्तमान स्मृति को उत्पन्न करते हैं। एयर रसेल के इस मत से सहमति दर्शाते हैं कि यदि कारणता-संबंध को निरीक्षित क्रम-बद्धता अथवा नियमितता मात्र मानें तो यह भी माना जा सकता है कि किसी वर्तमान कार्य का कारण अस्तित्वहीन अथवा विगत है।

स्मृति के आधार पर मन के अभिज्ञान का जो प्रस्ताव रसेल ने प्रस्तुत किया है उसके विरुद्ध एयर की मुख्य आपत्ति यह है कि स्मृति इस कार्य के लिए अनिवार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। एयर स्वीकार करते हैं कि स्वयं अपने अभिज्ञान तादात्म्य के प्रति चेतना स्मृति पर ही निर्भर करती है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि स्मृति मन के अभिज्ञान की स्थापना के लिए पर्याप्त है। यहाँ स्मृति का मुख्य अपेक्षित कार्य चेतना के उन अन्तरालों को भरना है जिन्हें संवेदित तारतम्य नहीं भर पाता। परन्तु यह कार्य करने में स्मृति असफल रहती है, क्योंकि स्मृति में इस बात की कोई निश्चयात्मकता नहीं रहती कि स्मृत अनुभव स्मरणकर्त्ता के ही हैं। स्वय रसेल यह बात स्वीकार करते हैं) क्योंकि उन्होंने यह माना है कि स्मृति-विश्वास का हर घटक तत्त्व **वर्तमान** होता है, और इसलिए स्मृति के लिए यह कभी भी अनिवार्य नहीं होता कि उसका विषय कभी घटित भी हुआ हो।

द्वितीय खंड में एयर ने रसेल के दर्शन में निहित एक आत्म-विरोध का संकेत किया है। यह आत्म-विरोध प्रत्यक्षों की कारणभूत मानी गई भौतिक वस्तुओं तथा देश के विषय में रसेल के विचारों में पाया जाता है। यह विषय रसेल के दर्शन में इतना आधारभूत तथा महत्वपूर्ण है कि इससे संबंधित कोई भी विसगति निश्चय ही रसेल के सम्पूर्ण दर्शन के लिए गम्भीर होगी। फिर भी, जैसाकि एयर सफलता पूर्वक दिखा सके हैं, इस दर्शन विषय पर रसेल की कृतियों में पग-पग पर विरोधी विचार मिलते हैं। प्रत्यक्षों के कारणों के रूप में स्वीकृत अनिरीक्षित वस्तुओं को कभी तो रसेल प्रत्यक्षों से तार्किक रचनाएं मात्र मानते हैं और कभी उन प्रत्यक्षों से अनुमानित वस्तुएं जिनका स्वरूप प्रत्यक्षों से भिन्न होता है, अथवा जिनके स्वरूप के विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। इन विरोधी विचारों के अनेक अवतरण एयर ने उद्धृत किये हैं। एयर की मुख्य आपत्ति रसेल द्वारा अनुभव-अगम्य देश की स्वीकृति के विरुद्ध है। यह स्वीकृति रसेल की रचनाओं में अनेक स्थानों पर मिलती है। एयर के मतानुसार, अनुभव-अगम्य देश का प्रत्यय ही बोधगम्य नहीं है, और न ही रसेल के दर्शन में ऐसे देश को स्वीकार करना उपयुक्त प्रतीत होता है। प्रत्यक्षों तथा 'अनुभवात्मक देशों' के आधार पर तथाकथित विषयात्मक देश की पुनारचना कैसे हो, इसके लिए एयर तृतीय अध्याय में प्रस्तुत अपने प्रस्ताव का पुन: उल्लेख करते हैं। इस प्रस्ताव में एयर ने भौतिक विषय को 'मानक प्रत्यक्ष' (स्टैंडाइज्ड परसेप्ट) के रूप में माना था।

अन्तिम खंड में एयर ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि भौतिक वस्तुओं की अवस्थिति के विषय में उनका उपरोक्त प्रस्ताव स्वीकार करने के बाद भी रसेल के साथ यह स्वीकार किया जा सकता है कि उन वस्तुओं को हम कभी भी उस रूप में नहीं देख पाते हैं जो रूप वास्तव में उनका है। यहाँ मुख्य संकेत लॉक, बर्कले, आदि के मतों के संदर्भ में प्राथमिक तथा गौण गुणों के भेद की ओर है। वे यह मानते हैं कि हम वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप में नहीं जानते, उनका विचार है कि हम सदैव वस्तुओं में वह गुण आरोपित करते रहते हैं जो वास्तव में हमारे प्रत्यक्षों के गुण हैं अथवा उनसे किसी प्रकार संबद्ध हैं। ये गुण सामान्यतः प्रत्यक्षकर्त्ता की भौतिक व मानसिक स्थिति पर निर्भर माने जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के मत में मुख्य कठिनाई ऐसे किसी मापदंड का अभाव है जिसके आधार पर यह जाना जा सके कि कोई वस्तु वास्तव में किस प्रकार की है। इसके अलावा, जैसा कि एयर ने बताया है और अनेक अन्य दार्शनिक भी बता चुके हैं, प्रत्यक्षकर्त्ता पर गुण की निर्भरता से वस्तु में उसके अभाव को अनुमानित करने वाली युक्ति आवश्यकता से अधिक सिद्ध कर देती है। अर्थात्, जिस प्रकार के गुणों को वस्तु में वस्तुतः स्वीकार किया जाना है उसका अभाव भी इस युक्ति के आधार पर मानना पड़ जायगा।

इस कठिनाई का एक निराकरण एयर ने प्रस्तुत किया है जिसे वे स्वयं पूर्णतः संतोषजनक नहीं मानते, पर पूर्वोक्त मत से अधिक उत्तम मानते हैं। इस प्रस्ताव के अनुसार, प्राथमिक तथा गौण गुणों का भेद करने के स्थान पर वस्तु के अन्तर्निहित (इन्ट्रीन्सीक) तथा कारणात्मक (कॉज़ल) गुणों का भेद करना अधिक उपयुक्त होगा। कारणात्मक गुण वे होंगे जिनकी परिभाषा वस्तु के दूसरी वस्तुओं पर परिणामों के माध्यम से दी जायगी और अन्तर्निहित गुण वे होंगे जिनकी परिभाषा बिना इस अभिधारणा के दी जा सकेगी कि वस्तु का अन्य वस्तुओं से किसी भी प्रकार संबंध है। एयर का विचार है कि गुणों का इस प्रकार भेद करके यह कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होगा कि किसी वस्तु के वास्तविक गुण केवल उसके अन्तर्निहित गुण होते हैं। एयर यह स्पष्ट करते हैं कि ऐसा कहकर हम अस्तित्ववान् वस्तुओं की खोज नहीं कर रहे हैं अपितु 'वास्तविकता' का एक मापदण्ड प्रस्तुत कर रहे हैं। यह बात केवल इस अस्तित्वमीमांसात्मक सिद्धान्त पर ही लागू नहीं होती, अपितु अधिकांश दार्शनिक समस्याओं के विषय में यही कहा जा सकता है। जैसाकि हम प्रथम अध्याय की समीक्षा में देख चुके है, कुछ दार्शनिकों (विशेषतः, मूर तथा उनके अनुयायियों) का दर्शन-सम्बन्धी मत इसी प्रकार का है।

रसेल की आस्तित्वमीमांसा-संबंधी इस अध्याय के साथ एयर ने पुस्तक का प्रथम भाग समाप्त कर दिया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, एयर के विवरण रसेल के दर्शन में उनकी गहरी पैठ के द्योतय हैं, और उनकी अधिकांश आलोचनायें व प्रस्ताव मौलिक हैं। परन्तु रसेल के दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण विषयों का पुस्तक में अभाव अवश्य खटकता है। उदाहरण के लिए, रसेल द्वारा प्रयुक्त व प्रतिपादित विश्लेषण के विभिन्न रूपों की विवेचन पुस्तक में नहीं मिलता। इसी प्रकार तर्कशास्त्र सम्बन्धी रसेल के मतों का पर्याप्त उल्लेख भी एयर ने नहीं किया है। यह अवश्य है कि जिन विषयों का पुस्तक में समावेश किया गया है, उनका विवेचन उच्चस्तरीय एवं मौलिक होने के कारण पुस्तक दार्शनिक विकास के लिए एक नया सोपान प्रस्तुत करती है।

लखनऊ विश्वविद्यालय

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैयक्तिक भाषा-संबंधी विमर्श*

नारायण शास्त्री द्राविड़

'फिलॉसोफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' नामक अपने ग्रंथ में लुड्विग् विड्गेन्स्टाइन ने वैयक्तिक अनुभूतियों के संबंध में भाषीय तथ्यों के आधार पर कुछ पारम्परिक धारणाओं पर आघात करने वाले विचार प्रकट किए हैं। इन्हीं के आधार पर पीटर स्ट्रॉसन्, आल्फ्रेड आयर, नार्मन मालकम्, ॲन्थोनी केनी आदि कई आधुनिक दार्शनिकों ने जो अनुकूल-प्रतिकूल चर्चा चलायी है उसका संकलन श्री जोन्स ने प्रस्तुत संग्रह में किया है। जैसाकि विट्गेन्स्टाइन के अध्येता लोग जानते हैं, दार्शनिक चिन्तन की विट्गेन्स्टाइन द्वारा उद्भावित पद्धति पारम्परिक विचार-पद्धति से बहुत ही भिन्न है। उसमें तर्कों से अधिक उदाहरणों, उत्प्रेक्षाओं, विभिन्न शब्द-प्रयोगों आदि को विशेष महत्त्व प्राप्त है। विट्गेन्स्टाइन के अनुयायियों—जैसे माल्कम् आदि—ने जबकि इस पद्धति को अपनाया है, उसके समालोचक स्ट्रॉसन आदि विचारक न्यूनाधिक मात्रा में पारंपरिक पद्धति से ही चिन्तन करना पसंद करते हैं। इस कारण प्रस्तुत संग्रह के कई लेखों के विचारों में दार्शनिक दृष्टि से ग्राह्य अंश भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के पाठकों को भिन्न ही प्रतीत होंगे। कुछ बातें तो भिन्न-भिन्न शैली से दुहरायी गयी ही लग सकती हैं। इसी कारण इस समीक्षात्मक संक्षेप में प्रस्तुत संग्रह के सभी लेखों की युक्तियों का समावेश आवश्यक नहीं समझा गया है। कुछ लेखों की महत्त्वपूर्ण युक्तियां ही यहां चर्चित हैं। वैयक्तिक भाषा की समस्या के अन्तर्गत तीन उप-समस्याएं हैं जिनकी खंडनमंडनात्मक चर्चा आयर, व्हीस, हर्वे, गर्विर, मुंडले, ह्यांस्रो आदि ने की हैं और वह इस पुस्तक में सग्रहीत हैं। ये समस्याएं निम्ननिर्दिष्ट हैं (१) 'क्या रॉबिन्सन् क्रूसो जैसा एकान्तजीवी व्यक्ति भाषा का निर्माण कर सकता है?' (२) 'वैयक्तिक भाषा तथा वैयक्तिक संवेद' और (३) 'चेष्टावाद तथा वैयक्तिक भाषा-संबंधी वाद-विवाद।' इनके अतिरिक्त, पुस्तक के प्रारम्भ में संपादक की विस्तृत भूमिका तथा स्ट्रॉसन् व मॉलकम् द्वारा प्रस्तुत किया हुआ विट्गेन्स्टाइन के मूल विचारों का खंडन व मंडन और अन्त में 'वैयक्तिक भाषा-संबंधी वाद-विवाद, एक असंबद्धतापरक तर्क के रूप में', इस विषय से संबंधित चर्चा-(जिसमें क्यास्टानेडा, चॅपेल और थॉम्सन सहभागी हैं) आदि सामग्री उपस्थित की गई है। प्रमाणीकरण-सिद्धान्त और वैयक्तिक

---

* Jons, R. R. Private Language Argument, Macmillan & Co., New York, 1971

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा संबंधी वादविवाद एवं' 'वैयक्तिक अनुभव तथा संवेद' ये दो अवोतर प्रकरण भी इस पुस्तक में अंतर्भूत हैं। प्रस्तुत सारांश में इन में से तीन लेखों का सार तथा उनकी समीक्षाएं आवश्यकतानुसार उपस्थित की जायेंगी।

लेखों की चर्चा करने के पूर्व मूल समस्या के संबंध में थोड़ा स्पष्टीकरण अस्थाने नहीं होगा। यह समस्या यद्यपि मानसिक तथ्यों से–अतः दार्शनिक मनोविज्ञान से संबद्ध सी प्रतीत होती है, तथापि मुख्यतया वह भाषीय या भाषा विषयक दार्शनिक चिन्तन से ही जुड़ी हुई है। कुछ भाषीय दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर विट्-गेन्स्टाइन ने प्राचीन काल से चली आयी मनोवृत्ती विषयक कुछ दार्शनिक मान्यताओं पर आपत्ति उठायी है। इन मान्यताओं को देकार्ते ने सुव्यवस्थित रूप से अपने दर्शन में सर्वप्रथम उपस्थित किया था। देकार्ते कहता है कि मन और जड़ द्रव्य ये दो भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्व हैं। इनमें परस्पर संबंध होता है लेकिन यह संबंध न मन के लिये आवश्यक है न जड़ द्रव्य के लिये। शरीर में–विशेषकर चेतन मानवीय शरीर में मन और जड़ द्रव्य परस्पर संयुक्त रूप में कुछ समय तक जरूर बने रहते हैं। किन्तु जैसे मनोविरहित जड़ शरीर रह सकता है वैसे ही शरीरविरहित मन भी स्वतंत्र रूप से बना रह सकता है। ऐसे मन में मनोवृत्तियां उत्पन्न होती या हो सकती हैं या नहीं यह प्रश्न यहां उठ सकता है। किन्तु उसकी चर्चा प्रासंगिक न होने से हम देकार्ते के प्रस्तुत समस्या संबंधी भूमिका का संक्षिप्त स्पष्टीकरण यहां उपस्थित करेंगे। मनोवृत्तियां-जैसे संवेदादि–मानसिक तथ्य हैं। उनका शारीरिक चेष्टाओं, हावभावों आदि के साथ जो संबंध सामान्यतया अनुभव-गोचर होता है वह केवल बाह्य या आनुषांगीक ही मानना चाहिये। जैसे गुस्सा आने पर मुंह का तमतमाना, मुठ्ठियों का भिचना आदि बातें सामान्यतया घटित होती हैं। ये न घटित होती तो किसी के गुस्से का सही-सही अन्दाज करना असंभव हो जाता। किन्तु कई लोग भीतर गुस्से से उफनते रहने पर भी उसे चेहरे पर या किसी भी शारीरिक चेष्टा के द्वारा प्रकट नहीं करते या होने देते। और बहुत से श्रेष्ठ अभिनेता तनिक भी गुस्सा मन में न होते हुए भी गुस्से की सारी अभिव्यक्तियां अत्यंत कुशलता के साथ प्रकट करते हैं। इन बातों पर तथा अपने दर्शन को इस मूलभूत धारणा के आधार पर कि मन और जड़ द्रव्य से अलग-अलग तत्त्व हैं देकार्ते यह निष्कर्ष निकालता है कि कोई भी बाह्य दृश्य अभिव्यक्ति मनोवृत्तियों के साथ आपातिक रूप से ही संबद्ध है। मनोवृत्तियों की कोई न कोई दृश्य अभिव्यक्ति शरीर में होना न तर्कतः न कार्यकारण भाव के कारण ही अनिवार्य है। इनमें अधिक से अधिक साहचर्य का अस्तित्व मानना ही उचित होगा। इस कारण देकार्ते शब्दों के अर्थ या अर्थबोधकता के दो प्रकार मानता है। बाह्य अर्थों के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द उनके 'सार्वजनीत धर्मो और विशेषताओं के ज्ञान के आधार पर ही उनका निर्देश करते हैं। किन्तु वैयक्तिक अनुभूतियों के क्षेत्र में जो शब्द प्रयोग में आते हैं वे किसी सार्वजनिक विशेषता के साथ कभी जुड़ नहीं सकते क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये अनुभूतियां व्यक्तिमात्र वेद्य हैं। अतः इन अनुभवों के लिए व्यक्ति जो शब्द या भाषा प्रयोग में लायेगा वह उसी तक सीमित रहेगी। तथापि इस मर्यादितता के कारण उस भाषा या शब्द की अर्थबोधकता या निर्देशकता में कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

इस सारी विचार सारणी पर विट्गेन्स्टाइन को यह मूलगामी आपत्ति है कि यदि भाषा की उपयोज्यता सार्वजनीन निकषों पर ही आधारित हो, और शब्द प्रयोगों की युक्त-युक्तिता का निर्धारण सार्वजनिक ही संभव हो तो व्यक्तिमात्र प्रयोज्य वैयक्तिक भाषा की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? शायद कोई कहे कि जैसे सार्वजनिक शब्द प्रयोगों का परीक्षण सार्वजनिक रूप में संभव है वैसे वैयक्तिक भाषागत प्रयोगों का वैयक्तिक रूप से परीक्षण हो सकता है। जैसे किसी ने निश्चय किया कि उसे बारबार होने वाले किसी दर्द को वह 'ऊभचूभ' इस नाम से पहचानेगा और याद करेगा तो दूसरों को इस संज्ञा का या उसके निर्देश्य का कोई ज्ञान न होने पर भी उस व्यक्ति के लिए तो हमेशा वह संज्ञा अर्थवती होगी। जब-जब वह खास प्रकार का दर्द उभरेगा वह व्यक्ति इस शब्द को याद करेगा और जरूरत हो तो कहीं उसे लिख भी रखेगा। इस पर विट्गेन्स्टाइन यह कहता है कि अपने दर्द के लिए स्वयं ही गढ़ा हुआ शब्द याद रहने के लिए इस दर्द को पहचानना आवश्यक है। पहचान के साथ स्मृति आती है। स्मृति भी एक मनोवृत्ति ही है। यदि अपने ही अतीत दर्द का भूलना या न पहचानना संभव है तो अपनी अतीत स्मृति को भी भूल जाना क्या संभव नहीं ? ऐसी बात प्रायः नहीं हुआ करती। किन्तु यहां प्रश्न यह नहीं है कि क्या हुआ करता है, बल्कि क्या हो सकता है इसका है। यदि एक मनोवृत्ति के ज्ञान में भूल हो सकती है तो दूसरी मनोवृत्ति के ज्ञान में भी भूल होना असंभव नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अपनी ही मनोवृत्ति के लिए स्वयं संकेतित शब्द सही है या ग़लत यह कैसे जाना जाय ? मान लें कि किसी व्यक्ति ने अपने संकतों के अपने वैयक्तिक अनुभव-संबंधी प्रयोगों की युक्तायुक्तता परखने के लिए कुछ नियम निर्धारित किये। इन नियमों पर से वह यह जानता है कि कोई प्रयोग सही है या नहीं। यह भी मानलें कि उसने ये नियम, कहीं लिख रखे हैं कि भूल न जांय। क्या ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति के प्रयोगों में ऐसी भूल हो सकती है जिसे वह स्वयं न समझ पाए ? विट्गेन्स्टाइन कहता है कि 'हाँ, ऐसे भी प्रयोग ग़लत होना असंभव नहीं।' इसका कारण यह है कि अपने ही संकेतों के स्वयं बनाये नियमों का स्वयं निर्धारित अर्थ समझना या याद करना अपना ही कार्य है जिसकी दूसरों की सहायता से कभी जांच नहीं की जा सकती। यदि दूसरों के समझने के योग्य शब्दों में संकेतों के नियम लिखे जांय तो सार्वजनिक निकष काम में आयेंगे। अत: पूर्णतया वैयक्तिक निकष ही वैयक्तिक प्रयोगों की युक्तायुक्तता निर्धारित करने के लिए अपनाने हों तो किसी भी प्रकार दूसरों की सहायता वैयक्तिक प्रयोगों की जांच के लिए नहीं ली जा सकती। और उक्त समस्या अपने वास्तविक रूप में ऐसे प्रयोगों के संबंध में ही उपस्थित होती है। वैयक्तिक अनुभव, उनकी वैयक्तिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहचान, इस पहचान की वैयक्तिक स्मृति, उसके लिए आवश्यक वैयक्तिक नियम, इन नियमों का व्यक्तिमात्र वेद्य उल्लेख, उन उल्लेखों का वैयक्तिक अनुसरण, ये सब बातें एक-दूसरे का तभी समर्थन कर सकती हैं जब उनमें से किसी एक में भी ग़लती की संभावना तर्कतः नहीं तो अन्य उपायों से पूर्णतः अपवर्जित हो। किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। अतः विट्गेन्स्टाइन का यह निष्कर्ष है कि वैयक्तिक अनुभव तक ही सीमित वैयक्तिक भाषा स्वीकार-योग्य नहीं है।

एक और तर्क के द्वारा भी इस निष्कर्ष की विट्गेन्स्टाइन ने पुष्टि की है। दूसरों के संबंध में जानने-समझने आदि के निकष सुस्पष्ट हैं और उनका ठीक-ठीक प्रयोग किया भी जाता है। यदि किसी ने कहा कि, "मैं यह बात जानता हूँ' तो इस कथन का परीक्षण सार्वजनीन कसौटियों के द्वारा किया जा सकता है। अपने संबंध में न ऐसे प्रयोग सामान्यतया किये जाते हैं न उनके परीक्षण की कोई कसौटियां अपनायी जाती हैं। मैं कोई बात जानता हूँ या नहीं, ऐसा संदेह न कभी मेरे मन में पैदा होता है न मैं कभी ऐसे संभाव्य संदेह के निराकरण के लिए प्रयत्नशील होता हूं। कम से कम किसी कसौटी को अपने लिए लागू करने की बात को मुझे हर हालत में बेतुकी-सी लगती है। इसका क्या कारण है? यदि वैयक्तिक भाषा सार्वजनिक भाषा के समान ही प्रयोगाई हो तो उसके प्रयोग हर बात में सार्वजनिक भाषा के जैसे ही होने चाहिए। चूँकि यह बात नहीं है अतः यह मानना पड़ता है कि वैयक्तिक भाषा के शब्द-प्रयोग केवल उद्गारात्मक हैं। 'मैं जानता हूँ', 'मुझे बड़ा दुःख है' इत्यादि वाक्य-खंड 'हाँ', 'ओफ्' जैसे उद्गाररूप मानकर ही सामान्य शब्द-प्रयोग और तथा-कथित वैयक्तिक शब्द-प्रयोग के उक्त भेद का संतोषप्रद स्पष्टीकरण दिया जा सकता है।

विट्गेन्स्टाइन की इस सर्वथा मौलिक विचारधारा के अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएं हैं जिनकी चर्चा वैयक्तिक भाषा की समस्या के विचार के संदर्भ में करना अतीव आवश्यक है। जैसे, 'वैयक्तिक भाषा क्या है? 'भाषा के या शब्दों के संकेत-' निर्धारण की प्रक्रिया का स्वरूप क्या है? 'शब्द-संकेतों के नियमों के अनुसरण का अर्थ क्या है? इत्यादि समस्याओं को ठीक तरह सुलझाए बिना मुख्य समस्या का कोई निश्चित हल नहीं प्राप्त किया जा सकता। अतः अधिकांश विद्वानों ने इन्हीं समस्याओं को अपनी चर्चा का विषय बनाया है। किन्तु किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि इस संग्रह की सर्वांगीण चर्चा के फलस्वरूप वैयक्तिक भाषा की संभाव्यता या असंभाव्यता का निर्णय अंतिमरूप से कर लेना संभव होगा। प्रस्तुत समस्या एक दार्शनिक समस्या ही है। अतः दार्शनिक चर्चा इसी प्रकार की अन्य समस्याओं के समान उसके स्पष्टीकरण में ही सहायक हो सकती है, पूर्ण समाधान में नहीं। पुस्तक के चुने हुए निबंधों का सारांश प्रस्तुत करने के पूर्व उक्त विचार-सारणी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबंध में एक–दो विचारणीय बातों का यहां निर्देश कर देना अनुपयुक्त न होगा। विट्गेन्स्टाइन के प्रतिपादन का निष्कर्ष है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने संबंध में ग़लती कर सकता है। यह बात मान ली जा सकती है। किन्तु क्या इस तथ्य के आधार पर यह मान लेना साधार होगा कि हरेक व्यक्ति दूसरों के संबंध में ग़लती नहीं कर सकता? यदि हमारी दृश्य चेष्टाओं से अतिरिक्त हमारे अनुभवों की कोई सत्ता न हो तो शायद उनके सार्वजनिक परीक्षण या प्रमापण की बात अर्थपूर्ण कही जा सकती है। किन्तु इस कथन के विरुद्ध दो बातें हैं जिनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात यह है कि एक व्यक्ति के अनुभव दूसरों के लिए भले ही उस व्यक्ति की दृश्य चेष्टाओं के द्वारा ही गतार्थ हों (जब वे घटित हों) किन्तु स्वयं उस व्यक्ति के लिए उनका अनुभाव्य अस्तित्त्व इन चेष्टाओं के सापेक्ष बिल्कुल नहीं होता। न केवल यह व्यक्ति अपनी चेष्टाओं को देखकर उनके प्रेरक अनुभवों का आकलन नहीं करता, यदि वह चेष्टाओं की ओर अपना अवधान केन्द्रित करे तो उनके प्रेरक अनुभव थोड़े ही समय में विलीन भी हो जाएंगे। दूसरी विचारणीय बात इस चर्चा के संदर्भ में यह है कि जिस स्वानुभव के द्वारा दूसरों के अनुभवों की अभिव्यक्ति का निरीक्षण या प्रयोगों का परीक्षण कोई भी करता है वह प्रत्येक व्यक्ति के वैयक्तिक अनुभवों के जैसा ही तो होता है? अनुभवों के विषय सब अनुभविताओं के लिए समान होने पर भी अनुभव तो हर व्यक्ति का अपना–अपना प्रातिस्विक ही होगा? तीसरी विचारणीय बात यह है कि वैयक्तिक अनुभवों के संबंध में शब्द–प्रयोग असंभव सिद्ध कर विट्गेंस्टाइन किस मनोवैज्ञानिक तथ्य को प्रस्थापित करना चाहता है? सभी आन्तरिक अनुभूतियां शब्दगम्य नहीं होतीं, यह बात अन्य दार्शनिक भी मानते ही हैं। साहित्यकार शब्दागम्य अनुभूतियों की अभिव्यंजना के लिए ही अलंकारों का प्रयोग करते हैं। यदि विट्गेन्स्टाइन का मंतव्य यही हो कि जिन अनुभूतियों की बाह्य अभिव्यक्तियां बिल्कुल नहीं होतीं उनके लिए शाब्दिक निर्देश उपयुक्त नहीं है, तो पारंपरिक दार्शनिक भी अंशतः उससे सहमत हो सकते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि विट्गेन्स्टाइन को यहां केवल भाषा-संबंधी कुछ तथ्यों का ही प्रतिपादन करना अभीष्ट नहीं है। शायद कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्यों, जैसे संवेद आदि की उनकी अभिव्यक्तियों से स्वतंत्र सत्ता नहीं है यह प्रतिपादन करना भी उसे अभिप्रेत प्रतीत होता है। किन्तु क्या उक्त तर्कों पर से ये तथ्य सिद्ध किए जा सकते हैं?

एक और बात। विट्गेन्स्टाइन कहता है कि, 'मैं जानता हूँ' 'मैं समझता हूँ' जैसे वाक्य–खंड उद्गारात्मक अतः अर्थशून्य मानने चाहिएं। यदि यह विचार ठीक है तो किसी के पूछने पर कि, 'क्या तुम यह बात जानते हो?' यदि मैं स्वीकारात्मक उत्तर दूँ तो क्या वह उत्तर उद्गारात्मक समझा जा सकता है? इसी प्रकार, 'वह जानता है' 'मैं जानता हूँ कि यह बात सही है' इस प्रकार के कथनों में 'जानना' शब्द वैयक्तिक अनुभूति की अभिव्यक्तिमात्र नहीं माना जाता। विट्गेन्स्टाइन भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा नहीं समझते। किन्तु क्या 'जानना' जैसे शब्द के सबंध में भिन्न-भिन्न प्रयोग-संदर्भ में भिन्न-भिन्न धारणाएं अपनाना किसी आधार पर समर्थनीय है ?

अब हम पीटर स्ट्रॉसन के खंडनात्मक लेख का विचार करेंगे। इस लेख में स्ट्रॉसन वैयक्तिक भाषा की संभाव्यता का समर्थन प्रस्तुत करता है। उसका मंतव्य इस प्रकार है—स्ट्रॉसन के अनुसार विट्गेन्स्टाइन एक दृढ़ और एक दुर्बल धारणा के बीच अनिश्चयात्मक स्थिति को अपनी वैयक्तिक भाषा-संबंधी उक्तियों के द्वारा व्यक्त करता है। दृढ़ धारणा यह है कि संवेदादि के वाचक शब्द नहीं होते। दुर्बल धारणा के अनुसार संवेदादिवाचक सामान्य शब्द-प्रयोगों की अर्थपूर्णता के लिए कुछ कसौटियां हुआ करती हैं जिन्हें पूर्ण न किया जाए तो संवेदादि के निर्देश में तथा संवेदादि के संबंध में भी कुछ ग़लतफहमियां हो सकती हैं। यदि इस धारणा के साथ यह बात जोड़ दी जाए कि किसी शब्द के वाच्यार्थ का वर्णन करने के लिए यह जानना ही आवश्यक है कि उसका प्रयोग करते समय कौन-सी कसौटियां लोग प्रयोग में लाते हैं तो उक्त दुर्बल धारणा पूर्वोक्त धारणा में ही अंतर्भूत हो जाती है। दृढ़ धारणा के पक्ष में विट्गेन्स्टाइन का तर्क यह है कि वैयक्तिक संवेदादि के लिए प्रयुक्त वैयक्तिक भाषा की युक्तायुक्तता की कोई कसौटी नहीं हो सकती। कोई बाह्य श्रोता उसके प्रयोगों को न जान सकता है न परख सकता है। स्वयं प्रयोक्ता भी यह बात नहीं जान सकता, क्योंकि उसका स्वनिर्मित संकेत या उस पर आधारित उसका प्रयोग सही है या नहीं, यह अवैयक्तिक रूप से तय करने का उसके पास कोई साधन नहीं है। जो भी प्रयोग उसे सही लगेगा वही सही होगा। किन्तु विट्गेन्स्टाइन का यह तर्क जैसे वैयक्तिक संवेदादि संबंधी वैयक्तिक भाषा के लिए लागू है वैसे ही रक्त, पीतादि-बोधक वैयक्तिक भाषा के लिए भी लागू है। बाह्य वस्तु-सबंधी वैयक्तिक प्रयोगों को परखने के लिए वैयक्तिक संकेत-कोश तैयार किया जा सकता है लेकिन उसका अर्थ जानना या उसे प्रयोग में लाना ये सब वैयक्तिक बातें ही हो सकती हैं। इस पर यह प्रतिवाद हो सकता है कि बाह्य वस्तु-निर्देशक वैयक्तिक शब्दों के अर्थों का परीक्षण संभव है। जैसे किसी व्यक्ति के ऐसे वैयक्तिक-निर्देशों और उनसे सहचारित अभि-व्यक्तियों आदि को देखकर कोई द्रष्टा-वक्ता के वैयक्तिक प्रयोगों और उनके अर्थों के संबंध का आकलन कर सकता है। किन्तु क्या इस कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैयक्तिक शब्दों और उनके अर्थों के इस प्रकार संबंध-निर्धारण के पूर्व ये शब्द कोई अर्थ ही नहीं रखते थे ? यदि नहीं तो जिन शब्दों के संबंध में यह निर्धारण संभाव्य नहीं उनको अर्थ-शून्य मानना कहां तक न्याय्य होगा ? इस पर शायद कोई कहे कि ऐसी भाषा जिसके प्रयोग सब प्रकार से वैयक्तिक हों, परखी ही नहीं जा सकती। लेकिन क्या यह सच है ? यदि वैयक्तिक भाषा के प्रयोक्ता ने सामान्य भाषा में अपने प्रयोगों का अर्थ दूसरों को समझाने का प्रयत्न किया तो क्या वह बिल्कुल सफल नहीं होगा ? और यह बात भी कहां तक सच है कि हम अपने प्रयोगों को भूलते रहते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा उन्हें याद रखने के लिए हमें बाह्य संदर्भों की ज़रूरत होती है ? शब्दों के पहली बार प्रयोग में लाए जाने के लिए भी ऐसे संदर्भों की आवश्यकता नहीं होती। किसी अनुभव के घटित होने पर उसका मानसिक आघात ही इतना तीव्र हो सकता है कि जिसके कारण हम उसके लिए एक नया शब्द गढ़ लें।

विट्गेन्स्टाइन का दूसरा तर्क यह है कि जब कोई 'मैं दुखी हूँ' जैसे वाक्यों का प्रयोग करता है तब वह अपने दुःख की अपनी पहचान को किन्हीं तादात्म्य-निदर्शक चिह्नों या कसौटियों पर से सूचित नहीं करता। कसौटियों के प्रयोग की बात ही इस प्रसंग में अप्रयोज्य हैं। वैसे ही दुःख की सत्ता के संबंध में संदेह की संभावना भी यहां कोई अर्थ नहीं रखती। यदि कसौटियों का प्रयोग होता तो दुःख की पहचान में ग़लती भी हो सकती थी। यहां विट्गेन्स्टाइन पूर्व-निर्दिष्ट दुर्बल सिद्धान्त को दृढ़ सिद्धान्त में परिवर्तित करने के लिए शर्त का उपयोग करते हैं कि किसी वस्तु की पहचान के लिए उसके तादात्म्य-निदर्शक कसौटियों का उपयोग आवश्यक है। किन्तु यह शर्त सही नहीं है। 'लहसुन जैसा स्वाद' 'धात्वीय स्वाद' आदि प्रयोगों के अर्थ सुस्पष्ट हैं। यहां स्वाद संवेद ही उसके पहचान की कसौटी प्रतीत होती है। हाँ, सामान्य भाषा में ऐसे स्वादों का निर्देश करने के लिए 'लहसुन जैसा', 'धात्वीय' जैसे सामान्य शब्दों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के कष्टों के लिये 'कोंचना', 'बकोटना' जैसे शब्दों का उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियां न होने पर भी प्रयोग हुआ ही करता है। पहले जैसे इन उदाहरणों में भी दूसरों को समझाने के लिए ही सादृश्य बोधक ('कोंचना' जैसे) शब्द प्रयुक्त होते हैं। दुःख की पहचान तो अपने-आप ही होती है।

दुःख-संवेद और रक्तवर्ण-संवेद इनमें सामान्यतया इतना साम्य है कि 'दुःख' को दुःखसंवेद का नाम न मानना 'रक्त' को रक्त-वर्ण का नाम न मानने के बराबर है। किन्तु इन दोनों में यह वैषम्य है कि जो रक्त को देखता है उसे 'रक्त' नहीं कहा जाता किन्तु जो दुःख अनुभव करता है उसे ही हम 'दुःखी' कहते हैं। इसी प्रकार बिना सामान्य कसौटियों (या लक्षणों) के हम किसी को 'दुःखी' कहते हुए हिचकिचाते हैं। 'दुःखी' और 'रक्त' के प्रयोगों के इस वैषम्य को एक उदाहरण द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है। कोई स्थान गर्म होने पर वहां जाने वाला कोई भी मनुष्य कहता है कि 'यहां गर्मी अधिक है।' यदि गर्मी के समान दुःख भी स्थान विशेष में फैलने वाली बात हो तो 'यहां दुःख है' जैसा प्रयोग उचित होगा। किन्तु दुःख के कारण बाह्य वस्तुएं होने या बाह्य वस्तुओं के साथ संपर्क होने पर भी दुःख का स्थान बाह्य नहीं होता। अतः दुःख संबंधी भाषा 'गर्मी' आदि का वर्णन करने वाली भाषा के समान सार्वजनिक नहीं हो सकती। यदि दुःख के संबंध में कोई सार्वजनिक निर्देश करना हो तो उसका निर्देश दुःख की दृश्य अभिव्यक्तियां ही होंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये सारी बातें सही होते हुए भी उनसे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि 'दु:ख' शब्द किसी संवेद का नाम नहीं हैं। अधिक से अधिक उक्त तर्क पर से यही सिद्ध होता है कि दु:ख संबंधी सामान्य भाषा का प्रयोग दु:खाभिव्यक्तियों पर आधारित होना चाहिए। किन्तु इसी बात में यह पूर्वकल्पित है कि सामान्यतया 'दु:ख' के संबंध में ऐसे दोनों प्रकार के वैयक्तिक प्रयोग संभव हैं। 'दु:खानुभव' का विशेष स्वरूप ही उससे संबद्ध द्विविध भाषा के प्रयोग को आपादित करता है।

स्ट्रॉसन के उक्त विचारों से नॉर्मन मालकम अंशत: भी सहमत प्रतीत नहीं होते। उनका कथन इस प्रकार है : स्ट्रॉसन ने विट्गेन्स्टाइन के विचारों के संबंध में यह विपर्यस्त धारणा बना ली है कि अदृश्य, अबाह्य, मानसिक या आन्तरिक बातों का प्रत्यय ही अस्वीकार्य है तथा इसी कारण उसके विचार में अप्रमाणीय संवेदादि के पहचान, नामकरण आदि की बातें करना तर्कसंगत नहीं है। विट्गेन्स्टाइन ने कई स्थानों में स्वप्नों का ज़िक्र किया है और कई प्रकार के वर्णनों का उल्लेख कर उनमें संवेदना के वर्णन का समावेश किया है। हाँ, यह हो सकता है कि विट्गेन्स्टाइन का उद्देश्य सामान्य भाषा में कुछ सुधार सूचित करना हो क्योंकि वह 'इन्वेस्टिगेशन्स' में एक स्थान पर कहता है कि जब संवेद-संबंधी दार्शनिक समस्या पर विचार करते हैं तब 'वर्णन' शब्द भ्रान्ति निर्माण करता है। 'मैं अपने कमरे का वर्णन करता हूँ', 'मैं अपने संवेदों का वर्णन करता हूँ' 'वर्णन' शब्द के इन दो प्रयोगों में व्याकरण की दृष्टि से साम्य होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से बहुत वैषम्य है। स्ट्रॉसन ने 'रक्त' और 'दु:ख' शब्द के प्रयोगों के साम्य के ज़ोर दिया है। वैसे दोनों ही नाम हैं। किन्तु उनके प्रयोगों में जो वैषम्य है उसे उद्घाटित करना विट्गेन्स्टाइन का मुख्य लक्ष्य है। स्ट्रॉसन इस वैषम्य को पहचानता नहीं हो, यह बात नहीं है, किन्तु वह 'दु:ख' शब्द के वैयक्तिक प्रयोग में ही इस वैषम्य का प्रकटीकरण स्वीकार करता है। सामान्य भाषा में 'दु:ख' शब्द 'रक्त' के समान ही दृश्य अभिव्यक्ति को लेकर ही प्रयुक्त हो सकता है। वैयक्तिक अनुभव-संबंधी वैयक्तिक प्रयोगों में अभिव्यक्तियों का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वैयक्तिक शब्दों के निर्माण में स्ट्रॉसन किसी प्रकार की कठिनाई महसूस नहीं करता। किसी संवेद के पुन:-पुन: घटित होने से प्रभावित होकर कोई व्यक्ति उस संवेद के लिए एक संकेत या चिह्न निर्धारित कर ले तो वह व्यक्ति बाद में कभी भी वह संवेद घटित होने पर उस संकेत का प्रयोग उसके लिये कर सकता है। इस संकेत के कारण वह संवेद उस व्यक्ति के स्मृति-पटल पर अंकित हो सकता है। किन्तु क्या इतने से ही कोई शब्द या संकेत किसी वस्तु का वाचक या निर्देशक हो जा सकता है ? शब्दों के द्वारा अर्थ निर्देशन की प्रक्रिया एक खेल या चमत्कार नहीं है कि किसी व्यक्ति के चाहने पर और किसी वस्तु की उपस्थिति में एक शब्द विशेष के प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने पर ही वह शब्द उस वस्तु का वाचक हो जाएगा। भाषा एक वैविध्यपूर्ण व्यवहार या खिलवाड़ है जिसका अभिन्न घटक हुए बिना शब्द वस्तु-निर्देश का कार्य यथावत् नहीं कर सकता। यदि किसी शब्द को संवेद निर्देशक के रूप में स्वीकार करना हो तो उसका भी संवेद-संबंधी विविध व्यवहारों का अंग होना आवश्यक है। विभिन्न संवेदों की विभिन्न उत्कटताओं के अनुरूप प्रतिक्रियाएं व्यक्त करना, विभिन्न संवेदों में चुनाव करना, सवेदों के स्थानों को निर्धारित करना आदि बातें ही संवेद संबंधी व्यवहार हैं जिन में संवेद-बोधक शब्दों का उनके अर्थों के लिए प्रयुक्त होना अतीव सामान्य बात लगती है। किन्तु विचार कर देखने पर ज्ञात होगा कि यह बात उतनी सीधीसादी नहीं है जैसी वह लगती है। स्ट्रॉसन की यह धारणा है कि विट्गेन्स्टाइन ने इनमें वैयक्तिक भाषा के प्रत्यय का खंडन नहीं किया है, केवल उसने ऐसी भाषा के सामान्य प्रयोग के लिए कुछ शर्तों के पूर्ण करने की आवश्यकता प्रतिपादित की है। जैसे, संवेदों के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाय उनको सामान्य भाषा में लाना हो तो बाह्य पदार्थों के निर्देशों के साथ इन प्रयोगों को सह-चरित होना चाहिए या संवेद की अभिव्यक्तियों का निर्देश इन शब्दों के द्वारा होना चाहिए। इस प्रकार संवेद-संबंधी वैयक्तिक भाषा वैयक्तिक होते हुए ही सामान्य प्रयोग में आ सकती है। इस धारणा का विट्गेन्स्टाइन ने इस प्रकार मज़ाक उड़ाया है, वह पूछता है क्या यह बात वैसी ही नहीं है जैसी 'रक्त' शब्द के साथ है जो शब्द कि प्रत्येक व्यक्ति को सार्वजनिक रूप से ज्ञात वस्तु का निर्देश करते हुए ही प्रत्येक व्यक्ति को केवल वैयक्तिक रूप से ज्ञात वस्तु का भी निर्देश करता प्रतीत होता है ?

वास्तविकता यह है कि यदि मेरे वैयक्तिक शब्द बाह्य वस्तुबोधक शब्दों के बिना केवल मेरे वैयक्तिक संवेदों का निर्देश ही कर सकते हों तो ये अन्य निर्देश मेरे वैयक्तिक निर्देशों के साथ बाह्यतः ही निगड़ित हो सकते हैं। इनका मेरे प्रयोगों पर इतना भी असर नहीं पड़ सकता कि उसके सहारे मैं और अन्य व्यक्ति एक-दूसरे के वैय-क्तिक प्रयोगों को समझ सकें। जो संवेद एक व्यक्ति को रक्त संवेद के रूप में प्रतीत होता है वह दूसरे को नील संवेद जैसा भी प्रतीत हो सकता है। अतः संवेद-निर्देशक शब्दों के साथ 'रक्त', 'पीत' जैसे शब्दों का प्रयोग कोई महत्त्व नहीं रख सकता। वैयक्तिक शब्दों का प्रयोग संवेदादि के निर्देशार्थ हुआ करता है। यह निर्देश वर्ण्य नहीं हो सकता। निर्देश और वर्णन के विषय भिन्न-भिन्न हैं। स्वयं निर्देश यदि वर्णनातीत है तो बाह्य वस्तु-निर्देशों के सहचार मात्र से वह वर्णन-विषय नहीं हो सकता। स्ट्रॉसन की यह ग़लत धारणा कि 'कौंचना' जैसे शब्द जैसे व्यक्तिमात्र-वेद्य संवेद का निर्देश करते हैं वैसे ही सर्वसामान्य अनुभव का भी (उनके अन्तर्गत बाह्य निर्देशों के कारण) निर्देश कर सकते हैं, उनके लिए—विट्गेन्स्टाइन के इस मौलिक विचार के ग्रहण करने में बाधक हो रही है कि संवेदादि के पहचान की बात कोई मतलब नहीं रखती। यदि कोई कहे कि 'मैं नहीं जानता कि दुःख क्या है' तो उसे 'दुःख' शब्द का अर्थ समझाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयत्न किया जा सकता है। किन्तु यदि पुनः वह कहे कि "मुझे 'दुःख' शब्द का अर्थ तो ज्ञात है लेकिन अभी मुझे यह ज्ञात नहीं हो सका कि जो हो रहा है वह दुःख है या और कुछ", तो उस पर कोई क्या कह सकता है ? अपने दुःख आदि के संबंध में अज्ञान, संदेह, विपर्यास जैसी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करना यह न केवल अस्वाभाविक है बल्कि शायद असम्भव भी है।

वैसे देखा जाय तो 'पहचानना' जैसे शब्द व्यावहारिक और दार्शनिक ऐसे दो प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त माने जा सकते हैं। यह संभव है कि अपने भीतर एक विचित्र संवेदना को अनुभव कर कोई कहे कि 'मेरी समझ में नहीं आता कि मुझे क्या हो रहा है' और थोड़े समय के बाद कुछ स्मृतियां जागृत होने पर वही व्यक्ति कहे कि "अब मुझे याद आया कि थोड़ी देर पहले ऊंचाई पर से नीचे गिरने जैसी अनुभूति मुझे हुई थी।" इस प्रकार की पहचान में अपने संवेद की अभिव्यक्ति ही विषय के रूप में उपस्थित है। अतः यह पहचान गलत साबित होने का कोई कारण नहीं है। किन्तु 'पहचान' शब्द के दार्शनिक अर्थ को लें तो 'पहचान' में ग़लती होना असंभव नहीं। मैं ही अपने संवेदों को जान-पहचान सकता हूँ। दूसरों के लिए यह नितान्त असंभव है। तब क्यों मेरी पहचान सर्वदैव ग़लत नहीं होती ? विट्गेन्स्टाइन इस वैयक्तिक संवेद की धारणा को निराधार सिद्ध करने के लिए एक कल्पना की सहायता लेने की सलाह देते हैं। कल्पना यह है कि 'हम मान लें कि हमारे संवेद बराबर बदल रहे हैं किन्तु हमारी स्मृति हमें धोखा देती रहने से इस परिवर्तन को हम नहीं जान पाते।' यह कल्पना सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि स्मृति धोखा देती है यह बात हम जान ही नहीं सकते। यदि दूसरी स्मृति पहली स्मृति की सचाई को उद्घाटित करे तो उसके विषय में भी हमें कैसे विश्वास हो ? अतः स्मृति के धोखा देने की कल्पना विचाराई नहीं है। इसीलिए अपने वैयक्तिक संवेदों को स्वयं जान-पहचान कर दूसरों को उनके बारे में जानकारी—चाहे जिस भी उपाय से—देने की बात करना कोई मतलब नहीं रखता। अपने संवेदों के बारे में जानने या पहचानने की बात करना ही अर्थशून्य है। (जो बात जानी जा सकती है उसके संबंध में भ्रान्ति या संदेह भी संभव है किन्तु अपने संवेदों के संबंध में ऐसी बात की कल्पना ही तर्कतः अपवर्जित है)।

स्ट्रॉसन रक्त संवेद की दुःख संवेद से तुलना कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि जैसे रक्त को रक्त के रूप में पहचानने के लिए कोई बाह्य निकष या कारण अपेक्षित नहीं होता वैसे ही 'दुःख' को दुःख के रूप में पहचानने के लिये भी किसी निकष की अपेक्षा है न कारण की। किन्तु स्ट्रॉसन भूल जाते हैं कि कभी-कभी रक्त वर्ण को पहचानने में भूल हो सकती है जैसे मंद प्रकाश में 'रक्त' धूसर सा प्रतीत होता है। किन्तु ऐसी भूल दुःख-संवेद के संबंध में घटित होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसके संबंध में जो भाषीय व्यवहार हुआ करता है उसका आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदाधिष्ठित चेष्टायें ही हो सकती हैं जिनके बिना संवेदों के संबंध में पहचान के द्योतक 'वही' जैसे शब्द प्रयुक्त नहीं हो सकते।

स्ट्रॉसन ने वैयक्तिक भाषा का समर्थन करते हुए कहा है कि अपने संवेदों को स्वयं ग्रहण कर ग्रहणकर्ता व्यक्ति उनके साथ अपने द्वारा संकेतित शब्दों को जोड़ सकता है। बाद में पीछे बताये मुताबिक सामान्य भाषा में इन शब्दों का प्रयोग भी (दूसरे शब्दों की सहायता से) कर सकता है। तथापि अपने प्रयोगों की सत्यता को व्यक्ति सदैव जान नहीं सकता। कभी-कभी स्मृति उसे धोखा दे सकती है। एक स्मृति की परीक्षा दूसरी स्मृति से की जाए तो उस स्मृति के संबंध में भी वही प्रश्न उठ सकता है। भाषा की वैयक्तिकता यदि तर्कतः उसकी बाह्य उपायों से अप्रमाणीयता को आपादित करती हो तो स्ट्रॉसन वैयक्तिक भाषा का कोई भी उचित समर्थन नहीं प्रस्तुत कर सकता।

संवेदादि की पुनरावृत्ति होने पर उनके संबंध में पहचान दर्शाने वाले 'वही' जैसे शब्द व्यक्ति अपने वैयक्तिक भाषीय व्यवहार में प्रयोग कर सकता है, ऐसी जो स्ट्रॉसन की धारणा है उसके संबंध में विट्गेन्स्टाइन का प्रतिवाद विचारणीय है। किसी विद्यार्थी को कहा जाए कि 'एक से हज़ार तक दो-दो के अन्तर से संख्या लिखो' तो वह १, ३, ५, ७............इस क्रम से हज़ार तक अंक लिखेगा। यदि हज़ार के बाद वह दूसरे क्रम से संख्याएं लिखते हुए भी यही समझता है कि पहले ही क्रम से उसका लिखना जारी है तो उसे पहले क्रम का स्पष्टीकरण कर समझाया जा सकता है कि हज़ार के आगे जो क्रम उसने अपनाया है वह 'वही' नहीं है जो वह चाहता है। यहां जैसे 'वही' शब्द के प्रयोग की कसौटी बाह्य है वैसे ही अन्यत्र भी वह बाह्य ही होगी। किसी आन्तरिक अनुभूति के आधार पर 'वही' होना या (किसी बात का) तादात्म्य निर्धारित करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

यही बात वैयक्तिक अनुभवों के संबंध में नियमों के अनुसरण को भी लागू होती है। मैंने शब्द-प्रयोग के या अन्य कोई नियम अपनी वैयक्तिक भाषा के क्षेत्र में ठीक तरह काम में लाए हैं या नहीं, यह जानने का साधन मेरे पास क्या है? इसका उत्तर यही होगा "मेरी नियमानुसरण की भावना या अनुभूति"। यह अनुभूति कभी-कभी भ्रान्त भी हो सकती है। जब मैंने नियमानुसारी प्रयोग नहीं किया तब भी मैं भ्रमवशात् सोच सकता हूँ कि मैंने नियमों का अनुसरण किया है। ऐसी परिस्थिति में कोई बाह्य कसौटी उपलब्ध न हो तो कैसे मैं निश्चय कर सकता हूँ कि मेरी वैयक्तिक भाषा मेरे बनाए नियमों की अनुवर्त्ती है? जो प्रयोग जब मुझे नियमानुसारी लगेगा वही मुझे नियमित मानना पड़ेगा।

अबतक जिन आपत्तियों की चर्चा की गयी वे सब वैयक्तिक भाषा के प्रत्यय की आंतरिक विसंगति का उद्घाटन करने वाली थीं। विट्गेन्स्टाइन ने एक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपत्ति की चर्चा की है जो 'बाह्य' कही जा सकती है। वह यह है कि यदि 'दुःख' आदि का प्रत्यय वैयक्तिक अनुभव से ही प्राप्त या निष्कृष्ट हो तो उसका दूसरों के दुःख के संबंध में प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? अपने दुःख की वैयक्तिक अनुभूति के साथ जो 'मेरापन' जुड़ा हुआ है उसका दूसरों के अनुभव के संबंध में अनुभव कदापि संभव नहीं है। अपने अनुभवों पर से दूसरों के अनुभव पर संक्रमण (काल्पनिक) करना यह अपने शरीर के एक अंग के दुःख से दूसरे अंग के दुःख की कल्पना करने जैसा नहीं है। न ही वह अपने दुःख को अपने शरीर से दूसरों के शरीर में महसूस करने जैसा है। यह तो 'जिस दुःख को मैं कदापि महसूस नहीं कर सकता उसे, मैं ही जिसे महसूस कर सकता हूँ उस दुःख के आधार पर, समझने का प्रयास ही है। इसका कारण यह है कि दूसरों के दुःख की कल्पना का मेरा एकमेव और सर्वश्रेष्ठ आधार मेरा अपना दुःखानुभव ही है। अतः ऐसे आधार पर की जाने वाली दूसरों के दुःख की धारणा व्याघातपूर्ण होना अनिवार्य है। जैसे कोई कहे कि 'मैं जानता हूँ कि यहां (धरती पर) पांच बजे हैं, इस कथन का तात्पर्य क्या है, अतः मैं इस उक्ति का अर्थ भी जानता हूं कि 'अभी सूरज पर पांच बजे हैं', तो सुनने वाला यही समझेगा कि वक्ता को अपने ही प्रयोगों का ठीक-ठीक अर्थबोध नहीं हुआ है। धरती पर पांच बजने के प्रत्यय को सूरज पर समय पर किसी भी प्रकार संक्रमित नहीं किया जा सकता या धरती और सूरज के समयों के तादात्म्य के प्रत्यय का यहां न कोई वैयक्तिक आनुभविक आधार या बाह्य आधार प्रस्तुत किया जा सकता है।

स्ट्रॉसन और मॉलकम की इस चर्चा में से कुछ विचारणीय बातें हमारे सामने आती हैं। स्ट्रॉसन की यह युक्ति कि वैयक्तिक भाषा सामान्य भाषा का भी काम करती है, समर्थनीय नहीं प्रतीत होती। यदि वैयक्तिक शब्दों का निर्देश्य वैयक्तिक अनुभव ही हो, जो वर्णनातीत हो, तो बाह्य वस्तुबोधक शब्दों के साहचर्य से भी वैयक्तिक शब्द इन निर्देश्यों को दूसरों तक संक्रमित नहीं कर सकते। यही बात स्ट्रॉसन के इसकथन पर भी लागू है कि यद्यपि वैयक्तिक भाषा का प्रयोग एक ही व्यक्ति कर सकता है तो भी उसके शब्दों को समझना दूसरों के लिए भी संभव है। यहां भी निर्देश्य और वर्ण्य के भेद को भुलाना उचित नहीं होगा।

स्ट्रॉसन का यह तर्क भी उचित नहीं लगता कि वैयक्तिक भाषा-संबंधी आक्षेप बाह्य पदार्थों के लिए प्रयुक्त वैयक्तिक भाषा को भी लागू हैं, क्योंकि उनके संबंध में भी परखने की वैयक्तिक कसौटियां ही उपलब्ध हो सकती हैं। आंतरिक और बाह्य पदार्थों के निर्देशन में जो फर्क है उसे भुलाया नहीं जा सकता। आंतरिक संवेदादि-निर्देश्य केवल व्यक्ति को ही ज्ञेय होते हैं किन्तु बाह्य निर्देश्य दूसरों को भी ज्ञात हो सकते हैं।

किन्तु यहां यह देखना आवश्यक है कि क्यों स्ट्रॉसन पुनः-पुनः इस बात पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़ोर देता है कि वैयक्तिक भाषा ही सामान्य प्रयोग के भी काम आ सकती है। यह बात तो स्पष्ट है कि एक व्यक्ति के संवेद कभी भी दूसरों के अनुभव-विषय नहीं हो सकते। तथापि इन संवेदों के लिए प्रयोग में लाए जाने वाले शब्द सभी लोगों की समझ में आ सकते हैं, ऐसी यदि स्ट्रासन की धारणा है तो उसका कारण यह प्रतीत होता है कि 'दुःख' 'कष्ट' आदि शब्द शुद्ध निर्देशक होते ही नहीं। ये शब्द निर्देश और वर्णन (वस्तु और भाव इन दोनों के वाचक होने से) ये दोनों कार्य करते हैं। शायद शुद्ध (वैयक्तिक) निर्देश करने वाले शब्द किसी भाषा में है ही नहीं। इसका कारण स्पष्ट है। भाषा पारस्परिक व्यवहारार्थ निर्मित हुई है। यदि उसमें केवल निर्देशक शब्द (जिनका व्यवहार के लिए कोई उपयोग न हो सकता हो) अन्तर्भूत हों तो वह भाषा का जो प्रमुख कार्य है वही नहीं कर पाएगी। स्ट्रासन तथा विट्गेन्स्टाइन दोनों को वैयक्तिक भाषा संबंधी चर्चा के लिए 'दुःख' जैसे वर्णनात्मक शब्दों को लेना ही नहीं चाहिए था। मानलें कि स्ट्राँसन ने 'वह', 'यह' जैसे सर्वनामों का अपने संवेदों के निर्देशार्थ प्रयोग किया है। यह भी मान लें कि इन सर्वनानों का एक प्रयोग-प्रसंग में एक ही निर्देश्य होता है। तब स्ट्राँसन यह नहीं कह सकता कि उक्त सर्वनाम निर्देशक और भाववाचक दोनों है। इस अवस्था में वैयक्तिक भाषा की समस्या का रूपान्तर यह होगा कि 'क्या मात्र निर्देशपरक शब्द भाव वाचक भी हो सकते हैं ?' किन्तु इस प्रश्न पर कोई विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी। इस प्रश्न का उत्तर स्पष्टतया ही नकारात्मक होगा। यद्यपि बाह्य वस्तु-निर्देशक शब्दों के संबंध में भी यह प्रश्नोत्तर संभव है तथापि इन शब्दों के साथ भाववाचकता का जुड़ जाना स्वाभाविक होने से केवल वैयक्तिक अनुभूति-निर्देशक शब्दों को लेकर ही यह विचार किया जाना उचित होगा।

अब विचारणीय प्रश्न यह होगा कि क्या केवल निर्देशक शब्दों वाली भाषा संभव हैं ? आंतरिक या बाह्य का विचार इस प्रसंग में लाने की ज़रूरत नहीं होगी। यदि सर्वनामों के, या अन्ततोगत्वा व्यक्ति-निर्देशक संज्ञाओं के, भाषागत स्थान को विट्गेन्स्टाइन स्वीकार करता है (ऐसा न करने का कोई कारण नहीं है) तो उसे भी मानना होगा कि ऐसी भाषा असंभव नहीं है। हाँ, ऐसी भाषा के शब्द सभी भाषीय व्यवहार चलाने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकते। केवल दूधमुंहे बच्चों के जैसी यह भाषा होगी।

स्ट्राँसन के इस कथन पर कि, किसी शब्द को प्रयोग में लाना बड़ी सरल बात है, मालकम ने प्रतिवाद किया है कि, किसी के चाहने मात्र से कोई शब्द किसी अर्थ का वाचक नहीं हो जाता। एक हद तक यह बात ठीक है। अपने अर्थ के साथ–शब्द का नियत साहचर्य प्रस्थापित करना पड़ता है और यह एक जटिल प्रक्रिया है। तथापि इस प्रक्रिया में महत्त्व की बात है शब्दों को अर्थ के साथ संकेत संबंध में जोड़ना।

CC-0. In Public Domain: Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरों के द्वारा इस संबंध के दर्शाये जाने पर उसे समझ पाना कभी-कभी बहुत कठिन हो सकता है। जैसे एक अपरिचित भाषाभाषी प्रदेश में पहुँचे एक व्यक्ति को पानी की आवश्यकता होने पर वह मुंह की ओर हाथ ले जाकर पूछे कि, 'इस चीज़ को क्या कहते हैं ?' तो देखने वाला उत्तर में 'मुंह के लिए,' 'मुंह खोलने के लिए', 'मुंह में हाथ डालने के लिए' या 'खाने के लिए' शब्द बतलाए तो कोई आश्चर्य नहीं। शब्दों के अर्थ समझने या समझाने की कठिनाई वस्तुओं की अपेक्षा क्रियाओं के संबंध में विशेष महसूस होती है। इसका कारण स्पष्ट है। क्रियाएं(अतीव सरल प्रतीत होने वाली भी) बहुत जटिल हुआ करती हैं। उनका नपातुला निर्देश या वर्णन करना उनके संपूर्ण परिप्रेक्ष्य का वर्णन किए बिना बहुत कठिन होता है। किन्तु अपने ही संवेदों के नामकरण में ऐसी कठिनाई उपस्थित होने का कोई कारण नहीं। स्ट्रॉसन का यह प्रतिपादन बिल्कुल युक्तिसंगत है कि कोई व्यक्ति अपने किसी अनुभव से इतना प्रभावित हो जाय कि उस अनुभव के लिए वह एक नाम गढ़ ले और उसे उस अनुभव की पुनरावृत्ति होने पर प्रयोग में लाए।

यहां विट्गेन्स्टाइन के बाह्य आपत्ति के संबंध में भी कुछ कहना आवश्यक है। अपने अनुभवों पर से दूसरों के अनुभवों की कल्पना करना व्याघात-युक्त है, यह इस आपत्ति का मर्म है। आपाततः यह कथन ठीक लगता है। किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर वह बिल्कुल अनुभव-विरुद्ध प्रतीत होगा। जो व्यक्ति अत्यधिक भावनाशील होते हैं वे ही दूसरों की भावनाओं को अच्छी तरह समझ पाते हैं। अपनी भावना अपनी होते हुए भी उसके साथ 'अपनापन' चिपके रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'सहानुभूति' शायद उस स्वाभाविक मानसिक प्रक्रिया को कहते हैं जो भावनाओं की उत्कटता को कम होते न देकर उनमें से 'स्वत्व' की अनुभूति को अलग कर देती है। कम से कम अपनी भावनाओं को दूसरों पर प्रक्षिप्त या आरोपित करते समय यह स्वत्व की अनुभूति बाधक नहीं होती, यह बात मानना तो नितान्त आवश्यक है।

अब हम आयर के 'क्या रॉबिन्सन क्रूसो जैसा (एकान्त जीवी व्यक्ति) भाषा-निर्माण कर सकता है ?' इस लेख का संक्षेप प्रस्तुत करेंगे। आयर के विचार इस प्रकार हैं: वैयक्तिक भाषा संभव है क्योंकि ऐसी भाषाएं उपलब्ध हैं। वैयक्तिक भाषा उस भाषा को कहना चाहिये जो केवल एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तिविशेषों के उपभोग के उद्देश्य से ही निर्मित है। ऐसी भाषा अनेक व्यक्तियों के समझ या प्रयोग में आ भी जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐसी अवस्था में यह भाषा वैयक्तिक नहीं रह जायगी। किन्तु दार्शनिक परिभाषा में वैयक्तिक का अर्थ उपर्युक्त नहीं है। दार्शनिक उस भाषा को वैयक्तिक कहते हैं जो अनिवार्यतया वैयक्तिक है, क्योंकि वह व्यक्ति मात्र वेद्य अनुभवों के लिए ही प्रयुक्त होती है। उदाहरणतः कार्नप मूल वाक्यों (प्रोटोकोल स्टेटमेंट्स) के संबंध में कहता है कि यदि इनके विषय वक्ता के सद्यः प्रदत्त संवेद हों तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक व्यक्ति के मूल वाक्य दूसरों के समझ में नहीं आ सकते। अतः इन वाक्यों के विषय वक्ता की दृश्य अवस्थाओं को ही (शारीरिक या अन्य विध) मानना उचित होगा। किन्तु विट्गेन्स्टाइन का मत यह है कि जो व्यक्ति भाषा का वैयक्तिक अनुभवों के लिए प्रयोग करना चाहता है वह न केवल दूसरों के साथ, बल्कि अपने साथ भी कोई संपर्क प्रस्थापित नहीं कर सकता। इस बात को वह इस प्रकार स्पष्ट करता है: कल्पना करें कि मैं अपने एक संवेद की घटना को अपनी डायरी में (जब–जब वह घटित होती है) किसी संकेत के द्वारा दर्ज करता हूँ। ऐसा करने के लिए मुझे उस घटना की ओर ध्यान देना पड़ेगा क्योंकि ऐसा करने से ही वह घटना और उसका संकेत इनमें संबंध प्रस्थापित होगा और उसे मैं बाद में याद कर सकूंगा। किन्तु यदि गलत ढंग से मैं इस बात का स्मरण करूं तो क्या वह स्मरण ग़लत होगा ? नहीं। जो मुझे सही लगेगा वही मेरी स्मृति के लिए सही होगा। कह सकते हैं कि एक तालिका बनाकर उसकी सहायता से अपने संकेतों के प्रयोग की सत्यासत्यता परखना मेरे लिए संभव है। लेकिन यदि यह तालिका भी काल्पनिक हो तो ? स्मृति पर से यह बात परखने की बात तभी की जा सकती है जब कोई स्मृति स्वतंत्र रूप से विश्वासार्ह सिद्ध हो। हर स्मृति को दूसरी स्मृति से ही प्रमाणित करना हो तो स्मृति का उक्त कार्य के लिए कोई उपयोग नहीं हो सकता।

यदि संवेदों को बाह्य अभिव्यक्तियों या घटनाओं के साथ संयुक्त किया जाय तो इस कठिनाई का निवारण हो सकता है। जैसे मानलें कि जब मुझे कोई संवेद हुआ उसी समय मेरा रक्तचाप बढ़ जाता है। इसी समय मैं अपने संवेद को पहचान कर उसके लिए कोई संकेत निर्धारित करता हूँ। अब मैं बाद में इस संवेद को ठीक तरह पहचानूं या नहीं, यदि मेरा रक्तचाप अनिवार्यतः बढ़ जाता है तो मैं यही मानूंगा कि मेरा पूर्वतन संवेद ही घटित हुआ है।

इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सार्वजनिक वस्तुओं के संबंध में भी प्रत्येक व्यक्ति को अपने तत्संबधी अनुभवों पर से ही अपने शब्द-प्रयोगों की युक्तायुक्तता परखना संभव है। दूसरों के प्रयोगों को देखना, सुनना, समझना मुझे ही पड़ता है। किन्तु यदि बाह्य वस्तुओं के संबंध में यह परख मैं कर सकता हूँ तो अपने वैयक्तिक संवेदों के बारे में वही बात मैं क्यों नहीं कर सकता ? इस पर यह प्रतिवाद ठीक नहीं कि सार्वजनिक वस्तुओं की ओर इशारा कर उनके साथ अपने शब्द-प्रयोगों को मैं परिभाषया जोड़ सकता हूँ। अपने संवेदों की ओर भी मुझे इशारा करना संभव है। और केवल इशारे का तो कोई मतलब है नहीं। उसे मतलब तो मैं प्रदान करता हूँ। यह बात बाह्य या आन्तरिक बातों के लिए समान रूप से लागू है। इस पर यह प्रतिप्रश्न हो सकता है कि वस्तु की ओर इशारा करना दूसरों को अपने प्रयोगों का अर्थ समझाने के लिए आवश्यक है और यह बात संवेदों के संबंध में संभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। अतः मैं अपने वैयक्तिक शब्दों को दूसरों के लिए दृश्य रूप से (ओस्टेंसिवली) परिभाषित नहीं कर सकता। इस प्रश्न के दो पूर्वाभ्युपगम हैं: एक यह कि किसी संकेत को समझने के लिए उसके द्वारा निर्देश्य वस्तु का या इस वस्तु से सहचरित अन्य वस्तु का निरीक्षण आवश्यक है। दूसरा पूर्वाभ्युपगम यह है कि कोई संकेत तबतक अर्थ-पूर्ण नहीं माना जा सकता या उसे अर्थवाही नहीं बनाया जा सकता जबतक उसे अन्य लोग समझ न पाएं। ये दोनों अभ्युपगम असत्य हैं। पहले हम दूसरे अभ्युपगम का विचार करें। कल्पना करें कि कोई रॉबिन्सन क्रूसो जैसा आदमी शैशवावस्था से ही एक निर्जन द्वीप में किसी तरह पाला-पोसा जाकर बड़ा होता है। यद्यपि उसका दूसरे किसी मनुष्य के साथ संपर्क प्रस्थापित नहीं होता तो भी यह असंभव नहीं कि वह अपने इर्दगिर्द की वस्तुओं, घटनाओं आदि के लिए शब्दों का निर्माण करलें। अब आगे यह कल्पना करें कि यह व्यक्ति अपने संवेदों के लिए भी संकतों का निर्माण करता है। इन दो प्रकार के शब्दों या संकेतों में परीक्षणीयता की दृष्टि से क्या अन्तर है ? दोनों की परख स्मृति से ही हो सकती है। आकाश में उड़ती चिड़िया के लिए गढ़े हुए शब्द के और अपने किसी संवेदों के लिए गढ़े हुए शब्द के पुनः प्रयोगों को परखने की स्मृति के सिवा और क्या कसौटी उस व्यक्ति के पास हो सकती है ? किन्तु स्मृति स्वयं विश्वसनीय न हो और एक स्मृति के प्रमापण के लिए दूसरी और दूसरी के प्रमापण के लिए तीसरी इस प्रकार स्मृति-परम्परा की शरण लेनी पड़े तो निश्चित शब्द-प्रयोग का आधार ही कहां रह जायगा ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि स्मृति के अतिरिक्त कोई पहचान का साधन उपलब्ध नहीं है तथापि संवेदों की पहचान ही नहीं हो सकती या जो पहचान होती है वह ग़लत या सही नहीं हो सकती ऐसा समझना ठीक नहीं है। जबतक क्रूसो अपने मनुष्य-विरहित द्वीप में अकेला रहता है उसके लिए बाह्य और अन्तर का भेद उसी बात पर आधारित है कि बाह्य बातों से उसके आन्तरिक अनुभव अधिक अस्थिर हैं। अब इस फर्क को ध्यान में रखते हुए हमें एक नयी परिस्थिति की कल्पना करनी है। वह यह है कि इस क्रूसो के द्वीप में अकस्मात् एक मनुष्य (जिसका क्रूसो संबंधी उपन्यास के लेखक ने 'मैन फाइडे' यह नाम रखा है) अवतीर्ण होता है। क्या इस मनुष्य के वहां उपस्थित होने मात्र से अपने अनुभवों को व्यक्त करने या उन्हें पहचानने या उनके लिए उपयुक्त शब्द प्रयोग में लाने की क्षमता क्रूसो में आ जाती है ऐसा मानना उचित होगा ? क्या क्रूसो अपने अनुभवों या परिवेश को जानकर या देखकर उनके स्वरूप को स्वयं ठीक पहचान नहीं सकता और पहचानने पर उनके लिए उपयुक्त शब्द स्वयं प्रयोग में नहीं ला सकता और जिन शब्दों का वह प्रयोग करेगा उन्हें अपनी डायरी में (बिना फ्राइडे की किसी प्रकार की मदद के) उतार नहीं सकता ? यहां क्रूसो के बाह्य परिवेश संबंधी तथा संवेद संबंधी अनुभवों में अन्तर यह है कि परिवेश के विषय में जानकारी की कोई भूल हो जाय तो उसे पुनरीक्षण के द्वारा क्रूसो सुधार सकता है। जैसे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी एक पक्षी को एकबार देखकर उसने उसका कुछ नाम रखा तो दूसरी बार उस जैसे किसी अन्य पक्षी को देखकर पहले पक्षी का ही नाम उसे याद आया तो इस भूल को वह दूसरे पक्षी को दुबारा देखकर, याने बाह्य कसौटी की मदद से ही सुधार सकता है। यह बात संवेदों के संबंध में संभव नहीं है, क्योंकि एक संवेद दो–बार घटित नहीं होता। यहां स्मृति की ही शरण लेनी पड़ेगी। लेकिन स्मृति भी संवेद जैसा ही एक अनुभव है। अतः स्मृति पर से संवेदों को परखना किसी अख़बार की एक प्रति की ग़लती को दूसरी प्रति पर से सुधारने के प्रयास जैसा होगा। किन्तु यदि ये प्रतियां इस तरह छपी हों कि एक की अशुद्धियां दूसरे में नहीं उतरतीं तो इस उपाय से भी अशुद्धियों को सुधारना संभव है। स्मृति अख़बार की शुद्ध या अशुद्ध प्रति जैसी वस्तु न होने पर भी, संवेदों को परखने की प्रक्रिया की कहीं न कहीं परिसमाप्ति मानना आवश्यक ही है। किसी न किसी अनुभूति को अंतिम निर्णायक माने बिना किसी भी अन्तर या बाह्य परीक्षण का अन्त भी होगा ही नहीं। और मान भी लें कि परीक्षण पूर्ण नहीं होता तो भी संवेदों की सही या ग़लत पहचान ही नहीं हो सकती, यह समझना ठीक नहीं है। यह समझना भी ठीक नहीं है कि अपने जिन संवेदों की बाह्य दृश्य-अभिव्यक्तियां नहीं हैं उनके लिए स्वप्रयुक्त शब्दों को क्रूसो फ्राइडे को पढ़ा ही नहीं सकता। शब्द-प्रयोगों को दूसरों को पढ़ाने के लिए स्वयं उन्हें जानना नितान्त आवश्यक है किन्तु दूसरों के समझने की आवश्यकता अपने किये शब्द-प्रयोगों के लिए नहीं है। इसके आगे जाकर यह भी कहा जा सकता है कि बिना स्वयं अनुभव प्राप्त किये क्रूसो के संवेदों को फ्राइडे जान सकता है। पुरः स्थित वस्तु के निर्देशक शब्दों को जानना, जिसे प्रात्यक्षिक परिभाषा (ओस्टेंसिव डेफिनीशन) कहा जाता है– यह शब्द-प्रयोगों की अवगति का एकमेव उपाय नहीं है। प्रायः अभिव्यक्तियों की सहायता से ही बच्चों को 'दुःख' जैसे शब्दों के सही प्रयोग समझाये जाते हैं। इसके विपरीत बातें भी देखने में आ सकती हैं। यदि दो व्यक्ति एक-दूसरे में इस तरह उलझ गये हों कि एक की जैसी ही अनुभूतियाँ दूसरे को भी हुआ करती हों तो दोनों को पारस्परिक संवेदों का ज्ञान एक-दूसरे की बाह्य अभिव्यक्तियों के निरीक्षण के बिना ही होगा (और वह अपनी सत्यता के विश्वास से सहचरित ही होगा)। इसी प्रकार फ्राइडे क्रूसो के वैयक्तिक प्रयोगों को, बिना क्रूसो की बाह्य चेष्टाओं के देखे भी, समझने की क्षमता रख सकता है। इस बात का प्रमाण यही होगा कि क्रूसो की अनुभूति और फ्राइडे की प्रतिक्रियाएं एक-दूसरे के अनुरूप होंगी। यह बात जरूर है कि यह अनुरूपता फ्राइडे की जानकारी का पूर्ण प्रमाण नहीं हो सकती। सार्वजनिक वस्तु-निर्देशक शब्दों के प्रयोग की जानकारी के संबंध में भी तो यह अनिश्चितता होती ही है ? एक का प्रयोग दूसरे ने ठीक तरह समझ लिया, यह किस आधार पर निश्चय से कहा जा सकता है ?

एक कदम आगे जाकर हम यह भी मान सकते हैं कि फ्राइडे क्रूसो के उन्हीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवेदों को, जिन्हें उसने स्वयं अनुभव किया है, जान सकता है और उनके निर्देशक प्रयोगों को समझ सकता है, ऐसी बात नहीं है। जिनका फ्राइडे को तनिक भी अनुभव नहीं है ऐसे क्रूसो के संवेदों को जानकर वह उनके लिए उपयुक्त शब्द-प्रयोग भी कर सकता है। यह बात कुछ विचित्र तो लगती है किन्तु वह अतर्कोचित बिल्कुल नहीं है। किसी अनुभव को समझने के लिए उसे स्वयं प्राप्त करने की कोई अवश्यकता नहीं है। अतः यदि दूसरों के अंतरंग अनुभवों का ज्ञान प्राप्य है तो "वैयक्तिक" और "सार्वजनिक" के प्रत्ययों की दूसरे ढंग से परिभाषित करने की आवश्यकता पड़ सकती है। कार्नप के अनुसार वैयक्तिकता संवेदों जैसी वस्तुओं का और सार्वजनिकता मेज़, कुर्सी जैसी वस्तुओं का स्वाभाविक धर्म है। किन्तु संवेदों को हम मेज़, कुर्सी के स्तर पर लाने (के लिए सर्वसाधारण संवेद-बोधक संकेतों का निर्माण कर सकते हैं और मेज़, कुर्सी को प्रत्येक व्यक्ति के मेज़ादि विषयक संवेद के स्तर पर ले जाकर) मेज़, कुर्सी आदि के वैयक्तिक प्रत्ययों का पुरस्कार कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में सिरदर्द जैसी बातें सामान्य हो जायगी और मेज़, कुर्सी आदि वैयक्तिक संवेदों का स्थान ग्रहण कर लेंगे। इस तरह का परिवर्तन भाषा में संभव होने पर भी यदि नहीं किया जाता तो उसका कारण यही है कि वह असुविधाजनक है। यदि यह सत्य हो कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही मेज़-संवेद को जानता है दूसरे के मेज़-संवेद को नहीं, या यह भी सत्य हो कि कोई व्यक्ति दूसरे की भावनाओं को न महसूस कर सकता है न जान सकता है, तो भी दोनों अवस्थाओं में यह निष्कर्ष कदापि निकाला नहीं जा सकता कि एक व्यक्ति दूसरे के स्वीय संवेद-संबंधी प्रयोगों या वर्णनों को समझ ही नहीं सकता।

इन सब तर्कों का फलित यह है कि किसी व्यक्ति के किसी वर्णनात्मक भाषा के साथ प्रयोग के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई अन्य व्यक्ति उस प्रयोग को समझ सके, न ही किसी व्यक्ति को ऐसे प्रयोग को समझने के लिए यह आवश्यक है कि वह वर्ण्य वस्तु या उससे संबद्ध किसी वस्तु या घटना का स्वयं निरीक्षण करे।

एयर की यह चर्चा कई नयी बातें हमारे सामने उपस्थित करती है। उक्त समस्या के दो प्रमुख पक्ष—वैयक्तिक शब्द प्रयोग स्वयं समझना और इनका दूसरों को समझाना या दूसरों के द्वारा इनका समझना—इन पर एयर ने जो बातें कही हैं वे विचारणीय हैं। पहले पक्ष के संबंध में एयर का मौलिक सुझाव यह है कि भाषीय व्यवहार (चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक) और उसकी सत्यासत्यता की परख,ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न और अंशतः परस्पर-निरपेक्ष बातें हैं। परखने का प्रश्न संदेह या भ्रान्ति की स्थिति में ही पैदा होता है। यदि किसी भाषीय व्यवहार का परीक्षण संभव न हो तो वह व्यवहार ही नहीं, ऐसा समझना दुराग्रह है। तर्कतः भी यदि कोई व्यवहार परीक्ष्य न हो तो उसे भाषीय माना जाय या नहीं, ऐसा कोई पूछ सकता है। इस प्रश्न का उत्तर एयर के कथनों से जो सूचित होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह यही है कि कोई भी भाषीय व्यवहार तर्कत: अपरीक्ष्य नहीं है। क्रूसो गूंगा भी रहता तो भी फ्राइडे उसके अनुभवों को बिना उनकी किसी अभिव्यक्ति को देखे या जाने समझ सकता है और उनके लिए प्रयुक्त शब्दों के अर्थ को इसी कारण ग्रहण कर सकता है। विट्गेन्स्टाइन को यह बात असंभव लगने का कारण यह है कि वह वैयक्तिक अनुभवों और भाषा-प्रयोग के क्षेत्रों को एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न मानता है। यह बात एक सीमा तक सही भी है। गूढ़ आध्यात्मिक अनुभूतियां शब्दातीत ही समझी जाती हैं। किन्तु ऐसी भी अनुभूतियों का मनन या चिन्तन अनुभविता स्वयं कर ही सकता है। इसके संबंध में विट्गेन्स्टाइन को जो आपत्ति है वह भी साधार नहीं प्रतीत होती। इसका एक कारण यह है कि सामान्यतया अपनी अनुभूतियों के संबंध में हम तटस्थ वृत्ति नहीं अपनाते तथापि कभी-कभी ऐसी वृत्ति से इनका अन्तर्निरीक्षण या मनन हम करते ही हैं। दूसरा कारण यह है कि हमारी सभी अनुभूतियों के संशयास्पद होने पर भी साक्षि प्रत्यक्ष, और अंततोगत्वा संशयातीत, मानना ही पड़ता है। विट्गेन्स्टाइन विभिन्न व्यवितयों के अनुभवों के संवाद को अंतिम प्रमाण मानता है। किन्तु यदि प्रत्येक व्यक्ति का ही अनुभव संशयास्पद हो तो उनका संवाद भी कैसे अन्तिम प्रमाण माना जाय? विट्गेन्स्टाइन समझता है कि सभी परीक्षण (बाह्य प्रक्रियाएं हैं। लेकिन वह भूल जाता है कि परीक्षण) व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली आनुभविक प्रक्रिया है। इसका प्रारम्भ कहीं भी हो, इसकी परिसमाप्ति तो विभिन्न व्यक्तियों की वैयक्तिक अनुभूति में ही होना अनिवार्य है।

उक्त समस्या के दूसरे पक्ष के संबंध में भी एयर का कथन अतीव मौलिक तथा मननीय है। किसी वर्णनात्मक शब्द-प्रयोग को समझने के लिए वर्ण्य विषय का निरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं, यह जो एयर कहता है उसका मर्म यह है कि शब्द-जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष के जैसा सर्वदा नहीं होता। प्रत्यक्ष के लिए विषय का (सम्मुख उपस्थित होना आवश्यक है। शब्द–बोध में परोक्ष वस्तु का) भी सामान्य रूप से निर्देश किया जाता है। दूसरों के अनुभवों को स्वयं प्राप्त किये बिना भी उनके संबंध में शाब्दिक (निर्देश) व्यवहार करना संभव ही नहीं अत्यन्त स्वाभाविक भी है। हाँ, किसी को किसी शाब्दिक (व्यवहार के बारे में समझाना हो तो स्वयं उस) व्यवहार-विषय का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य या आवश्यक है। समझने–समझाने में यह जो अंतर है उसका कारण समझाने वाले और समझानेवाले की भूमिकाओं का भेद है। समझाने वाला शब्दादि अभिव्यक्तियों का प्रयोग अपने अनुभवों को समझने वाले तक संक्रमित करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। अभिव्यक्तियां उसके लिए गौण होती हैं, अनुभव ही प्रधान होता है। समझने वाला यदि अभिव्यक्ति तक ही अपनी दृष्टि सीमित रखें तो उनके पीछे छिपे अनुभवों का वह आकलन ठीक तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कर पाएगा । तो भी कुछ न कुछ जानकारी उसे प्राप्त होगी ही । हाँ, जिन गूढ़ अनुभूतियों के संबंध में अभिव्यक्तियों का कोई महत्त्व नहीं है उनके शाब्दिक आकलन का प्रश्न यदि उपस्थित किया जाय तो उसका उत्तर देना सरल नहीं होगा ।

प्रारम्भ में ही इस बात का उल्लेख किया गया था कि वैयक्तिक भाषा की समस्या के अन्तर्गत दो-तीन उप समस्याएं हैं जिनकी विभिन्न दार्शनिकों ने स्वयं भी स्वतंत्र रूप से चर्चा की है । इस समीक्षात्मक संक्षेप में एक ही उप समस्या का—क्या वैयक्तिक भाषा संभव है—विचार तीन प्रमुख प्रतिनिधि दार्शनिकों के लेखों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है । अन्य उप-समस्याओं संबंधी विचार तथा उनकी समीक्षा दूसरे प्रसंग में प्रस्तुत की जायगी ।

नागपुर विश्वविद्यालय

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संवादी विसंवाद : धर्मों का अन्योन्याश्रयत्व*

हर्षनारायण

आर० सी० ज़ेनर तुलनात्मक धर्म-तत्व के शीर्षस्थ विद्वान हैं। ये पहले जरथुष्ट्रीय धर्म, विशेषतः उसकी अन्तिम अवस्था, के विशेषज्ञ के रूप में उभरे और इन्होंने तद्विषयक तीन पुस्तकें प्रकाशित कीं। बाद में इन्होंने तुलनात्मक धर्मानुभव अथवा रहस्यवाद (मिस्टिसिज़म) पर दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित कीं—'मिस्टि-सिज़्मः सेक्रेड एण्ड प्रोफेन' और 'हिन्दू एण्ड मुस्लिम मिस्टिसिज़्म'। 'मिस्टिसिज़म सेक्रेड एण्ड प्रोफेन' के प्रकाशन को एक घटना माना गया, विलियम जेम्स की पुस्तक 'वैराइटीज़ ऑव रिलिजस एक्सपीरियेन्स' के बाद धर्मानुभव-विषयक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन। इनकी अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं— द कैथोलिक चर्च एण्ड द वर्ल्ड रिलि-जन्स', 'द कन्वर्जेन्ट स्पिरिट,' 'हिन्दुइज़्म' और 'कांकार्डेन्ट डिस्कार्ड : दि इन्टरडिपेन्डेन्स ऑव फेथ्स' (संवादी विसंवाद : धर्मों का अन्योन्याश्रयत्व) अन्तिम पुस्तक ही प्रस्तुत निबन्ध का विषय है। यह जेनर द्वारा सेन्ट एण्ड्रयूज़ में 1967-69 में प्राकृत धर्म (नैचुरल रिलिजन) पर दी गयी व्याख्यानमाला का एक विपुलकाय संग्रह है।

कुछ लोग सब धर्मों की बुनियादी एकता के पोषक हैं, कुछ अन्य लोग सर्व धर्म-समभाव के प्रचारक हैं, और सबसे अधिक संख्या उन धर्मज्ञों की है जो सभी धर्मों का पर्यवसान परात्पर धर्मानुभव अथवा रहस्यवाद में मानते हैं और जिन्हें रहस्यवाद सर्वत्र एक ही प्रकार का दिखायी देता है। 'मिस्टिसिज़्म, सेक्रेड एण्ड प्रोफेन' में यह स्थापित किया गया है कि रहस्यवाद सर्वत्र एक ही प्रकार का नहीं हो सकता, कि उसके नानारूप प्रकाश में आए हैं। यह निश्चय ही एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण है जिसकी इतनी सयुक्तिक मीमांसा पहले कभी नहीं हुई थी। उक्त लेखक की दूसरी पुस्तक 'द कन्वर्जेन्ट स्पिरिट' में यह दिखलाया गया है कि धर्म दो प्रकार के होते हैं—व्यष्टिपरक (सॉलिटरी) और समष्टिपरक (सॉलि-डरी)। व्यष्टिपरक धर्म का ध्येय व्यक्ति का मोक्ष है, जबकि समष्टिपरक धर्म का लक्ष्य है समष्टि का मोक्ष। इस पुस्तक में यह भी स्थापना की गई है कि इन दोनों प्रकार

---

* Concordant Discord : The Interdependence of Faiths by R. C. Zochner, Clerendun Press, 1970.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के धर्मों का पर्यवसान कैथोलिक-ईसाई धर्म में होता या हो सकता है। हमारे समीक्ष्य ग्रन्थ 'कांकार्डेन्ट डिस्कॉर्ड' में इन दोनों पुस्तकों की विषय-वस्तु को अधिक व्यापक संदर्भ में समन्वित समुपबृंहित और समुपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।

'कांकॉर्ड डिस्कॉर्ड' में कुल २० अध्याय हैं। प्रथम दो अध्यायों को भूमिका समझना चाहिए। अध्याय ३-१० में धर्मानुभव के वैविध्य की समस्या उठायी गई है और भारतीय सूत्रों से उसके समाधान की खोज की गई है। शेषांश में पहले भारत के व्यष्टिपरक रहस्यवाद और नव्यकन्फ्युशसवाद के समष्टिपरक दृष्टिकोण के बीच की कड़ी के रूप में ताओ-वाद की मीमांसा की गई है, फिर, लेखक की लेखनी स्वाभाविक गति से बौद्ध ध्यान-सम्प्रदाय और उसके बाद मध्यकालीन ईसाई रहस्य-वाद की ओर मुड़ गई है। अन्ततः, निरूपित धर्मों के सदर्भ में ईसाई धर्म तथा रूशो से बर्नानोस और तेलार द शार्दें (Teilhardt de Chardin) तक सीमान्तीय (फ्रिंज) कैथोलिकों का पुनर्मूल्यांकन किया गया है। लेखक अपने सम्पूर्ण विचारविन्यास में फ्रांसीसी सन्त फ्रांश्वा द साल (Francois de Sales) का ऋणी जान पड़ता है। पुस्तक का शीर्षक भी वस्तुतः इसी सन्त की एक पुस्तक से लिया गया है।

जेनर का कहना है कि सर्वधर्म-समन्वय के सारे प्रयत्न समन्वयाभास ही उत्पन्न कर सकें हैं और केवल 'ऊपरी' शाब्दिक और अतः कृत्रिम मात्र सिद्ध हुए हैं। राधाकृष्णन् के धर्मसमन्वयवाद का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि राधाकृष्णन् के अनुसार अद्वैत वेदान्त पारमार्थिक सत्य है और अन्य धर्म व्यावहारिक पक्ष हैं जो उसी तक ले जाते है। जेनर की विप्रतिपत्ति है कि विविध धर्मों से मनमाने उदाहरण देकर ऐसे सिद्धांत को जो चाहे पुष्ट कर सकता है, किन्तु वह सब सतही, मिथ्या और अवांछनीय ही होगा। अतः जेनर ने धर्मों में मौलिक भेद की सम्यक् मीमांसा करते हुए यह दिखाने की चेष्टा की है कि उनमें वहां तक संगति स्थापित की जा सकती है। पुस्तक शीर्षक—संवादी विसंवाद, अथवा संगतिपरक विसंगति—में भी इसी तथ्य की घोषणा है।

जेनर धर्मों के वैचित्र्य को श्लाध्य और अभिनन्दनीय नहीं मानते, उसे एक अभिशाप और कलंक मानते हैं। यही कारण है कि विसंवाद में भी किसी संवाद की खोज में रत हैं। उनके अनुसार प्राच्य और पाश्चात्य, भारतीय और सामी विचार-धाराएँ मूलतः भिन्न हैं, वस्तुतः वे एक अथवा समान प्रतिज्ञा (प्रेमिस) से आरम्भ ही नहीं होतीं। इनमें सामान्य सिद्धांत बस एक है, मुक्तिवाद। किन्तु मुक्ति किससे ? इस प्रश्न पर बिल्कुल मतैक्य नहीं है। तथापि वे धार्मिक इतिहास की प्रक्रिया में एक समन्वित ढांचा पाते हैं, और समन्वय का केन्द्र है ईसा मसीह। इस प्रकार, यद्यपि धर्मों का आरम्भ-बिन्दु एक नहीं है, तथापि उनका सन्निपात अथवा संगम एक ही बिन्दु पर घटित होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर धर्मों के दो भेद बताये गये हैं—व्यष्टिपरक धर्म और समष्टिपरक धर्म। भारतीय धर्म व्यष्टिपरक हैं और यहूदी तथा इस्लाम धर्म प्रायः समष्टिपरक। व्यष्टि-परक धर्मों में प्रायः रहस्यवाद की प्रवृत्ति प्रबल है, अतः वे रहस्यवादी धर्म (मिस्टिकल रिलीजन) भी कहे जाते हैं। समष्टिपरक धर्म पैगम्बरों, ईश-दूतों, ईश्वर के संदेशहरों (प्रॉफ़ेट) के चलाये हुए हैं, अतः उन्हें पैगम्बरी धर्म (प्रॉफेटिक रिलिजंस्) भी कहते हैं। अब, एक ओर व्यष्टिपरक, रहस्यवादी अथवा भारतीय और दूसरी ओर समष्टिपरक, पैगम्बरी अथवा सभी धर्मों के बीच की खाई तो बड़ी है ही, भारतीय धर्म परम्पराओं के बीच भी पर्याप्त बड़ी खाइयां हैं। ज़ेनर के अनुसार, हिन्दू-लेखक समन्वय-स्थापन की उत्सुकता में वस्तुस्थिति पर लीपापोती करने में कुशल हैं, किन्तु मानना ही होगा कि भारतीय धर्मों के बीच ऐसी खाइयां भी विद्यमान हैं जो कभी पाटी नहीं जा सकती। हाँ, इन परस्पर भिन्न धर्मों को एक व्यवस्थित ढांचे में सन्नि-विष्ट अवश्य किया जा सकता है, जैसाकि इस ग्रन्थ में करने का प्रयास किया गया है।

पैगम्बरी धर्म यहूदी और इस्लाम धर्म हैं। ज़ेनर ईसाई धर्म को पैगम्बरी धर्म मानने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि उसके प्रवर्तक ईसा पैगम्बर नहीं बल्कि ईश्वर के पुत्र अथवा ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त, ईसाई धर्म में आरंभ से ही रहस्यवाद का पुट दिखाई देता है जिसके कारण यह रहस्यवादी धर्मों के भी निकट आ जाता है। किन्तु इसे शुद्ध रूप से रहस्यवादी भी नहीं माना जा सकता। ज़ेनर के अनुसार यह पैगम्बरी और रहस्यवादी धर्मों के बीच में आता है और धर्म की एक तीसरी विधा का प्रतिनिधित्व करता है।

उक्त दोनों प्रकार के धर्मों में मौलिक भेद सकारण है। सामी धर्मों के प्रवर्तक पैगम्बर रहे हैं। पैगम्बर को सगुण ईश्वर से पैगाम (संदेश) प्राप्त होता है, वह चाहे या न चाहे। वह उस संदेश को मानवता तक पहुँचा देने को बाध्य होता है। संदेश प्रायः उग्र और प्रचण्ड होता है, जिसके दो पक्ष होते हैं—भयोत्पाद और आश्वासन। राधाकृष्णन् के शब्दों में, जो स्वयं ज़ेनर ने उद्धृत किये हैं, पैगम्बरों का ईश्वर 'केवल बुद्ध्यसंगत (इर्रेशनल) नहीं बलिक क्रूर, प्रतिशोधी (विन्डिक्टिव) और असभ्य भी होता है।

यहूदियों का दावा है कि पैगम्बर केवल उन्हीं की जाति में हुए हैं। ज़ेनर के अनुसार अपवाद केवल दो हैं—अरब में मुहम्मद और प्राचीन ईरान में जरथुष्ट्र। जरथुष्ट्र का प्रभाव तो यहूदी धर्म पर भी प्रभूत मात्रा में दिखायी देता है और ईसा-इयत तथा इस्लाम यहूदी धर्म की ही सन्तानें हैं। मोटे तौर पर जरथुष्ट्री धर्म से सामी धर्मों में गृहीत तत्व ये हैं—स्वर्ग और नरक, अशुभ की वास्तव सत्ता, अन्तिम निर्णय का दिन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़ेनर ने यहूदी और इस्लाम धर्मों में मान्य ईश्वर का एक भयावह चित्र खींचा है। इन धर्मों का ईश्वर ईर्ष्यालु ईश्वर है। वह एक रक्तपिपासु ईश्वर भी है। यह रक्त पिपासु ईश्वर ईसाई धर्म में स्नेहालु पिता कैसे बन गया, यह आश्चर्य की बात है। यहूदी और इस्लामी ईश्वर क्रूरता में अपना सानी नहीं रखता। ज़ेनर का यहां तक कहना है कि मध्ययुग के चर्च ने यहूदी धर्मग्रन्थ 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को लैटिन में ही रखकर असाधारण बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था। किन्तु क्या ईसाई चर्च ने उक्त धर्मग्रन्थ को अपने धर्मग्रन्थ 'न्यू टेस्टामेन्ट' के साथ रखकर भूल की ? ज़ेनर कहते हैं कि नहीं, क्योंकि ईसा का महान् कार्य 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' की पृष्ठभूमि में ही आकलित हो सकता है। किन्तु चर्च को उसकी पुनर्व्याख्या का पूरा अधिकार ही नहीं उसका यह कर्तव्य भी है।

आधुनिक युग में धर्म को गम्भीरतापूर्वक अपनाने वाले विचारकों पर रहस्यवादी धर्म-प्रवृत्तियों का प्रभाव बढ़ा है। हिन्दुओं के वेदान्त और बौद्धों के ध्यान-सम्प्रदाय की आज अधिक ख्याति है। आल्डस हक्सले इस नयी प्रवृत्ति के अन्यतम पोषक थे। (इन्होंने मैस्केलिन का सेवन करके बोधि प्राप्त की। इस औषधि के प्रभाव में उन्हें सच्चिदानन्द की अनुभूति हुई थी। कुछ लोग एल० एस० डी० का सेवन कर वैसी ही अनुभूति प्राप्त करने लगे हैं।)

रहस्यवाद की परिभाषा की जाती है—मानवता की परम तत्व के साक्षात्कार अथवा संप्राप्ति के लिए सर्वतोमुखी अभीप्सा। ज़ेनर रहस्यवाद अथवा रहस्यात्मक अनुभव को तीन कोटियों में विभक्त करते हैं। कई रहस्यवादियों को यह अनुभव होता है कि मानवीय आत्मा सम्पूर्ण प्रकृति-मण्डल को अन्तर्भूत अथवा आत्मसात् किए हुए है, कि 'अहम्' सम्पूर्ण 'इदम्' अथवा सम्पूर्ण जगत् से एकीभूत है, और कि ज्ञाता और ज्ञेय का सारा भेद समाप्त है। इसे प्रकृति–परक, निसर्ग–परक अथवा प्राकृत रहस्यवाद (नेचर-मिस्टिसिज़्म) की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि इसमें प्रकृति और पुरुष घुल-मिल जाते हैं, एक हो जाते हैं। दूसरी कोटि का रहस्यात्मक अनुभव कैवल्य-परक रहस्यवाद कहा गया है। इसमें मानवात्मा अपने को जगत् से अधिकाधिक विच्छिन्न और असम्पृक्त अनुभव करती है और नित्य को अनित्य से अधिकाधिक असंस्पृष्ट। तीसरी कोटि का रहस्यवाद वह है जिसे हम भक्ति की संज्ञा देते हैं, प्रेमोन्माद-पुरस्सर भगद्भक्ति। ज़ेनर के अनुसार हिन्दू धर्म ऐसा धर्म है जिसमें सभी प्रकार के रहस्यवादों का उद्भव, विकास और परिपाक देखने को मिलता है। यह धर्म सर्वविध रहस्यवाद का क्रीड़ा-स्थल रहा है। यह प्रवाद प्रचलित हो गया है कि रहस्यवाद सर्वत्र एक-सा होता है, चाहे धर्म जो हो। ज़ेनर के अनुसार यह भ्रान्त धारणा है, जिसका प्रत्याख्यान जितना हिन्दू धर्म के विकास के इतिहास से होता है उतना किसी अन्य धर्म के इतिहास से नहीं। इस कारण समीक्ष्य ग्रन्थ में जितने विस्तार से हिन्दू धर्म पर विचार किया गया है उतना संसार के किसी अन्य धर्म पर नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जेनर ने भारत में रहस्यवाद के चार भेद लक्षित किये हैं। प्रथम भेद है सर्वात्मवादी रहस्यवाद, जिसके औपनिषद् सूत्र हैं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म,' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत् त्वमसि' आदि। यहां 'अत्र' 'सर्वत्र' है। जेनर इसे देशात्यय, देशातीतता (ट्रान्सेन्डेन्स ऑव स्पेस) का अनुभव कहते हैं। दूसरा भेद है नित्यता अथवा कालात्यय, कालातीतता (ट्रान्सेन्डेन्स ऑव टाइम) का अनुभव, जो अधिकतर देशात्यय के अनुभव से सहचरित होता है। गीता (२·१२–२१) में जो घोषणा है कि असत् से सत् और सत् से असत् नहीं होता, और कि आत्मा शाश्वत और अविनाशी है, वह इसी प्रकार के रहस्यवाद से संबंध रखती है। पाश्चात्य रहस्यवादी एक्हार्ट (Meister & Eckhert) का 'शाश्वत अब' (दि इटर्नल नाउ) का अनुभव इसी कोटि का अनुभव है। यह 'अब' 'सर्वदा' भी है। तृतीय भेद उक्त भेदद्वय के योग से निष्पन्न होता है, जिसे निर्विशेष अद्वैत (एब्सोल्यूट वन-नेस) का अनुभव कह सकते हैं। सुकरात-पूर्व यूनानी दार्शनिक पार्मेनीदीस का सूत्र है, 'वह कदापि नहीं था, और न यह कदापि होगा, क्योंकि यह है अब (नाउ) युगपत् (टुगेदर), एकमात्र (वन), निरन्तर (कन्टिन्युअस)'। निर्विशेष अद्वैत की भूमिका में इस 'एक' के अतिरिक्त किसी भी वस्तु की चेतना नहीं रह जाती, अन्य सबका लोप हो जाता है। माण्डूक्योपनिषद् (७) में इस भूमिका को चतुर्थ भूमिका कहा गया है, जिसमें शान्त, शिव और अद्वैत के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता, प्रपंच का उपशम हो जाता है। यहां यह विशेष है कि यह एकमात्र तत्व केवल अखण्डैकरस नहीं, असीम भी है। इसकी मीमांसा तीन प्रकार से की जा सकती है। प्रथम, इस अवस्था में आत्मा निर्गुणभावापन्न होकर परमात्मा से अभिन्न हो जाती है और अन्ततः अद्वैत वेदान्त का अखण्डैकरस, अनन्त, सर्वभूतान्तरात्मा अथवा ब्रह्म रह जाता है। द्वितीय, इस अवस्था में, मार्टिन बूबर के शब्दों में, जीवात्मा का दर्शन होता है जो अनेक जीवात्माओं में से एक है, नकि अखण्डैकरस ब्रह्म का। यह ससीम सत्ताओं में ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का दर्शन है—ईसाई, मुस्लिम तथा श्री वैष्णव वेदान्त के अनुसार ईश्वर का प्रतिबिम्ब। तृतीय, इस अवस्था में सांख्य के पुरुष का दर्शन होता है जो आप्तकाम और आत्मपूर्ण है तथा अन्य पुरुषों और प्रकृति से भिन्न है। जेनर द्वारा लक्षित भारतीय रहस्यवाद का चतुर्थ भेद ब्रह्मानुभव, ब्रह्मनिर्वाण, से आगे जाता है और भक्तिवाद कहा जा सकता है। इसका प्रतिपादन गीता में प्राप्त होता है। इसके अनुसार परम पुरुषार्थ ब्रह्म में विलय नहीं बल्कि भगवान् से सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य प्राप्त कर उसकी भक्ति में तन्मय रहने में है। यह उच्चतर कोटि की भक्ति है, जो तब प्राप्त होती है जब आत्मा संसार में विरक्त होकर इन्द्रियों को समेट लेती है। ज़ेनर के अनुसार भारतीय अध्यात्मवाद में यह एक ऐतिहासिक क्रान्ति है जिसके हिंदू रहस्यवाद का स्वरूप आमूलचूल बदल डाला।

प्रथम कोटि के रहस्यवाद के उदाहरणस्वरूप जेनर ने रिचार्ड मॉरिस बक और वाल्ट ह्विट्मन के अनुभवों की विवृत्ति की है। यहां केवल प्रथम उदाहरण का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लेख पर्याप्त होगा। रिचार्ड मॉरिस बक ने १९०१ में एक शब्द गढ़ा, वैश्व चेतना (कॉस्मिक कांशसनेस) और इसी शीर्षक से उन्होंने एक पुस्तक प्रकाशित की। बक एक प्रख्यात वैज्ञानिक थे। उन्हें १८७२ के बसन्त में एक रहस्यमय अनुभूति हुई, ब्रह्मानुभूति, जिसका ही परिणाम उक्त पुस्तक है। उन्हें अर्धरात्रि गये अनुभव हुआ कि वे सहसा अग्निशिखाओं के बादल में लिपट गए हैं। उन्हें लगा कि प्रकाश उनके भीतर हो रहा है। तत्काल बाद उन्हें आनन्दोन्माद और सम्बोधि की एक अनिर्वचनीय अवस्था का भान हुआ और यह भी भान होने लगा कि विश्व एक परमचेतना सत्ता है। उन थोड़े से क्षणों में उन्हें इतना ज्ञान प्राप्त हो गया जो वर्षों में नहीं हो सकता था।

बक को जिस प्रकार की अनुभूति हुई उस प्रकार की अनुभूति उन सन्तों और रहस्यवादियों को होती है जो प्राकृत रहस्यवादी कहलाते हैं। आल्डस हक्सले और विलियम जैम्स भी इस अनुभूति के साक्षी हैं। इस अवस्था में सत् के ऐसे स्वरूप का दर्शन होता है जो जगत् की अपेक्षा अधिक वास्तव, अधिक यथार्थ, प्रतीत होता है। इतना यथार्थ कि जगत् उसकी तुलना में मिथ्या और असत् प्रतीत होने लगता है। निश्चय ही, यह अवस्था औषधि द्वारा भी उत्पन्न की जा सकती है और की जाती है। वैश्व चेतना की अनुभूति, जो बक को हुई, वह कोई नयी अनुभूति नहीं। हिन्दू और ताओ धर्मों की वैश्व चेतना की अनुभूति सनातन है। बक स्वयं वैश्व चेतना की व्यापक अनुभूति से सम्पन्न १३ महात्माओं के नाम गिनाते हैं जो ये हैं—गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, पॉल, प्लोतीनोस, मुहम्मद, दांते, ला केसा (Las Casas), जॉन येपेस (John yepes) अपरनाम सेन्ट जॉन ऑव द क्रास, फ्रांसिस बेकन, अपर नाम सेक्सपियर, जैकब बेह्मेन (Jacob Behman) विलियम ब्लेक, बाल्ज़ाक और वाल्ट ह्निट्मन।

बक के अनुसार इन सभी महापुरुषों को वैश्व चेतना की भूमिका प्राप्त हुई थी, उस चेतना की भूमिका जिसमें आत्मा और जगत्, पुरुष और प्रकृति, ईश्वर और अनीश्वर सब एक हो जाते हैं। जेनर कहते हैं कि इन सभी महापुरुषों को वैश्व चेतना का अनुभविता समझना भ्रम है। उदाहरणत: ईसा, पॉल और मुहम्मद ईश्वर और जगत् के तादात्म्य में बिल्कुल विश्वास नहीं करते। बुद्ध की स्थिति और निराली है। वे जगत् से तादात्म्य नहीं, जगत् से विरक्ति में निर्वाण मानते हैं। संसार और निर्वाण का आत्यन्तिक पार्थक्य ही बुद्ध का दर्शन है। अत: उनकी चेतना को किसी भी प्रकार वैश्व चेतना से समीकृत करना सम्भव नहीं। केवल ह्निट्मन बक द्वारा अनुभूत वैश्व चेतना के अनुभविता कहे जा सकते हैं। ह्निट्मन का काव्य 'लीव्ज ऑव ग्रास' ऐसे ही अनुभव का उपबृंहण करता है।

प्राकृत रहस्यवाद की यह भी विशेषता है कि वह विविध संस्थाबद्ध धर्मों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वथा असत्य नहीं, आंशिक रूप से सत्य मानकर चलता है, रहस्यानुभव के विविध मार्ग मानकर चलता है।

उक्त त्रिविध रहस्यानुभवों को एक मानने की भूल का ही यह परिणाम है कि सभी धर्म तत्वतः एक माने जाने लगे हैं। इस मौलिक भेद के दृष्टि से ओझल हो जाने के कारण सभी रहस्यानुभव एक दिखायी देने लगते हैं, और इस आधार पर मान लिया जाता है कि सभी धर्म अन्ततः उसी रहस्यानुभव की ओर ले जाते हैं और, अतएव, तत्वतः एक हैं। धर्म तथा रहस्यवाद के इतिहास पर मनन करने के बाद ज़ेनर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि प्रत्येक धर्म में कई प्रकार के रहस्यवाद प्राप्त होते हैं, किसी में कोई रहस्यवाद अधिक है तो किसी में कोई अन्य। यह मत एकान्ततः भ्रान्त है कि यह भेद केवल व्याख्या भेद-मूलक है। बुद्ध और ह्विट्मन अपने-अपने युग में प्रचलित विचारधाराओं के विरोधी ही थे—बुद्ध वेदान्त-प्रतिपादय सर्वब्रह्मवाद के और ह्विट्मन वैराग्यवाद के—, अतः वे अपने रहस्यानुभव की व्याख्या में अपने युग में प्रचलित धारणाओं का प्रवेश क्यों होने देते? दोनों मनीषियों को दृढ़ निश्चय था कि उन्हें चरम सत्य का साक्षात्कार हो गया है जो उनके अनुसार, उनके समसामयिकों को अप्राप्त था। तथापि बुद्ध को सांसारिक भोगैश्वर्य, कामक्रीड़ा, बल्कि संसार मात्र, अशुभ और हेय अनुभूत हुआ था। जबकि ह्विट्मन को काम और भौतिक जगत् उतना ही दिव्य और भागवत अनुभूत हुआ था जितनी मानवात्मा, वल्कि मानवात्मा से अभिन्न। बुद्ध का तो एकमात्र लक्ष्य ही था निर्वाण, जो एक प्रकार से, कम से कम वैयक्तिक स्तर पर संसार के आत्यन्तिक उच्छेद का ही दूसरा नाम था। निर्वाण संसार के विरुद्ध एक घोर प्रतिक्रिया है और वैश्व चेतना की सम्पूर्ण धारणा का आत्यन्तिक निषेध।

ज़ेनर भारतीय धर्म और दर्शन के आदि स्रोत वैदिक साहित्य के विषय में लिखते हैं कि उसमें वैश्व चेतना, सर्वात्मवाद का गहरा पुट है। वैदिक संहिताओं में यह प्रवृत्ति कई सूक्तों में मुखर हुई है। इस संबंध में पुरुष-सूक्त, नासदीय सूक्त और हिरहिरण्यगर्भ-सूक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यज्ञ-प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी बहुभक्तिवाद (के अभ्यास द्वारा इसी प्रवृत्ति का पोषण प्राप्त होता है। बहुभक्तिवाद) का अर्थ है प्रत्येक पदार्थ को अन्य पदार्थों के रूप में उपस्थित करने की व्यापक चेष्टा। यह प्रवृत्ति प्राचीन उपनिषदों में भी संक्रान्त दीखती है। उपनिषदों में "आत्मा ही ब्रह्म है," "ब्रह्म ही आत्मा है," "सब कुछ ब्रह्म ही है"—ऐसे वाक्यों की भरमार है। यहां तक कि ऐसा माना जाता है कि उपनिषद् की मूल शिक्षा यही है।

ज़ेनर वैदिक रहस्यवाद को प्राकृत रहस्यवाद मानने के पक्ष में हैं। इसकी सिद्ध उन्होंने व्यापक पैमाने पर की है। वैदिक देवता प्राकृत हैं। अग्नि, उषा, द्यावा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथ्वी जैसे देवता प्राकृतिक शक्तियों के मानवीकरण मात्र हैं, इन्द्र मूलत: वात्या का देवता है, वरुण तारों भरे आकाश का देवता है। आगे चलकर देवताओं की स्वतंत्र सत्ता समाप्त सी होने लगती है, प्रत्येक देवता को प्रत्येक अन्य देवता के रूप में अभिहित करने की प्रवृत्ति बढ़ती है, और अन्तत: यह भावना उदित होती है कि सभी देवता मूलत: एक हैं अथवा एक ही परम देवता, परम सत्ता के विविध नाम-रूप हैं। इस प्रक्रिया में देवताओं की शक्तियां यज्ञ में संक्रान्त हो जाती हैं, जिसके द्वारा मनुष्य देवताओं को वश में कर लेता है, स्वयं देवता बन जाता है। किन्तु यज्ञों द्वारा ऐहिक और आमुष्मिक सुख-समृद्धि की ही सिद्धि होती है जो अन्तत: नश्वर है। यज्ञों के अनुष्ठान से जन्म-मरण के अनवरत चक्र से त्राण असम्भव है। अत: मनुष्य किसी ध्रुव सत्ता की खोज आरम्भ करता है और ब्रह्मतत्व का अविष्कार करता है। यह तत्व प्रकृति से भिन्न नहीं, बल्कि प्रकृति का ही उपबृंहण है। इस प्रकार 'सब कुछ ब्रह्म है' 'जगत् ब्रह्म है', 'आत्मा ब्रह्म है'—ऐसी धारणाओं का विकास हो जाता है।

उपनिषद् का ब्रह्म-सिद्धांत कई चरणों में विकसित हुआ था किन्तु वेद और उपनिषद् में ब्रह्म और प्रकृति का तादात्म्य-भाव अक्षुण्ण रहा।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०-१२९) की स्पष्ट घोषणा है कि संसार किसी एक तत्व का परिणाम है और कि जड़ और चेतन मूलत: एक अथवा अभिन्न हैं। इसी सूक्त में परम आकाश में प्रतिष्ठित एक अध्यक्ष अर्थात् ईश्वर की कल्पना का भी संकेत विद्यमान है, किन्तु ज़ेनर के अनुसार ईश्वरवाद के इस बीज का विकास पर्याप्त विलम्ब से होता है। इस ईश्वरवाद का सिलसिला प्राचीन उपनिषदों में टूट जाता है। आगे चलकर ईश्वरवाद नई सजधज के साथ श्वेताश्वतरोपनिषद् और भगवद्-गीता में प्रकट होता है। इसका विवरण आगे आयेगा। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ-सूक्त (१०-१२१) की भी ध्वनि सर्वैक्यवाद ही है। इसके अनुसार पहले हिरण्यगर्भ (उत्पन्न हुआ, 'आप:' (जल—सृष्टि के उपादान कारण) से। हरण्यगर्भ) जन्म लेते ही सृष्टि का अधिपति बन गया। इस सूक्त की टेक है, कस्मे दैवाय हविषा विधेम ?' अर्थात् किस देव को हम हवि अर्पित करें? किन्तु उस देव का उल्लेख नहीं हुआ है। आगे चलकर सूक्त के अन्त में मानो उसी सूक्त में समुत्थित प्रश्न के उत्तर में 'प्रजापति' का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु प्रजापति को परमात्मा समझना भूल है। प्रजापति की उत्पत्ति 'आप:' से बताई गई है। कहा जा सकता है कि सृष्ट्युपादान जड़ है जिससे चेतना का विकास होता है। इस प्रकार यह सूक्त भी ब्रसर्वैक्यवादी ही सिद्ध होता है। सूक्त १०-८२ में 'विश्वकर्मा' का उदय होता है, जो उक्त प्रश्न का उत्तर माना जा सकता है। किन्तु विश्वकर्मा भी स्वयम्भू ईश्वर नहीं है। उसकी उत्पत्ति भी प्रजापति के समान पहले से विद्यमान कारण से होती है। वह 'आप:' से उद्-भूत प्रथम गर्भ है, समस्त सृष्टि के अधिष्ठानभूत अज की नाभि में प्रतिष्ठित है। हाँ, जन्म के पश्चात् वह सृष्टि का अधीश्वर अवश्य बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये सारे निदर्शन सदैक्यवाद सर्वैक्यवाद अथवा सर्वात्मवाद की ओर इंगित करते हैं। इस चिन्ताधारा के अनुसार सर्वविध चेतना का विकास किसी आदिम जड़ सत्ता से हुआ है।

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त (१०-९०) में स्थिति कुछ बदली। यहाँ पुरुष प्रकृति-प्रसूत नहीं, प्रकृति ही पुरुष-प्रसूत है। जगत् पुरुष से अभिन्न है, किन्तु है उसका एक चौथाई भाग मात्र। पुरुष का अवशिष्ट तीन-चौथाई भाग जगत् से परे है। तथापि पुरुष और प्रकृति का तादात्म्य-भाव यहाँ भी अक्षुण्ण रहता है। यह अवश्य है कि यहां उक्त चौथाई भाग को नश्वर और शेष तीन-चौथाई को अविनाशी कहा गया है।

अपवाद छोड़कर इन उदाहरणों की सम्मिलित ध्वनि यही है कि देव-तत्त्व देवाधिदेव-तत्व, आत्म-तत्व का विकास सृष्टि के जड़ उपादान से हुआ है और जन्म के पश्चात् यह तत्व सृष्टि का अधिपति बन जाता है। पुरुष-सूक्त के पुरुष की विपरीत गति है। पुरुष से जगत् की उत्पत्ति होती है और जगत् उसके चौथाई भाग से अधिक नहीं। शेष भाग अजर और अमर है। उपनिषदों में यह सिद्धांत भलीभाँति उपबृंहित हुआ है। जगत् मूलतः किसी एक तत्व का विकार अथवा परिणाम है, जिसे ब्रह्म अथवा आत्मा कहा गया है। प्राचीनतम उपनिषदों (जैसे बृहदारण्यकोपनिषद् १.२.१, तैत्तिरीयोपनिषद् २.७) में संकेत से कहा गया है कि आदि में कुछ नहीं था, असत् था, जिससे सत् की उत्पत्ति हुई। छान्दोग्योपनिषद (३.१९.१) में असत् और सत् को एक मान लिया गया है। छान्दोग्योपनिषद् (६.२.२) में असत् से सत् की उत्पत्ति का निषेध भी प्राप्त होता है। जेनर के अनुसार इन उपनिषदों में उल्लिखित असत् और सत् को क्रमशः जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष, समझा जा सकता है, और इस आधार पर उपनिषद् का तात्पर्य यह निकलता है कि प्रकृति से पुरुष का जन्म होता है।

उपनिषद् की सामान्य ध्वनि यह है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड, जीव और ब्रह्म, जगत् और जगदीश्वर एक हैं। औपनिषद् सिद्धांत यह है कि यह ऐक्यानुभूति वैश्व चेतना के विकास द्वारा संभव है। वस्तुतः वैश्व चेतना ही उपनिषद् का मुख्यार्थ है।

वैश्व चेतना के प्रबल पोषक बक का मत है कि वैश्व चेतना का फल है नैतिक उन्नयन। जेनर का कहना है कि यह धारणा वस्तुस्थिति के विपरित है। उपनिषद् की स्पष्ट घोषणा है कि वैश्व चेतना का विकास कर लेने पर मनुष्य पाप और पुण्य, विधि और निषेध से परे हो जाता है। इस विषय में तैत्तिरीयोपनिषद् (२.९) और बृहदारण्यकोपनिषद् (४.४.२२) विशेष रूप से माननीय हैं। इस प्रकार वैश्व चेतना नैतिक उन्नयन की ओर नहीं बल्कि नैतिकता से निरपेक्षता की ओर ले जाती है। यदि वैश्व चेतना रहस्यवाद का एकमात्र रूप है तो, जेनर के अनुसार, सारा नीतिशास्त्र और नीति-धर्म निरर्थक हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़ेनर की धारणा है कि उपनिषद् की मुख्य शिक्षा अद्वैतवाद न होकर विशिष्ट द्वैतवाद जैसी है। उपनिषद् में विविधता में एकता का दर्शन करने का प्रयत्न किया गया है और विविधता में एकता का दर्शन किन्हीं ही महाभागों के भाग्य में बदा होता है। ये महानुभाव मूलगामी एकता के दर्शन से इतने अभिभूत हो जाते हैं कि वे विविधता का एकदम अपलाप ही करने लग जाते हैं। इस तथ्य के निदर्शन हमें वृहदारण्यकोपनिषद् (४·४·१६-२०) और कठोपनिषद् (४·१०-११) में प्राप्त होते हैं, जहाँ सत् मात्र की तात्विक एकता का लापन और नानात्व का अपलाप किया गया है। हां, यह मानना ही होगा कि उपनिषद् के अनुसार आत्मा और परमात्मा मूलतः और तत्वतः एक हैं और कि मुक्तावस्था में आत्मा का परमात्मा में उसी प्रकार लय हो जाता है जिस प्रकार नदियों का समुद्र में। इस संबंध में कठोपनिषद् (४·१५) और मुण्डकोपनिषद् (३·२·८) द्रष्टव्य है। वैसे उपनिषदों में अद्वैतवाद, सर्वेश्वरवाद और एकेश्वरवाद साथ-साथ चलते हैं। आत्मा अथवा ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी, सर्वात्मक भी है और सर्वातीत भी, विश्वरूप भी है और विश्वेश्वर भी। उपनिषद् एक ओर सृष्टि की व्याख्या और दूसरी ओर आत्म-चिन्तन की प्रवृत्ति का पोषण करती है, बल्कि ये ही उसके आरम्भ विन्दु हैं, और वे अन्ततोगत्वा एक समन्वित सत्ता की खोज कर लेती है जो आत्मा और सृष्टि दोनों का मूल है और दोनों जिसके अंग मात्र हैं। उपनिषद् जगत् को मायिक अथवा स्वप्नवत् मिथ्या मानने के पक्ष में नहीं। तथापि उसमें सुषुप्तावस्था ब्रह्मभाव अथवा समाधि से सर्वाधिक सादृश्य रखने वाली बताई गई है। ज़ेनर का कथन है कि ऐसी अवस्था में ब्रह्मनिर्वाण और आत्यन्तिक मृत्यु में भेद करना असंभव हो जाता है—दोनों अवस्थाओं से लौटना, निवृत्ति, पुनरावृत्ति, सम्भव नहीं।

इसके अनन्तर ज़ेनर ने माण्डूक्योपनिषद् और मैत्रायण्युपनिषद् पर विचार किया है जो उन्हें उपनिषत्-सिद्धांत के विकास की कड़ी प्रतीत होती है। माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार जीवात्मा की चार अवस्थाएं हैं: जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। जाग्रदवस्था में जीवात्मा बहिर्मुख होकर स्थूल का भोग करता है और स्वप्नावस्था में अन्तर्मुख होकर सूक्ष्म का भोग करता है। सुषुप्तावस्था में उसे न कोई कामना होती है और न वह कोई स्वप्न देखता है, वह प्रज्ञानघन और चैतन्योन्मुख होकर आनन्द भोगता है और सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और सबका उद्गम और अन्त कहलाता है। तुरीयावस्था में प्रपंच का उपशम हो जाता है और शिव, शान्त तथा अद्वैत आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है। स्मरण होगा कि ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त के अनुसार जगत् एकपाद-ब्रह्म-ब्रह्म का एक चौथाई— है और कि त्रिपाद-ब्रह्म जगत् से परे है। मैत्रायण्युपनिषद् (७·११) में तुरीयावस्था को त्रिपाद-ब्रह्म माना गया है। यह उपनिषद् के इतिहास में एक घटना है। सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी सहित प्रथम तीन अवस्थाएँ जगद्-रूप मानी गई हैं। तुरीयावस्था सर्वथा भिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—शिव, शान्त और अद्वैत—और दृश्यमान जगत् का निषेध करने वाली। जगत् और अद्वैत तत्त्व के बीच कोई व्यवहार नहीं होता। इसके दो अर्थ हो सकते हैं: या तो जाग्रत् और ब्रह्म दो अत्यन्त भिन्न सत्ताएं हैं, जिससे द्वैतवाद की प्रसक्ति होती है, या ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और ईश्वर-सहित सारा जगत् पारमार्थिक दृष्टि से असत् और मिथ्या है, जिससे अद्वैतवाद की प्रसक्ति होती है।

जेनर के अनुसार माण्डूक्य और मैत्रायणी उपनिषदों में वैश्व चेतना से सर्वथा विपरीत चेतना का प्रतिपादन हुआ हैं। वैश्य चेतना में सारे जगत्, सारे नानात्व, का अन्तर्भाव हो जाता है। इसमें नानात्व का लोप नहीं होता, नानात्व अक्षुण्ण रहता है, किन्तु वह सर्वात्म-सत्ता का अभिन्न अंग बनकर रहता है। इसके विपरीत माण्डूक्य और मैत्रायणी उपनिषदों की तुरीयावस्था अथवा त्रिपाद-ब्रह्म में विश्व-नानात्व,—का सर्वथा लोप हो जाता है। वह एक सर्वथा नानात्व-शून्य सत्ता है। इसकी चेतना वैश्व चेतना से नितान्त भिन्न है। इस नयी चेतना से विश्व बहिष्कृत हो जाता है, आत्मा प्रकृति से अत्यन्त भिन्न और असंस्पृष्ट हो जाती है, नित्य अनित्य से एकदम विच्छिन्न हो जाता है। सांख्य-योग में प्रकृति और पुरुष में आत्यन्तिक भेद माना गया है। इस अर्थ में निर्दिष्ट उपनिषद्-द्वय के द्वैतवाद और सांख्य-योग के द्वैतवाद में पर्याप्त साम्य है। किंतु एक दृष्टि से दोनों के बीच एक बड़ी खाई भी है। उपनिषद् के अनुसार चरमावस्था में मनुष्य अपने को परब्रह्म अनुभव करता है, जगत् और ईश्वर से भी परे और पृथक्। किन्तु सांख्य-योग में बस कैवल्य की अनुभूति होती है—यह अनुभूति कि वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न और पृथक् हैं, कि पुरुष असंग है। परवर्ती सांख्य को तो कहीं ईश्वर की अपेक्षा ही नहीं होती।

बुद्ध-वचनों के आधार पर जेनर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि बुद्ध सर्वथा अनात्मवादी नहीं थे। वे अन्तःकरणावच्छिन्न आत्मा को शाश्वत् मानने के पक्ष में नहीं थे, किन्तु वे किसी परात्पर आत्मा का अस्तित्व मानते प्रतीत होते हैं, क्योंकि 'वे ब्रह्मभूतेन अत्तना' अर्थात् ब्रह्मभूत आत्मा की बात करते हैं। इस प्रकार बुद्ध भी मानते प्रतीत होते हैं कि आत्मा और अनात्मा, पुरुष और प्रकृति, में आत्यन्तिक भेद है। इस दृष्टि से बुद्ध सांख्य-योग की श्रेणी में आ जाते हैं।

स्पष्ट है कि माण्डूक्योपनिषद्, मैत्रायण्युपनिषद्, सांख्य-योग और बुद्ध वैदिक-औपनिषद् प्राकृत रहस्यवाद की वैश्व चेतना से भिन्न चेतना, अतएव भिन्न रहस्यवाद, का प्रतिपादन करते हैं। यह नया रहस्यवाद, जो हिन्दू धर्म में ही जन्म लेता है, कैवल्य-परक रहस्यवाद कहा जा सकता है।

उपनिषद् का ब्रह्म सगुण ब्रह्म नहीं है। उपनिषद् में ब्रह्म में भक्ति अथवा उससे सामुज्य की कल्पना नहीं के बराबर है। इनमें एक स्थल छान्दोग्योपनिषद् (७·२५·२) और दूसरा बृहदारण्यकोपनिषद् (४·३·२१) में पाया जाता है। इन उपनिषदों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मा और परमात्मा के मिलन को लैंगिक मिलन, पुरुष और स्त्री के मिलन, से उपमित किया गया है। यहां परमात्मा अथवा ब्रह्म सगुण ईश्वर-सा प्रतीत होने लगता है। ज़ेनर का कहना है कि सांख्य-सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ उपनिषद् आदि में असीम और ससीम की दरार बढ़ती गई। छान्दोग्योपनिषद्(८·४·१) में आत्मा को लोकों का सेतु कहा गया है। यह सेतु क्रमशः टूटने लगता है, किन्तु शीघ्र ही उपनिषद् की मूल भावना के जोर मारने पर सगुण ईश्वर के रूप में एक नया सेतु तैयार हो जाता है। आगे चलकर ईशावास्योपनिषद् के आद्य मन्त्र में 'ईश' तत्त्व की प्रतिष्ठा होती है और त्याग तथा भोग के समन्वय का सिद्धान्त उद्भावित होता है। इस उपनिषद् (३—७) में सर्वात्मा और वैश्व चेतना का भी सम्यक् निरूपण हुआ है। किन्तु ज़ेनर के अनुसार इसके मन्त्र ८ में जिस ईश्वर की चर्चा है वह सर्वात्मा और ब्रह्म को भी आच्छादित करने वाली सत्ता है। इस प्रकार इस उपनिषद् में उसी कोटि के ईश्वर की प्रतिष्ठा हो जाती है जिसे ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में परम व्योम में स्थित अध्यक्ष (अध्यक्षः परमे व्योमन्) की संज्ञा दी गई है। जैसाकि ऊपर इंगित किया जा चुका है, यह विचार-सूत्र वैदिक औपनिषद् वाङ्मय से तिरोहित हो गया था।

सांख्य-योग और बुद्ध की दृष्टि में सत्ता दो प्रकार की है—नश्वर और अविनाशी, क्षर और अक्षर, संस्कृत और असंस्कृत। इनमें नश्वर, क्षर और संस्कृत हेय है तथा अविनाशी, अक्षर और असंस्कृत उपादेय है। ईशावास्योपनिषद् (१२·१४) में इन्हें क्रमश: सम्भूति और असम्भूति की संज्ञा दी गई है। किन्तु यहां दोनों का अपना-अपना मूल्य है, अपना-अपना उपयोग: अविनाशी द्वारा मृत्यु को तैर कर विनाशी द्वारा अमृत को प्राप्त किया जा सकता है। अत: इनमें से किसी एक की ही उपासना करने वाला व्यक्ति घोर अन्धकार में, प्रवेश करता है। भारतीय दर्शन का मूल मन्त्र है अमृतत्व की अनुभूति, उपलब्धि, न कि उसमें आस्था मात्र। सांख्य-योग और बुद्ध के अनुसार नश्वर अथवा संस्कृत से पूर्ण सन्यास, पूर्ण कैवल्य, द्वारा ही अविनाशी अथवा असंस्कृत की प्राप्ति सम्भव है। ईशावास्योपनिषद् के अनुसार ऐसे सन्यासी अथवा केवली का ठौर घोर अन्धकार है। इस उपनिषद् (९-११) में अविद्या और विद्या का भी इसी प्रकार निरूपण हुआ है। अविद्या का अर्थ है अल्प का ज्ञान और विद्या का, भूमा का ज्ञान। इस उपनिषद् के अनुसार इन दोनों का अपना-अपना प्रयोजन है। अविद्या से मृत्यु को तैर कर विद्या द्वारा अमृत की प्राप्ति की जा सकती है। इनमें से किसी एक का सेवन करने वाला व्यक्ति घोर अन्धकार में प्रवेश करता है। ज़ेनर का मत है कि असम्भूति और सम्भूति विद्या और अविद्या, मिलकर ही पूर्ण आत्मा, ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु ईश्वर एक तीसरी ही सत्ता है जो मंत्र ८ में ब्रह्म पर भी हावी प्रदर्शित की गई है। यह बात श्वेताश्वतरोपनिषद् (५·१) में अधिक खुल कर आयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़ेनर के अनुसार यह हिन्दू धर्म में एक बिल्कुल नई दृष्टि है। यहां पहली बार सगुण ईश्वर की उद्भावना होती दिखाई देती है जो जगत् ही नहीं, ब्रह्म तथा निर्वाण से भी उच्चतर सत्ता है। यह ईश्वर और कोई नहीं, वैदिक रुद्र है, जो शिव बनने की प्रक्रिया में है (तुलनीय श्वेताश्वतरोपनिषद् १·८)। शिव युगपत् एक महा-योगी केवली है और शिश्नक्रीड़ महादेव है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१·१२) में प्रकृति जीवात्मा और परमात्मा के त्रैत को प्रथम बार स्वीकृति मिली है। इस त्रैत को 'त्रिविध ब्रह्म' कहा गया है। प्रकृति का अपर नाम माया है और परमात्मा का, मायी (४·१०)। प्रकृति और जीवात्मा सांख्य में प्रकृति और पुरुष हैं। ईश्वर इन दोनों सत्ताओं का अधिष्ठाता है। वह अक्ल, निरवयव अथवा निरंश (६·५) है, तथापि जीवात्माओं को उसका अवयव अथवा अंश कहा गया है (४·१०)। प्रकृति अजा है, जिसे एक अज (जीवात्मा) भोगता है और दूसरा अज (परमात्मा) त्यागता है (४·५)। प्रकृति एक वृक्ष है, जिसका फल उस पर स्थित दो पक्षियों में से एक पक्षी (जीवात्मा) खाता है और दूसरा (परमात्मा) न खाकर साक्षी मात्र रहता है (५·६)। उस परमात्मा के ज्ञान से (भक्ति से नहीं) मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है (२·१५, ४·१६, ५·१३, ६·१३) और मोक्ष का अर्थ है प्रकृति से कवल्य स्वरूपाव-स्थान, तत्वभाव, तथा केवल और निर्गुण पुरुष के अभिध्यानपूर्वक विश्व-माया की निवृत्ति (१·१०-१२)। ज़ेनर के अनुसार इसी उपनिषद् के मंत्र २·१५ में आत्मा, ब्रह्म और ईश्वर के त्रैत की चर्चा आई है, जिनमें से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर बड़ा है। इस उपनिषद् के अनुसार ईश्वर अथवा शिव सर्वोच्च सत्ता है, जिसे कभी-कभी ब्रह्म और कभी-कभी ब्रह्म से परे भी कह दिया गया है (५·१०)।

इस प्रकार हिन्दू धर्म में एक नया तत्त्व उभरता है : ईश्वर, जो क्षराक्षर-ब्रह्म से भी बड़ा है।

ईश्वरवादी रहस्यवाद जगत् से विराग के साथ-साथ ईश्वर से अनुराग की भी शिक्षा देता है। बुद्ध के यहाँ भक्ति और प्रेम के लिए स्थान नहीं है, वहां सारे राग-द्वेष, सारे आवेग, शान्त हो जाते हैं। इससे आगे, बुद्ध के लिए कुछ नहीं। भगवद्गीता में ईश्वरवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है और उसमें दो प्रकार की भक्ति का बीजारोपण होता है। एक भक्ति तो साधारण कोटि की है, ईश्वर के प्रति प्रेम और आत्मनिवेदन, जो कोई भी कर सकता है। दूसरी भक्ति अधिक गूढ़ और रहस्यात्मक होती है और वैराग्य से आगे की कड़ी है। जब वैराग्य की सिद्धि के फलस्वरूप आत्मा में एक प्रकार की रिक्ति का अनुभव होता है, एक प्रकार का शून्य उत्पन्न हो जाता है, तब यही भक्ति उसे भरती है। यह अत्यन्त उच्चकोटि की भक्ति है जिसे बिरले ही निभा सकते हैं।

गीता के ईश्वरवाद की अपनी विशेषता है। गीता के अनुसार सत्ताएँ तीन हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन पुरुष—क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम। जेनर के अनुसार उपनिषदों का ब्रह्म अक्षर पुरुष के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार गीता की दृष्टि में पुरुषोत्तम ब्रह्म से भी ऊंची सत्ता सिद्ध होता है। पुरुषोत्तम को गीता ईश्वर, परमात्मा और अव्यय कह कर पुकारती है और ब्रह्म का भी आश्रय (ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च–गीता १४·२७) घोषित करती है।

चार अवस्थाएं हैं—निर्वाण, योग, स्वरूपावस्थान तथा ब्रह्मनिर्वाण और भगवत्प्राप्ति। निर्वाण को रेचन-मार्ग कहा जा सकता है। यह संसार से वैराग्य और विमुक्ति का मार्ग है। योग उससे आगे का चरण है और मोक्ष अथवा परमपद का द्वार है। उसके बाद स्वरूपावस्थान का चरण है, जो सांख्य और माण्डूक्योपनिषद् का परम पद है। गीता इससे भी आगे जाती है। इसके अनुसार सिद्ध पुरुष पहले समस्त स्थावर-जंगम को आत्मा अथवा ब्रह्म में और अन्ततः ईश्वर में देखने लगता है जो ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा है। जबतक आत्मैक्य-दर्शन नहीं होता भगवद्-दर्शन संभव नहीं। कृष्ण स्वयं कहते हैं, "जो योगी एकत्व में परिनिष्ठित होकर मुझे सभी भूतों में प्रतिष्ठित जानता हुआ व्यवहार करता है वह चाहे जिस स्थिति में हो मुझ में ही स्थित है"। (गीता ६·३१) ब्रह्म की प्राप्ति अन्तिम गति नहीं, भगवत्-प्राप्ति अन्तिम गति है जो ब्रह्म-प्राप्ति से आगे की अवस्था है।

तेलार द शार्दें ने रहस्यवाद के दो भेद किये हैं। एक रहस्यवाद प्रकृति में परिव्याप्ति का रहस्यवाद है (मिस्टिसिज़्म ऑव डिफ्यूज़न इन्टु मैटर) जिसे ही बक ने वैश्व चैतना की संज्ञा दी है। दूसरा रहस्यवाद ऐकाग्र्य, एकायन, अथवा अनन्य भक्ति का रहस्यवाद (मिस्टिसिज़्म ऑव कन्सेन्ट्रेशन ऑन टु अ सिंगिल सेन्टर) है। अबतक जेनर ने हिन्दू रहस्यवाद में भी ये भेद लक्षित किये हैं। सर्वात्मवादी रहस्यवाद प्रकृति में परिव्याप्ति के रहस्यवाद अथवा प्राकृत रहस्यवाद का नमूना छान्दोयोपनिषद् (७·२५·१) में द्रष्टव्य है, जिसके अनुसार आत्मा नीचे,ऊपर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण, उत्तर सर्वत्र व्याप्त है। दूसरे प्रकार के रहस्यवाद का नमूना सांख्य और माण्डूक्योपनिषद् में परिलक्षित होता है। इसके अनुसार योगी तुरीयावस्था अथवा चरमावस्था में एक केन्द्र पर टिक जाता है। गीता के सिद्धि-सम्बन्धी आदर्श के तीन चरण हैं—योग, ब्रह्मनिर्वाण और ईश्वर-प्राप्ति। ईश्वर-पद ब्रह्म-पद से बड़ा और आगे है। यह मत श्वेताश्वतरोपनिषद् (२·१४·१५) के अतिरिक्त कठोपनिषद् (३·१०,११,६·७-८) में भी व्यक्त हुआ है। एक प्रकार से जीव को भगवत्प्राप्ति के प्रयत्न में चार सोपानों से गुजरना पड़ता है—प्रथम स्वभावनियत कर्म का अनुष्ठान अथवा स्वधर्म-पालन (गीता १८·४५-४८) दूसरा, अनासक्ति अथवा निष्काम कर्म (१८·४९), तीसरा ब्रह्मभीभाव (१८·५१-५३) और अन्तिम, भगवत्-प्राप्ति (१८·५४-५६) तथा सब कुछ छोड़कर एकायन भक्ति द्वारा ईश्वरमय हो जाना (१८·६४-६६)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीता का ब्रह्मातीत अथवा ब्रह्मातिपाती ईश्वरवाद हिन्दू धर्म के इतिहास में एक नयी घटना है, जिसने हिन्दू धर्म का स्वरूप ही बदल डाला। हिन्दू मोक्षवाद शम, और दम अनासक्ति और विरक्ति, रागद्वेष तथा चित्तवृत्तियों के विरोध को अनिवार्य मानता था। गीता ने यह सब अक्षुण्ण रखा, किन्तु साथ-साथ प्रेम अथवा भक्ति का एक सर्वथा नूतन तत्त्व भी अनिवार्य कर दिया।

शंकराचार्य के परवर्ती रामानुज, मध्व, निम्बार्क, बल्लभ, चैतन्य आदि वैष्णव आचार्यों ने ईश्वरवाद की परम्परा को आगे बढ़ाया और हिन्दू धर्म को महान् ईश्वरवादी धर्म के रूप में परिणत कर दिया। श्रीमद्भागवत्–पुराण में तो ईश्वर स्वयं गोपिका-वल्लभ श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हो काम-क्रीड़ा में रत दिखायी देता है। वस्तुतः रहस्य–साधक में काम-सम्बन्धी बिम्ब-विधान अपरिहार्य हो ही जाता है, क्योंकि आध्यात्मिक आनन्द से उसका कुछ न कुछ साजात्य अवश्य है। आत्मा स्त्री बन जाती है और परमात्मा पुरुष। ऐसी धारणा है कि परमात्मा के संस्पर्श से आत्मा को जो रस प्राप्त होता है उसी का क्षीण-सा-प्रतिबिम्ब काम में दिखायी देता है। अस्तु, कृष्ण-भक्ति-परम्परा में अनासक्ति के स्थान पर भगवान् के प्रति आसक्ति का पथ प्रशस्त होता है।

जेनर के अनुसार भारतीय धर्म-दर्शन में ईश्वरवादी परम्परा की पराकाष्ठा हमें शैवसिद्धान्त में प्राप्त होती है। भारतीय धर्मों में शैवसिद्धान्त ईसाई धर्म से सब से निकट है। दोनों धर्मों में महत्त्वपूर्ण भेद बस यह है कि ईसाई धर्म अवतारवादी है जबकि शैवसिद्धान्त में अवतारवाद का प्रायः सर्वथा अभाव है। शैवसिद्धान्त में उपनिषदों के सर्वात्मवाद अथवा सर्वेश्वरवाद का प्रभाव अत्यन्त क्षीण अथवा शून्य है, यद्यपि इस धर्म को किसी सीमा तक श्वेताश्वतरोपनिषद् का ऋणी माना जा सकता है। इसके अनुसार पदार्थ तीन हैं—पति, पशु और पाश। पति शिव अथवा ईश्वर है, पशु जीवात्मा है, और पाश हैं कर्म, माया और आनव। अथर्ववेद में रुद्र-शिव की पशुपति संज्ञा स्पष्ट शब्दों में प्राप्त होती है। आनव का अर्थ है अणुता, क्षुद्रता, अहन्ता, जो जीव की अधम अवस्था में उससे आ चिपकता है। आनव से संयुक्त होकर जीव ईश्वर से सर्वथा विमुख हो जाता है। इस अवस्था की संज्ञा 'केवलम्' है। इसमें चेतोव्यापार शान्त हो जाते हैं। यह निराकार और अविनाशी, अखण्ड, निर्गुण है, अलक्षण, अकर्ता, अभोक्ता, विभु तथा आनवापन्न है। यह अवस्था माण्डूक्योनिषद् में वर्णित तुरीयावस्था से अभिन्न प्रतीत होती है। इस दृष्टि से इसकी 'केवलम्' संज्ञा विशेषरूप से सार्थक है। किन्तु माण्डूक्योपनिषद् के अनुसार तुरीयावस्था उत्तमावस्था है, जबकि शैवसिद्धांत के अनुसार 'केवलम्' की अवस्था अत्यन्त अधम अवस्था है। यहां दो प्रकार के रहस्यवादों का टकराव स्पष्ट है। शैव सिद्धान्त के अनुसार 'केवलम्' की अवस्था मोक्ष नहीं, बन्ध की पराकाष्ठा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माण्डूक्योपनिषद् की तुरीयावस्था को ज़ेनर 'गर्भ की ओर प्रत्यागमन' कोटि का रहस्यवाद ('रिटर्न टु वूम' ऑव मिस्टिसिज़्म) मानते हैं। यह अनुभूति की उच्चतम अवस्था, अनुभवातीत अथवा अनुभवोत्तर अवस्था, नहीं, प्रागनुभवीय अथवा अनुभव-पूर्व अवस्था है।

आनव अहन्ता-तत्व है, बन्धमूलक है, मुक्ति ईश्वरमय होने का नाम है। किन्तु ईश्वरमयता का यह अर्थ नहीं कि जीवात्मा का ईश्वर में विलय, निर्वाण अथवा नाश हो जाता है। मानव अविनाशी है, अतः वह परमार्थ की उपलब्धि के समय भी जीव में बना रहता है। सूर्य के प्रकाश में भी तारागण के अस्तित्व का लोप नहीं होता, वे बने रहते हैं, बस उनका प्रकाश सूर्य के प्रकाश में खो जाता है। जीव का उद्धार ईश्वरानुग्रह से होता है। मोक्ष की अवस्था में जीव और ईश्वर में भेदाभेद सम्बन्ध होता है—तत्त्वतः पूर्ण भेद और भक्ति की पराकाष्ठा द्वारा अर्जित उतना ही अभेद। इस अवस्था में समाहित पुरुष नहीं बल्कि स्वयं ईश्वर कर्ता और भोक्ता होता है।

ज़ेनर के अनुसार हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म वैराग्यवादी, प्रपंचोपशमवादी, धर्म हैं। बौद्ध धर्म निर्वाण को परम पुरुषार्थ घोषित करता है। किन्तु उसकी विशेषता है कि वह निर्वाण की सिद्धि के लिए पुण्य, धर्माचरण, को अनिवार्य मानता है। उसके लिए ब्रह्मभूत और धर्मभूत समानार्थक हैं। इसके विपरीत, हिन्दू धर्म में धर्म और मोक्ष में अनन्यथासिद्धि सम्बन्ध नहीं माना गया है। वह धर्म अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि धर्माधर्म से परे जाकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। तथापि बौद्ध धर्म में एक अन्तर्विरोध परिलक्षित होता है। यदि जीवन क्षण-भंगुर है, दुखमय है, अशुभ है तो पवित्र और पावन कैसे ? इसकी रक्षा ही क्यों की जाय ?

ज़ेनर को हिन्दू-परम्परा में विकसित धर्म और मोक्ष की धारणाओं में विरोध दिखाई देता है। उपनिषद् और गीता का निर्णय है कि मुक्त पुरुष धर्माधर्म से परे हो जाता है, धर्माधर्म से ऊपर उठ जाता है। गीता (१८·१७) कहती है कि जीवन्मुक्त सब का संहार भी कर डाले तो बन्धन में नहीं पड़ता। कौषीतकिब्रह्मणोपनिषद् (३·१) के अनुसार जीवन्मुक्त यदि मातृहत्या, पितृहत्या भ्रूणहत्या भी करें तो उसे पाप नहीं लगता। धर्म और मोक्ष में जो विरोध है वह युधिष्ठिर की वाणी में महाभारत (शान्तिपर्व २९०·७८-७९) में मुखर हुआ है। युधिष्ठिर प्रवृत्तिमूलक धर्म को सर्वोपरि बतलाते हुए परम ज्ञान में निमग्न होकर मोक्ष-लाभ करने को अत्यन्त हेय घोषित करते है। ज़ेनर का मत है कि हिन्दू धर्म में ब्रह्मनिर्वाण का इस धरती पर न्याय, सत्य अथवा धर्म की प्रतिष्ठा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से उन्हें धर्म के अवतार युधिष्ठिर और गीता के ईश्वर श्रीकृष्ण में आकाश और पाताल का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर दिखाई देता है। कृष्ण अर्जुन को निस्त्रैगुण्य का पाठ पढ़ा कर धर्माधर्म की मर्यादा से परे ले जाने को उद्यत हैं, ताकि अर्जुन निर्द्वन्द्व होकर शत्रु-संहार कर सके। युधिष्ठिर युद्ध को जितना टाल सकते हैं उतना टालने का प्रयास करते हैं वे युद्ध से घृणा करते हैं, और इस अर्थ में ज़ेनर उन्हें भारत का अद्वितीय महापुरुष मानने के पक्ष में हैं। ज़ेनर के अनुसार कृष्ण वह ईश्वर है जो असफल रहा (अ गॉड हू फेल्ड)। युधिष्ठिर ऐसे महासत्व हैं जो अपने प्रिय श्वान के बिना स्वर्ग जाने को तैयार नहीं होते। ज़ेनर के अनुसार हिन्दू धर्म गहराई तक रहस्यवाद में डूबा हुआ है, और ऐसे धर्म में युधिष्ठर का उक्त चरित एक घटना है। वस्तुत: युधिष्ठिर लोक में धर्म की प्रतिष्ठा को लोक से विरत करने वाले मोक्ष से कम महत्त्व देने के पक्ष में नहीं थे।

हिन्दू-धर्म परमार्थ की खोज में इतना डूबा हुआ है कि उसे व्यवहार की चिन्ता ही नहीं व्यापती, और धर्माधर्म की समस्या का संबंध व्यवहार से है। हिन्दू धर्म का मोक्षवाद धर्म को साथ लेकर नहीं चलता। अत: इसमें परमार्थ और व्यवहार के द्वन्द्व के साथ मोक्ष और धर्म का द्वन्द्व भी देखने को मिलता है। बौद्ध धर्म ने मोक्ष को धर्म अथवा अष्टांग-मार्ग पर प्रतिष्ठापित कर दोनों के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया।

ईसाई धर्म ग्रन्थ—'न्यू टेस्टामेन्ट' (मत्ती १६·२४-२६) में ईसा का एक सारगर्भ वचन निबद्ध है जिसमें, जेनर के अनुसार, सम्पूर्ण बौद्ध धर्म और आधे हिन्दू धर्म का सार गुम्फित हो गया है। यह वचन यह है : यदि कोई मेरा अनुयायी बनना चाहता है तो वह अपने को त्याग दे, अपनी शूली ग्रहण करे, और मेरा अनुगमन करे। क्योंकि जो कोई अपनी आत्मा का त्राण चाहता है वह उसे खोयेगा, किन्तु जो कोई मेरे लिए अपनी आत्मा को खोयेगा वह उसे पायेगा। तब, यदि पुरुष अपनी आत्मा को खोकर सारा जगत् पा लेता है तो उसे क्या लाभ होगा? अथवा पुरुष के पास अपनी आत्मा के बदले देने को क्या है?' भारतीय धर्मों का मूल मंत्र है वर्तमान जीवन अथवा जगत् के बंधन में डालने वाली प्रत्येक वस्तु से विरक्ति, प्रपंचोपशम, शाश्वत शांति, निर्वाण। जैसा पहले इंगित किया जा चुका है, बौद्ध धर्म यहीं रुक जाता है। यही उसके परम पुरूषार्थ का स्वरूप है। इसके विपरीत गीता और ईसाई धर्म की दृष्टि में यह केवल एक आरम्भ बिन्दु है, परम पुरुषार्थ का प्रथम चरण मात्र।

निर्वाण का अर्थ बौद्ध धर्म में 'आत्मा की मृत्यु' समझना चाहिए। आत्मा की मृत्यु ही अमृतपुरगामिनी प्रतिपद् है। ईसाई बपतिस्मा निर्वाण नहीं तो और क्या है? सन्त पॉल लिखते हैं कि जब 'हमने ईसा मसीह में बपतिस्मा लिया तो हमने उनकी मृत्यु में बपतिस्मा लिया, दूसरे शब्दों में, जब हमने बपतिस्मा लिया तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम उनके साथ कब्र में गये और मृत्यु में उनके साथ हो गये।' (रोमन्स ६-३-४) गीता और शैव सिद्धांत हमारा अपनी 'आत्मा', अपने निजी 'सत्य' से उद्धार कर हमें ईश्वर से मिला देते हैं, और इस प्रकार वे हमें बौद्ध निर्वाण से आगे ले जाते हैं। इस दृष्टि से, हिन्दू रहस्यवाद अपनी उत्तर भूमिका में ईसाई रहस्यवाद से जा मिलता प्रतीत होता है। इन दोनों रहस्यवादों में जो मौलिक भेद है वह यह है कि हिन्दू रहस्यवाद कर्म मात्र, प्रकृति मात्र से अत्यन्त विमोक्ष-पूर्वक कूटस्थ ध्रुव और द्वन्द्वातीत ब्रह्म में विलय को परम पुरुषार्थ मानता है, जबकि ईसाई रहस्यवाद सगुण ईश्वर से सायुज्य को परम पुरुषार्थ मानता है जो निष्क्रिय ब्रह्म से भिन्न है। गीता की विशेषता यह है कि उसमें ऐसे ही ईश्वरवाद की प्रतिष्ठा हुई है। वस्तुतः भारत उभयविध रहस्यवाद की जन्म भूमि है—आत्यन्तिक मृत्यु के समकक्ष प्रपंचोपशम-साधक रहस्यवाद की भी और ईश्वर से सायुज्य के पोषक और पूर्ण जीवन के प्रतिष्ठापक रहस्यवाद की भी। किन्तु रहस्यवाद धर्म का केवल एक पक्ष है।

सन्त फ्राँश्वा द साल ने एक महत्वपूर्ण बात कही है। समाधि (एक्सटेसी) के दो भेद किये जा सकते हैं-बोध-परक समाधि और संकल्प अथवा भाव-परक समाधि। बोध-परक समाधि में हमारी बोध-वृत्ति प्रभावित और उत्तेजित होती है, संकल्प-परक समाधि में हमारी संकल्प-शक्ति (विल) तथा भाववृत्ति (इमोशन) जाग्रत्, उद्बुद्ध और भगवद्भक्ति से आप्लवित होती हैं। उक्त सन्त का मत है कि यह दूसरी समाधि ही वास्तविक और पुण्य समाधि है। यदि कोई समाधि शिव की अपेक्षा सुन्दर अधिक है, उष्ण की अपेक्षा भास्वर अधिक है, भावात्मक की अपेक्षा विचारात्मक अधिक है, तो उस पर विश्वास नहीं करना चहिये।

ताओ धर्म सबसे कम बोधोन्मुख धर्म है–बल्कि वह सर्वाधिक बोध-विरोधी धर्म है। ताओ बोध-गम्य तत्व नहीं। ताओ का अर्थ है वस्तुओं की प्रकृति, स्वभाव, स्व-धर्म जिससे वे समुद्भूत, संस्थित और अनुशासित हैं। यद्यपि ज़ेनर ने ऐसा नहीं कहा है, तथापि 'ताओ' की तुलना वैदिक 'ऋतु' से की जा सकती है। ताओ ज्ञान-विज्ञान का मार्ग नहीं। ताओ-सिद्धान्त वस्तुओं के आदिम रूप, वस्तु-योनी, मानव के आदिम सारल्य की ओर लौट जाने की शिक्षा देता है। ज़ेनर इसे गर्भ की ओर प्रत्यागमन की संज्ञा देते हैं। यह एक प्रकार उस प्राकृत सारल्य की ओर लौट चलने की शिक्षा देना है जो अदन के उद्यान में आदम और हव्वा को सद्यः सुलभ था। ताओवाद और यहूदी-ईसाई सृष्टि-ग्रन्थ के अनुसार ज्ञान की उपलब्धि पतन का मार्ग है। ताओ परम तत्व है जिसकी प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। आदम के पतन का अर्थ है सूत्रात्मा, समूहात्मा समष्टि-चेतना से व्यष्ट्यात्मा, व्यक्तित्व सम्पन्न आत्मा, आत्म-चेतना की ओर संक्रमण। यह अनुत्कीर्ण शिला (अन्काव्र्ड ब्लॉक) से एक-रस और अखण्ड्य रहते हुए उसके साथ सदा के लिए एक अखण्ड प्रस्तर-खण्ड बने रहने की संभावना के विरुद्ध विद्रोह है, यद्यपि इस एकीभाव का अर्थ है मृत्यु की शान्तिमयी अचेतना, क्योंकि पूरी शिला की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्यु होती नहीं। ताम्रोवाद को यही स्थिति अपेक्षित है। वह सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान और कला की प्रगति, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अभ्युदय, जटिल विधि-विधान सबका शत्रु है। वह मनुष्य को आदिम सरल अवस्था में देखना चाहता है। ताम्रोवादी कहता है कि जहाँ चातुरीपूर्ण उपकरण होंगे वहां सूक्ष्म और जटिल व्यवहार होंगे और जहां सूक्ष्म व्यवहार होंगे वहां कुटिल मस्तिष्क भी होगा। कुटिल मन में ताम्रो का वास नहीं हो सकता। प्रस्तुत समीक्षक अपनी ओर से जोड़ने की अनुमति चाहता है कि ताम्रोवाद के धर्मग्रन्थों में मानव के आदिम युग का जो वर्णन आता है वह भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध सत्ययुग के वर्णन से बहुत मेल खाता है। ताम्रोवाद का पाश्चात्य प्रतिरूप रूसो है। ताम्रोवाद स्वर्ग-मार्ग और मानव-मार्ग में भेद करते हुए कहता है कि घोड़े के चार पैर हैं, यह तो हुआ स्वार्गिक और उसके नथुने नाथकर लगाम लगा देना हुआ मानवीय। इनमें से प्रथम उपादेय है और दूसरा हेय। सच्चा मानव वह है जो स्वर्गीय प्रभा बिखेरता है और अपने स्वरूप में अटल रहता है। तब मानव तत्व उसे त्याग देता है और वह स्वर्ग-पुरुष का महनीय अभिधान प्राप्त करता है। मानव-तत्व द्वारा त्याग दिये जाने पर उसकी सहायता स्वर्गीय-तत्व करता है और तब उसकी संज्ञा स्वर्ग-पुत्र होती है। ताम्रोवाद मौलिक बौद्ध धर्म के समान ही अहन्ता, ममता और परिग्रह के त्याग पर बल देता है, किन्तु इतना विशेष है कि वह यह भी मानता है कि उसके बाद एक नई आत्मा का प्रादुर्भाव होता है जो ताम्रो से एकाकार ताम्रो का अवतार होती है। यही आत्मा स्वर्ग-पुत्र का विरूद्ध धारण करती है। यद्यपि इस आत्मा का शून्य में लय हो जाता है—शून्य अथवा असत् ही स्वर्ग का द्वार है—तथापि वह किसी अचिन्त्य विधि से सत्ता धारण कर रही होती है। हाँ, वह सत्ता अनुभूयमान सत्ता से मूलतः भिन्न होती है। वह पारमार्थिक सत्ता है, व्यावहारिक सत्ता से एकदम परे। जैसे गीता में पुरूषोतम, उत्तम पुरूष अथवा ईश्वर के रूप में ब्रह्म से भी उच्चत्तर सत्ता की कल्पना की गई है वैसे ही ताम्रो धर्मग्रन्थ चुम्रांगत्जु में सत् और असत् के परे 'एक रक्षक' (वन कीपर) की कल्पना की गई है। एक रक्षक स्वर्ग है, महान एक्य है, महा रहस्य है, महा प्रकाशक है, महाविधाता है, महती असीमता है, महासत्य है। स्वर्ग और ताम्रो एक हैं। स्वर्ग अथवा ताम्रो को हम विश्वात्मा कह सकते हैं। उसे ईश्वर की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

ताम्रोवाद और भारतीय धर्मों में एक महत्त्वपूर्ण साम्य यह भी है कि दोनों का लक्ष्य व्यक्ति की मुक्ति है। सामूहिक मुक्ति, समष्टिमुक्ति, की धारणा का विकास कन्फ्यूशस के वाक्यों में प्राप्त होता है, जो इस दृष्टि से दोनों धर्म-धाराओं से भिन्न हो जाता है। पहली बात तो यह है कि कन्फ्यूशसवाद की दृष्टि आश्चर्यजनक रूप से ऐहलौकिक है। वह मरणोत्तर जीवन, स्वर्ग, नरक, निर्वाण, मोक्ष किसी में रुचि नहीं लेता। पुरुषार्थ जगत् पलायन में ही नहीं, जगत् के स्वीकार में है। ताम्रो धर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृत धर्म है, जबकि कन्फ्यूशसवाद मानव-धर्म है, ताओ-धर्म प्रकृतिवादी है, जबकि कन्फ्यूशसवाद संस्कृतिवादी है, ताओवाद में मुक्ति अथवा परमपद की प्राप्ति का स्वरूप है अलक्षण ताओ में मानव का निर्मानवीकरण, जबकि कन्फ्यूशसवाद मानव-मूल्यों को ही ताओ-अनुसारी करने की शिक्षा देता है। कन्फ्यूशसवाद के स्तम्भ हैं प्रकृति, विवेक और मानवीय दया-दाक्षिण्य।

कन्फ्यूशस द्वारा सम्पादित 'शासनपंचक' (द फाइव क्लासिक्स) और कन्फ्यूशस के वचनों के संग्रह 'अनलेक्ट्स' में तथा मेन्शियस की कृति में भी स्वर्ग अथवा ईश्वर का ही चरम माहात्म्य प्रतिपादित हुआ है। 'शासनपंचक' तथा 'द बुक ऑव सांग्स' में स्वर्ग के स्वामी ईश्वर का अभ्युपगम स्पष्ट है। किन्तु आगे चलकर 'सुं ज़ू' में भविष्य के गर्भ में स्थित पारंगत अथवा सिद्ध ज्ञानी ही ईश्वर बन जाता है, क्योंकि सनातन ईश्वर सृष्टि तो करता है, किन्तु पूर्णता का आधान नहीं कर सकता, जो सिद्ध पुरुष ही कर सकता है। भारत में आदिम बहुदेववाद और फिर प्राकृत ईश्वर-वाद से दार्शनिक सदैक्यवाद अथवा द्वैतवाद और उससे श्वेताश्वतरोपनिषद् के एकेश्वरवाद की ओर प्रगति हुई थी। अन्ततः गीता और शैव सिद्धांत में ईश्वर अनुग्रह द्वारा मनुष्य का त्राता और तारयिता बन जाता है। इसके विपरीत कन्फ्यूशस-वाद विश्वातीत ईश्वर, स्वर्ग के अधीश्वर, की कल्पना से आरम्भ होता है और आगे चलकर 'अनलेक्ट्स' और मेन्शियस में ईश्वर धरती और मानव के अधिक निकट हो जाता है। 'सुं ज़ू' में ईश्वर और अधिक पार्थिव, अतएव ससीम बन जाता है, क्योंकि वह सृष्टि कर सकता है, किन्तु उसे पराकाष्ठा तक नहीं पहुँचा सकता, जो केवल सिद्ध पुरुष ही कर सकता है। अन्ततः नव्यकन्फ्यूशस-दर्शन का व्यापक प्रचार हुआ। चौदहवीं शती में वह चीन का राष्ट्र-धर्म बन गया और बीसवीं शती के आरम्भ तक बना रहा। इस नये दर्शन में ईश्वर अपना ईश्वरत्व अथवा देवत्व खोकर प्रकृति का अनुप्राणन करने वाला 'उत्पत्ति-तत्व' (प्रिन्सीपल ऑव रेशनैलिटी) बनकर रह जाता है। (प्रस्तुत समीक्षक अपनी ओर से जोड़ने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा है कि यह 'उपपत्ति-तत्व' ताओवाद के 'ताओ' वैदिक 'ऋत' तथा इराक्लितोस (Heraclitus) के 'लोगोस' से तुलनीय है। इस प्रकार उक्त दर्शन में अन्ततः प्रकृति से अभिन्न, प्रकृतिमय अथवा प्राकृत ईश्वर की अवतारणा होती है। ज़ेनर की धारणा है कि इस परिणति के कारण चीन में साम्यवाद के लिए रास्ता साफ हो गया और साम्यवाद के हाथों समूची कन्फ्यूशसीय परम्परा का मूलोच्छेद हो गया।

जिस प्रकार हिन्दू धर्म में एक ओर अद्वैतवाद और सदैक्यवाद का विकास हुआ था और दूसरी ओर ईश्वरवाद ओर भक्तिवाद का, उसी प्रकार चीनी महायान में एक ओर ध्यान सम्प्रदाय के अन्तर्गत सर्वात्मभूत अखण्डैकरस बुद्धत्व का सिद्धांत विकसित हुआ और दूसरी ओर सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र में बुद्ध ईश्वर बन गये। ज़ेनर के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र का बौद्ध धर्म में वही महत्व है जो हिन्दू धर्म में गीता का, क्योंकि दोनों में ईश्वरवाद का उत्कर्ष होता है। गीता में निर्वाण परा गति नहीं बल्कि ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में एक आश्रम मात्र हैं। उसी प्रकार सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र में निर्वाण बुद्धत्व की प्राप्ति के मार्ग में एक विश्राम-स्थल मात्र है।

ध्यान-सम्प्रदाय में साधक पूर्ण उपशम की सिद्धि के लिए संकल्प-विकल्प, भाव-विचार, ऊहापोह चित्त को पूर्णतः रिक्त करके उस शान्त चित्त को स्वतन्त्र स्वाभाविक और यादृच्छिक रूप से व्यापार करने देता है। इस प्रक्रिया द्वारा साधक अपने अन्तस्तल में एक ऐसी अखण्डैकरस सत्ता का दर्शन करता है जो सभी भेदों में अभेद की प्रतिष्ठा करती है। इसे बुद्धत्व और शून्य भी कहा जाता है। ध्यान-सम्प्रदाय, स्वतन्त्रता और यादृच्छिकता का सबसे बड़ा पोषक है। वह यहां तक कहने को तैयार है कि तुम्हारे स्वतन्त्र विचरण के मार्ग में जो आये उसकी हत्या कर दो, चाहे वह साक्षात् बुद्ध ही क्यों न हो। वैसे ध्यान-सम्प्रदाय शुद्ध निषेधवादी दर्शन नहीं हैं, वह कर्म-सिद्धांत और पुनर्भववाद में पूर्ण आस्था रखता है, तथा यह भी मानता है कि पाप और पुण्य दोनों बन्धनकारक हैं और कि एक कर्मातीत अवस्था भी होती है जिसमें शरीर से जो कर्म सम्पादित होता है वह क्षुद्र 'स्व' द्वारा न होकर बुद्धतत्व द्वारा सम्पादित होता है। ध्यान-सम्प्रदाय एक पूर्ण अनासक्तिवादी जीवन-दर्शन है।

सामान्य भारतीय रहस्यवाद का मूल मन्त्र हैं मोक्ष और ईसाई रहस्यवाद का ईश्वर से सायुज्य। इन दोनों के समन्वय का बीज हमें गीता में प्राप्त होता है। गीतोक्त रहस्यवाद के चार चरण हैं : अनासक्ति अथवा असंग, परम आध्यात्मिक शान्ति, ब्रह्म-निर्वाण और ईश्वर से भक्तिपूर्ण सायुज्य। ईसाई रहस्यवाद प्रपंचोपशम, निर्वाण अथवा मोक्ष की उतनी कामना नहीं करता जितनी भगवद्भक्ति अथवा भगवान् से सायुज्य की। चूंकि ईसाई ईश्वर प्रेम-स्वरूप है, अतः प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद की त्रिकुटी ईसाई रहस्यवाद से अनन्यथा-सिद्ध है, ईसाई रहस्यवाद का अभिन्न अंग है। वैसे, ईसाई रहस्यवाद के भी लगभग उसी प्रकार भेद किये जा सकते हैं जिस प्रकार हिन्दू रहस्यवाद के। एक्खार्ट सदैक्यवादी अथवा अद्वैतवादी है, ऐन्जेलस साइलेसियस सर्वेश्वरवादी है, ह्यूग और रिचार्ड ऑव सेन्ट-विक्टर विशिष्टाद्वैतवादी हैं। ह्यूग बौद्ध प्रवृत्ति का रहस्यवादी है जो प्रपंचोपशम और निर्वाण का भूखा है, जबकि रिचार्ड आगे जाता है और परमशान्तिमय निर्वाण को अपर्याप्त मानता है।

संसार के बड़े धर्मों में यहूदी धर्म ही अकेला धर्म है जो रहस्यवाद को तनिक भी प्रश्रय नहीं देता। यह धर्म मुक्ति को महत्त्व नहीं देता, पाप से मुक्ति को भी नहीं, यद्यपि पाप से मुक्ति उसमें गतार्थ है। उसके अनुसार ईश्वर के आदेशों का पालन और उनके अनुसार जीवन-यापन ही मनुष्य का परम धर्म है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगे ज़ेनर ने 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' के 'सृष्टि' शीर्षक आद्य ग्रन्थ में वर्णित आदम के पतन की आख्यायिका पर विचार किया है। उक्त आख्यायिका की व्याख्या कई प्रकार से की जाने लगी है। ज़ेनर उसकी ताओवादी व्याख्या से सहमत है। यह व्याख्या ऊपर आ चुकी है। बक के अनुसार आदि मानव सरल चेतना से संपन्न प्राणी था, पशुओं के समान पाप-पुण्य और लज्जा-क्रीड़ा की भावनाओं से शून्य। इस अवस्था से वह आत्मचेतना की ओर अग्रसर हुआ। तब उसकी आँखें खुली। उसे अपनी नग्नता, पशुप्रायता का भान हुआ। इस पर उसमें लज्जा का उदय हुआ, पाप और पुण्य की चेतना जाग्रत् हुई और अन्ततः उसे श्रम करके जीविका चलाने और सभ्यता की प्राणप्रतिष्ठा करने को बाध्य होना पड़ा।

वस्तुतः दोनों प्रकार की व्याख्याएं सम्भव हैं : सृष्टि-ग्रंथ में एक दृष्टि से मानव के पतन की कहानी है, दूसरी दृष्टि से उत्कर्ष की। ताओवाद और रूसो सभ्यता के प्रादुर्भाव को मानव का पतन मानने के पक्ष में हैं, जबकि अन्य विचारक प्रायः उसे मानव के विकास, उत्कर्ष अथवा प्रगति का परिचायक बतलाते हैं।

यहूदी ईश्वर 'यह्वे' (वैदिक 'यह्वे' (ऋग्वेद ३·१·१२) समीक्षक) एक ईर्ष्या-द्वेष, प्रतिशोध-प्रतिहिंसा, वैषम्य-नैर्घण्य के भावों से भावित और युद्ध तथा ध्वंस में रत रहने वाली सत्ता है, जो अपनी पीड़ा देने की शक्ति और प्रतिशोध-भाव का बखान करते हुए नहीं अघाता। युंग के अनुसार 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' का ईश्वर, शक्ति-मत्ता को छोड़कर, मनुष्य की अपेक्षा कहीं हीनतर सत्ता है जिसकी क्रूरता और नृशंसता की सीमा नहीं। ज़ेनर, इस कारण, 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' को ईसाई धर्म के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थ मानने के पक्ष में नहीं है।

ज़ेनर के अनुसार ईसाई धर्म को नितान्त वैराग्यवादी धर्म समझना भूल है। यह प्रकृति के आत्यन्तिक निषेध पर नहीं प्रतिष्ठित है। मसीह और बुद्ध में आकाश और पाताल का अन्तर है। जीवन प्रकृति और आत्मा दोनों से निर्मित हुआ है, अतः प्रत्येक जीवन–रचना में दोनों को पूरा-पूरा स्थान मिलना चाहिए। तेलहार्द द शार्दां संभवतः प्रथम ईसाई धर्माचार्य हैं जिन्होंने प्रकृति और पुरुष के समन्वय पर बल देकर ज़ेनर के अनुसार ईसाई धर्म के सच्चे स्वरूप को उजागर किया। अन्यथा, मानवता ईसाई धर्म की सदा ग़लत व्याख्या करती आयी है। वस्तुतः ईसा बुद्ध नहीं। ईसा अवतरित होकर प्रकृति को पवित्र कर देते हैं, और निर्वाण नहीं बल्कि शाश्वत जीवन के उपहार का वचन देते हैं। उनकी घोषणा है—'मैं इसलिए आया हूँ कि वे जीवन प्राप्त करें और पूरा-पूरा प्राप्त करें।' (जॉन १०·१०) चार्ल्स पीगुई (Charles Pe'guy) जो ईसाई धर्म में पारलौकिकता और ऐहलौकिकता के बीच समन्वय करने वाले आदि पुरुषों में हैं, कहते हैं कि ईसा के रूप में ईश्वर के धरती पर अवतरण का एक विशेष अर्थ है, एक विशेष महत्व हैं। अवतार का अर्थ ही है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नित्य का अनित्य में संक्रमण, पुरुष का प्रकृति से पाणिग्रहण, पवित्रात्मा का कुमारी मेरी से परिणय शब्द हाड़-मांस बना, ईश्वर मनुष्य बना। सन्त पॉल से ही पुरुष और प्रकृति का यह दिव्य परिणय टूटने लगता है और तेलहार्द द शार्दा में ही पुनः जुड़ पाता है। भारतीय धर्मों और प्लातोनियों (अफ्लातूनियों) में आत्मा अपने अपवित्र जोड़े पुद्गल से पृथक् होने के लिए निरन्तर जोर मारती रही है। यदि ईसाई धर्म की स्थिति भी वही होती तो ईश-पुत्र ईसा अपने पितृचरण ईश्वर का सान्निध्य-लाभ त्याग कर कुमारी के गर्भ में प्रविष्ट होना पसन्द नहीं करते। ईसाई ईश्वर प्रकृति और मानव के कल्याण की चिन्ता के कारण ही अवतार धारण करता है।

ज़ेनर कहते हैं कि नित्य का अपलाप सरल है और अनित्य का अपलाप प्रशस्ततर, मार्क्सवादी होना सरल है और बौद्ध होना प्रशस्ततर, किन्तु ईसाई होने के लिए मार्क्सवादी और बौद्ध दोनों होना पड़ेगा, कन्फ्यूशसवादी और ताओवादी दोनों होना पड़ेगा। एक प्रकृति-परक निसर्ग-परक रहस्यवाद होता है और दूसरा आत्म-परक। प्रकृति-परक रहस्यवाद वाल्ट 'ह्विट्मन' और वैदिक संहिताओं का रहस्यवाद है और आत्म-परक रहस्यवाद बुद्ध और अद्वैत वेदान्त का। इनमें से आत्म-परक रहस्यवाद अधिक ख़तरनाक है।

बुद्ध और मसीह की तुलना करते हुए ज़ेनर कहते हैं कि बुद्ध पाप और दुःख पर विजय प्राप्त करने के लिए वैराग्य और अनासक्ति के बल संसार से ऊपर उठ जाते हैं, मानों वे किसी ऊँचे पर्वत पर आरूढ़ हों, कि संसार से नितान्त परे हो गए हों, जबकि मसीह परलोक से इस लोक में अवतरित हो, संसार के पाप और दुःख को अपने ऊपर लेकर, आत्मसात् कर, शूली पर चढ़ जाना वरण करते हैं। इस प्रकार मसीह धरती और स्वर्ग, प्रकृति और पुरुष, नित्य और अनित्य के समन्वय के शास्ता हैं।

ज़ेनर का यह मत भी ज्ञातव्य है कि 'धर्म-विज्ञान' (सायन्स ऑव रिलिजन) एक निरर्थक विद्या है। विज्ञान का अर्थ है 'प्राकृत विद्याएँ' (नैचुरल सायन्सेज़) अर्थात् वे विद्याएँ जिनकी विषय-वस्तु प्रकृति अथवा भूत-तत्त्व है, और भूत-तत्व की सत्ता गणितीय नियम पर आश्रित है। विपरीत इसके, धर्म का संबंध असीम और अनन्त से है जिसकी नापतोल संभव नहीं और जो प्रायः मानव-बुद्धि से अतीत माना जाता है। अतः ज़ेनर की दृष्टि में, हमें किसी न किसी दिव्य, अपौरुषेय, ग्रन्थ के सहारे असीम का यत्किंचित् संकेत प्राप्त करने को विवश होना पड़ता है। अतएव ज्योतिष अथवा रसायन जिस अर्थ में विज्ञान माना जाता है उस अर्थ में धर्म को विज्ञान नहीं माना जा सकता।

'कॉंकॉर्डेन्ट डिस्कॉर्ड' धर्म के तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में एक महत्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगदान है। इसकी सबसे बड़ी सिद्धि यह है कि इसने धर्म-तत्त्व के विषय में एक-बद्धमूल किन्तु भ्रान्त धारणा का सप्रमाण खण्डन कर दिया है। रामकृष्ण परमहंस गांधी और भगवानदास सब धर्मों की एकता, सत्यता और प्रामाणिकता, सर्वधर्म-सम-भाव, सब धर्मों की तात्त्विक एकता के पोषक थे। राधाकृष्णन् की गणना भी इसी श्रेणी में होती हैं। सभी धर्म सच्चे हैं, सब धर्म परम पद को प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त हैं, सब की शिक्षा एक है—इस प्रकार के सस्ते नारे धर्मों की प्रकृति के अज्ञान से ही जन्म लेते हैं। उनके प्रचलित रूप में धर्म-धर्म के बीच पूर्व-पश्चिम का भेद पाया जाता है। उदाहरण लीजिए। कहने को तो सभी धर्म ईश्वरवादी अथवा एकेश्वरवादी हैं, किन्तु सामी और भारतीय ईश्वरवादी/एकेश्वरवादी में जो मौलिक भेद है उसकी ओर दृष्टि कम ही गई है। सामी ईश्वरवाद बहुदेववाद विरोधी (एन्टीप्रॉलीथीइस्टिक) ईश्वरवाद/एकेश्वरवाद है, ऐसा ईश्वरवाद/एकेश्वरवाद जो ईश्वर के आगे किसी देवी-देवता को आराध्य नहीं मानता। इसके विपरीत, भारतीय ईश्वरवाद/एकेश्वरवाद बहुदेववाद-पुरस्सर (ट्रान्सपॉलीथीइस्टिक) ईश्वरवाद है, जो ईश्वर के साथ–साथ अन्य देवी-देवताओं की आराधना की भी अनुज्ञा देता है। कृष्ण का कहना है कि जो अन्य देवताओं की उपासना करता है वह भी प्रकारान्तर से ईश्वर की ही उपासना करता है। और अन्ततः ईश्वर को ही प्राप्त होता है (गीता ९·२३)। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' के अनुसार (सामी) ईश्वर एक ईर्ष्यालु ईश्वर है जो किसी अन्य की उपासना सहन नहीं कर सकता (एक्ज़ोडस २०·५)। कुरान में जो ईश्वर को 'ला-शरीक' (बिना साझे का) कहा है उसका यही अर्थ है। बल्कि उसमें तो यहां तक घोषणा है कि ईश्वर प्रत्येक पाप क्षमा कर सकता है किन्तु 'शिर्क' अथवा बहुदेववाद (ईश्वरेतर) की उपासना वह पाप है जिसे वह कदापि क्षमा नहीं कर सकता (निसा ४८)। इसी, प्रकार सामी सर्वेश्वरवाद (पैन-थीइज़्म) भी बहुदेववाद विरोधी सर्वेश्वरवाद है, जबकि भारतीय सर्वेश्वरवाद बहुदेववाद-पुरस्सर सर्वेश्वरवाद है। इसी प्रकार सूफी अद्वैतवाद बहुदेववादापलापी अद्वैतवाद है, जबकि भारतीय अद्वैत-वाद-बहुदेववाद पुरस्सर अद्वैतवाद है। यह भेद इतनी गहराई तक चला गया है कि अनी-श्वरवाद भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका है। अतएव सामी अनीश्वरवाद बहुदेववादापलापी अनीश्वरवाद है, जबकि भारतीय अनीश्वरवाद बहुदेववाद-पुरस्सर अनीश्वरवाद है। हमारे यहां जैन और बौद्ध दर्शन अनीश्वरवादी ही ठहरते हैं, किन्तु देवी-देवताओं की सत्ता अस्वीकार नहीं। बुद्ध और महावीर ने उनकी सत्ता तो मानी ही है, उनकी उपासना का विरोध भी नहीं किया है। चार्वाक की स्थिति का पता नहीं, किन्तु उनके आदि गुरू बृहस्पति सुर–गुरू भी हैं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर, जो सामी और भारतीय धर्मों में परिलक्षित होता है वह यह है कि भारत में ईश्वर का महत्व उतना अथवा उस प्रकार का शायद कभी नहीं रहा जितना अथवा जिस प्रकार का सामी धर्मों में पाया जाता है। वैदिक-औप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषद् काल से लेकर आधुनिक काल तक यहां यह सिद्धान्त अव्यभिचरित रहा है कि ईश्वर सामी अर्थ में स्रष्टा नहीं है। सामी ईश्वर असत् से सत्, अभाव से भाव, अवस्तु से वस्तु की सृष्टि करने की कला में प्रवीण है। कभी ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं था—न सृष्टि और सृष्ट्युपादान। तथापि ईश्वर ने सृष्टि रचदी। यह जादू भारतीय ईश्वर के वश का नहीं। वह असत् से सत् नहीं कर सकता, वह प्रकृति से विकृति, कारण से कार्य, उपादान से वस्तु की उद्भावना कर सकता है। हिन्दू-धर्म दर्शन की प्रायः सभी परम्पराएँ एक स्वर से, मुक्त कण्ठ से, स्वीकार करती है कि ईश्वर सृष्टि के उपादान का कर्त्ता नहीं है। सृष्ट्युपादान स्वतः सिद्ध होता है, वह चाहे प्रधान या प्रकृति के रूप में माना जाए, परमाणु-रूप में माना जाए। (माया-रूप माना जाय, अथवा ईश्वर के शरीर के रूप में माना जाय)। ईश्वर सृष्टि का कारण है, किन्तु निरुपादान कारण नहीं। वह या तो निमित्त कारण है जो स्वतःसिद्ध उपादान को सृष्टि का रूप दे देता है, और या अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है जिसका शरीर ही उपादान कारण है और परिणत होकर जगत् का रूप ले लिया करता है। इस प्रकार भारतीय ईश्वर सृष्टि रचना नहीं, रूपायित करता है, कर्त्ता नहीं, विकर्ता है।

भारतीय परम्परा में ईश्वर की उपासना का भी वह महत्त्व नहीं है जो सामी ईश्वर की उपासना का है। यहां आत्म-साक्षात्कार, आत्म-लाभ, स्वरूपावस्थान का महत्व अधिक है। ईश्वर-प्रणिधान उसका कई साधनों में से एक साधन है। 'योग-सूत्र' के 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१·२३) से तुलना कीजिए। आत्म-लाभ अथवा स्वरूपावस्थान अनीश्वरवादी आस्तिक दर्शनों और अद्वैत वेदान्त में मोक्ष का पर्याय ही बन गया है। वस्तुतः भक्तिवादी दर्शनों में से कुछ को छोड़कर, अन्य मोक्षवादी दर्शनों का निर्णय है कि पूर्णता जीव में ही निगूढ़ है। उस निगूढ़ पूर्णता को चरितार्थ भर कर देना है, क्योंकि जीव ही ब्रह्म अथवा आत्मपूर्ण सत्ता है, जो अपने स्वरूप के प्रति किसी प्रकार अज्ञान अथवा अविद्या में पड़ जाने के कारण अपने को भूला हुआ है। आत्मसाक्षात्कार के बाद वह अपनी पूर्णता का उद्धार करके रहेगा।

परवर्ती भारतीय दर्शनों में भी ईश्वर की स्थिति अथवा उसके प्रति मनोभाव सामी धर्मों से अत्यन्त भिन्न है। मध्यकालीन अथवा अनतिप्राचीन दर्शन-प्रस्थानों में ईश्वर का कितना अवमूल्यन हुआ है यह दर्शन-सूत्रों के पाठक भलीभांति जानते हैं। 'नास्तिक' दर्शन–जैन, चार्वाक, आज़ीवक, बौद्ध (चाहे बुद्ध को संदेह का लाभ दें)–तो खुल्लमखुल्ला अनीश्वरवादी अथवा ईश्वरवाद के शत्रु हैं ही, 'आस्तिक' दर्शन-सूत्रों में भी कई तो स्पष्ट रूप से अनीश्वरवादी हैं अथवा ईश्वर का निषेध करते हैं, कई अपने सदसद्-विचार अथवा अस्तित्व-मीमांसा में ईश्वर को कोई स्थान ही नहीं देते, कई ईश्वर की सत्ता तो स्वीकार करते हैं किन्तु उसे जगत् का जनक नहीं मानते, और एक दर्शन-सूत्र ऐसा है जो ईश्वर को जगत् का जनक तो मानता है किन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे असत् से सत् का कर्त्ता अथवा स्रष्टा नहीं मानता है। अतएव, 'सांख्य-सूत्र' और 'सांख्य-कारिका' कण्ठतः अनीश्वरवादी हैं, 'सांख्य-सूत्र' में तो ईश्वर का खण्डन भी पाया जाता है। 'वैशेषिक-सूत्र' में ईश्वर का कहीं संकेत भी नहीं है। सांख्य और वैशेषिक दर्शनों का पदार्थशास्त्र तथा सृष्टिशास्त्र भी ईश्वर की कहीं अपेक्षा नहीं करता। 'मीमांसा-सूत्र' में भी ईश्वर का दूर का संकेत नहीं है 'न्याय-सूत्र' के तीन सूत्रों (४·१–१९–२१) में ईश्वर का प्रतिपादन अवश्य है, किन्तु यदि वे सूत्र प्रक्षिप्त नहीं हों तो भी वे ईश्वर को केवल कर्मफल-प्रदाता सिद्ध करते हैं। पूरे ग्रन्थ में इसका संकेत भी नहीं है कि वह स्रष्टा भी है। वस्तुतः 'न्याय-सूत्र' को अपने समानतंत्र 'वैशेषिक-सूत्र' का पदार्थशास्त्र अभिमत है, अतः उसमें सृष्टि की समस्या उठायी ही नहीं गई है। 'योग-सूत्र' में भी ईश्वर माना तो गया है किन्तु उसे 'निरतिशयं सर्वज्ञ-बीजं' (१·२५) 'पूर्वेषामपि गुरुः' (१·२६) तथा 'पुरुष-विशेषः' (१·२४) कहा गया है और यह कहीं नहीं इंगित किया गया है कि वह स्रष्टा भी है। वस्तुतः 'योग-सूत्र' को भी अपने समान-तंत्र सांख्य का पदार्थशास्त्र मान्य है, अतः उसे सृष्टि पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं हुई। इस प्रकार, प्रचलित छः आस्तिक दर्शन-सूत्रों में से पाँच में सृष्टि-कर्त्ता की कल्पना को प्रश्रय नहीं दिया गया है। अकेले 'ब्रह्म-सूत्र' में ईश्वर के संबंध में 'जन्माद्यस्ययतः' (१·१·२) सूत्र पटित हुआ है, जिसके अनुसार ईश्वर जगत् का जनक है। किन्तु 'तदनन्यत्व मारम्भणशब्दादिभ्यः' (२·१·१४) सूत्र द्वारा उसे सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण घोषित करते हुए उसके असत् से सत् के कर्तव्य का खण्डन किया गया है। यह भी उल्लेखनीय है कि शंकर ने 'ब्रह्म-सूत्र' के भाष्य (२·२·३७–४२) में केवल "निमित्तकारणभूत अधिष्ठातृस्वरूप" ईश्वर की स्थापना करने वाले माहेश्वरों, भागवतों आदि के ईश्वर का स्पष्ट शब्दों में खण्डन किया है। वैशेषिक परम्परा में आगे चलकर ईश्वरवाद का प्रवेश हो गया। युक्तिदीपिका (मोतीलाल बनारसीदास, १९६७) पृ० ७३ के अनुसार ऐसा पाशुपतों के प्रभाव के कारण हुआ। 'वैशेषिक-सूत्र' (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़) ५·२·१४ में परमाणुओं की आद्य गति का कारण ईश्वर को नहीं अदृष्ट को बताया गया है।

मध्यकालीन भारतीय दर्शन में ईश्वर के अवमूल्यन की ओर बानगी लीजिए। वात्स्यायन 'काम-सूत्र' के आरम्भ में धर्म, अर्थ और काम को नमस्कार करते हैं (नमो धर्मार्थकामेभ्यः) ईश्वर या किसी अन्य देवता को नहीं। चाणक्य के सूत्र-ग्रन्थ (३७१) के अनुसार राजा से बड़ा कोई देवता नहीं (न राज्ञः परं दैवतम्)।

प्रत्येक धर्म किसी न किसी रूप में कर्म-सिद्धान्त को प्रश्रय देता ही है। धर्मों के अनुसार मनुष्य को संसार में किये गए कर्मों का फल सामान्यतः भोगना ही पड़ता है, यहाँ अथवा परलोक में; ईश्वर का विशेष अनुग्रह हो जाए तो बात और है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु कर्म को जो महत्व हिन्दू धर्म में प्राप्त है वह किसी भी अन्य धर्म में नहीं। हिन्दू तो यहाँ तक कहता है कि किये हुए कर्मों का फल ईश्वरों को भी भोगना पड़ता है, और कि प्रारब्ध कर्म का क्षय भोग से ही संभव है, यद्यपि यहाँ पाप से मुक्ति की बात भी उठी है। मीमांसा दर्शन कर्म को स्वतः फलद मानता है, एतदर्थ उसे ईश्वर की अपेक्षा नहीं होती। भर्तृहरि (नीति शतक १०८) यहां तक लिख जाते हैं—

'नमस्यामो देवान्? ननु हतविधेस्तेऽपि वशगाः'
'विधिर्वन्द्यः? सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः'
'फलं कर्मायत्तं, किममरगणैः? किं च विधिना
'नमस्तत् कर्मभ्यो, विधिरपि न येभ्यः प्रभवति।'

अर्थात् देवताओं को नमस्कार करने से क्या होगा, वे तो ब्रह्मा के वश में हैं। क्या ब्रह्मा की वन्दना की जाए? किन्तु वह तो कर्म का नियत फल ही दे सकते हैं। वस्तुतः फल कर्म पर आश्रित है जिस पर न देवताओं का अधिकार है और न ब्रह्मा का। तो क्यों न कर्म ही को नमस्कार किया जाए? यह सोच कर भर्तृहरि कर्म ही को नमस्कार करते हैं। वस्तुत: हिन्दू यहाँ तक मानता है कि जीव कर्म के बल इन्द्र, ब्रह्मा, शिव, गणेश सब बन सकता है (देवी भागवत् ६·२७·१८) और तो और, वह ज्ञान अर्जित कर साक्षात् ब्रह्म भी बन सकता है (ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' मुण्डकोपनिषद् ३·२·६ 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' बृहदारण्यकोपनिषद् ४·४·६)।

कर्म का इतना व्यापक महत्त्व अन्य धर्मों में सर्वथा अचिन्त्य है। सामी धर्म कर्म की गति मानव की उत्पत्ति के बाद स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में, सृष्टि हुई ही क्यों? इस प्रश्न से कर्म का कोई संबंध नहीं है। उनके यहाँ सृष्टि ईश्वर की यादृच्छिक और स्वच्छन्द सिसृक्षा का परिणाम है। इसके विपरीत 'योग-सूत्र' (२·१८) संसार को कर्मों का भोग और मोक्ष-प्राप्ति के लिए (भोगापवर्गार्थ) बतलाता है।

ज़ेनर ने रहस्यवादी धर्म और पैगम्बरी धर्म के भेद पर बहुत बल दिया है जो समीचीन ही है। पैगम्बर ईश्वर का संदेश लाता और प्रचारित करता है। वह संदेश पुस्तक रूप में हो अथवा अन्यथा, सर्वथा अनुल्लंध्य है। किन्तु कृष्ण हिन्दू धर्म-ग्रन्थ वेद को 'त्रैगुण्यविषयाः' बताते हैं और उनसे आगे जाने, 'निस्त्रैगुण्य' होने, का उपदेश करते हैं (गीता २·४५)। यह सामी स्वर के ठीक विपरीत स्वर है। मीमांसक तो वेद के प्रणेता के रूप में भी ईश्वर की कल्पना अनावश्यक समझते हैं। उनके लिए वेद दोनों अर्थों में अपौरुषेय हैं—वे न पुरुष-कृत हैं और न परमपुरुष-कृत। इससे बढ़कर ईश्वर की अनपेक्षा और क्या हो सकती है?

इतने मौलिक भेदों के रहते हुए सब धर्मों को एक कहने का कोई तुक नहीं। अतः ज़ेनर ने धर्मों के प्रचलित रूपों में तात्विक एकता का जो खण्डन किया है वह सर्वथा यौक्तिक और श्लाघ्य हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब धर्मों में तात्विक एकता मानने वालों का एक अन्य समुदाय है जिसकी दृष्टि अपेक्षया अधिक तलस्पर्शिनी है। यह सम्प्रदाय धर्मों के वर्तमान रूपों की तात्विक एकता का आग्रही नहीं, वह उनकी प्राणप्रद प्राचीन परम्पराओं को एक अथवा समान मानने के पक्ष में है। इस सम्प्रदाय के अग्रदूत हैं रेन गेनों, आनन्दकुमार स्वामी, आल्डस हक्सले, ज़िमर जैसे विद्वान। इन विद्वानों ने प्राचीन परम्पराओं में निहित तात्विक एकता के बीज उद्घाटित किए हैं। हमने सामी और भारतीय धर्मों में मौलिक भेदों की ओर इंगित किए हैं, किन्तु कालक्रम में हम जितना ही पीछे जाते हैं उतनी ही इस बात की संभावना बढ़ती जाती है कि धर्मों का आदि स्रोत एक अथवा समान है। उस स्तर पर सामी और भारतीय का भेद भी समाप्त हो जाता है। हम पाते हैं कि वैदिक धर्म और जरथुस्त्री धर्म मूलतः एक हैं, कि यहूदी धर्म प्रायः जरथुस्त्रीय धर्म का भारी पैमाने पर ऋणी है, और कि ईसाई तथा इस्लाम धर्म यहूदी धर्म में ही हेर-फेर के परिणाम-स्वरूप अस्तित्व में आए हैं। ऊपर देवदूती और रहस्यवादी धर्मों के बीच जो खाई दिखलाई गई है वह भी ऐसी नहीं जो प्राचीन परम्परा द्वारा भी पाटी न जा सके। स्थूल रूप से सामी धर्म देवदूती धर्म हैं और भारतीय धर्म रहस्यवादी, किन्तु दोनों को मिलाने का कार्य करता है जरथुस्त्री धर्म, जिससे ही देवदूती परम्परा का जन्म होता है। ज़ेनर ने भी जरथुस को आदि देवदूत माना है। कालप्रवाह में और पीछे जाइए तो पता चलेगा कि वैदिक आर्य चाहे वर्तमान भारत के मूल निवासी रहे हों, चाहे किसी बृहत्तर भारत के मूल निवासी रहे हों, चाहे बाहर से आए हों, आज जिसे मध्य-पूर्व अथवा पश्चिमी एशिया कहा जाता है वह वैदिक आर्यों अथवा उनकी किसी अतिप्राचीन शाखा अथवा किसी सगोत्र उपजाति की क्रीड़ा-भूमि अथवा प्रभाव-भूमि रहा है। बोग़ज़कोई की खुदाई में मेसोपोटेमिया और मिश्र देश के राजाओं के बीच जो समय हुआ था उसके इष्टिका अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ जैसे वैदिक देवताओं को साक्षी माना गया है। इस संबंध में अन्य भी अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि कभी मिश्र से सप्तसिन्धु अथवा उत्तर भारत तक का विशाल भूखण्ड आर्यनिवास था। इस प्रकार भारत और सामी देशों की परम्पराएँ भी अन्ततः एक ठहरती हैं। विद्वानों की खोज जारी है जिससे उक्त भूखण्ड की मौलिक सांस्कृतिक एकता पर अधिकाधिक प्रकाश पड़ता जा रहा है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई के फलस्वरूप जो सभ्यता प्रकाश में आई थी उसका विस्तार हिमाचल प्रदेश और नर्मदा की घाटी तक सिद्ध हो गया है। आगे इस विशाल क्षेत्र के और बढ़ने की संभावना है। कतिपय विद्वानों ने हड़प्पा की लिपि का भी पर्याप्त सीमा तक अध्ययन कर लेने का दावा किया है, जिनमें अधिकतर का निष्कर्ष है कि यह सभ्यता आर्य-सभ्यता से अभिन्न है और इस सभ्यता के प्रतिरूप अथवा समरूप मध्य एशिया में भी पाए गए हैं, जिससे भी उपर्युक्त धारणा, भार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीय और सामी सांस्कृतिक परम्पराओं की मौलिक एकता, सगोत्रता अथवा साम्य की धारणा, की भलीभाँति पुष्टि होती है। किन्तु इस विषय का विस्तार यहाँ नहीं किया जा सकता।

धर्मों के समन्वय का एक अन्य रूप भी प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि सभी धर्म किसी व्यापक विकास-प्रवाह की विविध ऊर्मियाँ हैं, किसी व्यापक विकास-शृंखला की विविध कड़ियां हैं। कैथोलिक ज़ेनर कैथोलिक ईसाइयत को धर्मों की विकास-परम्परा का चरमोत्कर्ष, चूड़ान्त निदर्शन मानते हैं। इस्लाम धर्मावलम्बी धार्मिक विकास-परम्परा की परिणति इस्लाम में देखने के अभ्यासी हैं। इस्लाम अन्तिम विश्व-धर्म है, अतः धर्म का अन्तिम, सुविकसिततम रूप है। बहाई धर्म भी कुछ इसी प्रकार का दावा करता पाया जाता है। ये चरम धर्म पूर्व धर्मों की सारी सिद्धियों को आत्मसात् करके चरमोत्कर्ष प्राप्त कर सके हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। किन्तु प्राचीन धर्मों के अनुयायियों की दृष्टि में इस अभिमत का कोई ठोस आधार नहीं है।

वस्तुतः सब धर्मों, सब धर्मों के प्रचलित रूपों का समन्वय सम्भव ही नहीं है। वैसे समन्वय अच्छी चीज़ है, जहां सम्भव हो। किन्तु वह सर्वत्र सम्भव नहीं है। बलात् किया जाने वाला 'समन्वय' 'संकर' हो जाता है, 'सिन्थेसिस' 'सिन्क्रीटिज्म' हो जाता है। यामुनाचार्य ने 'आगम-प्रामाण्य' में धर्म-संकर की निन्दा इन शब्दों में की है :

'शैवं, पाशुपतं, सौम्यं, लागुडश्च चतुर्विधम्,
'तन्त्रभेदः समुद्दिष्टः, संकरं न समाचरेत्।'

अर्थात् शैव, पाशुपत, सौम्य और लागुड चारों तन्त्रों को भिन्न रखा गया है, इनमें संकर नहीं करना चाहिए। वस्तुतः तत्वज्ञान साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों का संयुक्त फल है। केवल साधर्म्य, केवल समन्वय, भ्रान्ति का कारण बन सकता है।

कुछ लोग सब धर्मों को, धर्म-मात्र होने के आधार पर, धर्मत्व-सामान्य के समान रूप से भागी होने के आधार पर प्रमाण मानकर चलते हैं। ऐसे सर्वधर्म-प्रमाणवादी अथवा सर्वागमप्रमाणवादी सज्जनों की चुटकी लेते हुए नैयायिक-मूर्धन्य जयन्त भट्ट ने अपनी 'न्यायमंजरी' (प्रमाण-खण्ड, पृ० २४८) में लिखा है—

'सर्वागमप्रमाणत्वे नन्वेवमुपपादिते
'अहमप्यद्य यत्किंचिदागमं रचयामिचेत्,
'तस्यापि हि प्रमाणत्वं दिनैः कतिपयैर्भवेत्।'

अर्थात् जब सभी आगम प्रमाण माने जायेंगे, तब यदि मैं भी एक आगम रच दूँ, तो वह भी कुछ दिनों में प्रमाण मान लिया जायगा।

धर्मों के समन्वय का एक आदर्श हिन्दू धर्म ने भी प्रस्तुत किया है। उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार नैष्ठिकी श्रद्धा से युक्त कोई भी धर्म-पथ कल्याणकारी होता है। गीता (१७·३) कहती है—

"सत्वानुरूपा सर्वस्व श्रद्धा भवति, भारत।
"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो, यो यच्छ्रद्धः स एव सः।"

अथवा सबकी श्रद्धा उसके व्यक्तित्व, उसके स्वरूप, उसकी पात्रता के अनुरूप होती है। जैसा पुरुष होता है वैसी ही उसकी श्रद्धा होती है और जो उसकी श्रद्धा होती है वही वह होता है, क्योंकि पुरुष श्रद्धामय होता है। यह भी कहा गया है (४·११):—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्
'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।'

अर्थात् जो ईश्वर तक जैसा पहुँचता है वैसे ही वह उससे बरतता है। वस्तुतः सभी मनुष्य ईश्वर ही के मार्ग का अनुसरण करते हैं। कृष्ण यहां तक कह जाते हैं (९·२३):

'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।'

अर्थात् अन्य देवताओं के उपासक भी अन्ततः ईश्वर के ही उपासक हैं।

गीता के समन्वयवाद में व्यक्ति की धार्मिकता का मानदण्ड उसकी श्रद्धा है, धार्मिक रूढ़ि नहीं। व्यक्ति के अधिकार, व्यक्ति की पात्रता, के अनुसार ही धर्म के स्वरूप का निर्णय होता है। अतः प्रत्येक धर्म-मार्ग प्रत्येक के लिये श्रेयस्कर नहीं हो सकता। यह समन्वयवाद का सर्वाधिक उदार तथा समझ में आने वाला आदर्श है जो संकरता के मार्ग से सर्वथा भिन्न है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म अन्य सभी धर्मों पर भारी पड़ता है, क्योंकि उसमें सभी के अधिकारानुरूप तत्व विद्यमान है। ज़ेनर ने कैथोलिक ईसाइयत को धर्म के इतिहास की चरम परिणति घोषित करने के आवेश में इस तथ्य को भुला दिया है।

ज़ेनर ने ईश्वर की कल्पना के विकास को धर्म के महत्व का मापदण्ड माना है और यह दिखलाने की चेष्टा की है कि धर्मेतिहास की चरम परिणति प्रायः ईश्वरवाद में होती है। वे यह भी दावा करते हैं कि ईश्वरवाद का सुविकसिततम तथा उज्ज्वलतम रूप कैथोलिक ईसाई धर्म में प्राप्त होता है, यद्यपि, उन्होंने अपने विशाल ग्रन्थ में अपनी धारणा के पक्ष में कोई भी ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। अस्तु, वे सगुण ईश्वर को ब्रह्म से बड़ा अथवा आगे की अवस्था मानकर गीता को उपनिषदों की अपेक्षा श्रेष्ठतर धर्मग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। गीता में क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम तीन पुरुष माने गए हैं। यहां अक्षर का अर्थ उनके अनुसार ब्रह्म है, अतः पुरुषो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्तम ब्रह्म से बड़ा हुआ। और जेनर के अनुसार पुरुषोत्तम का अर्थ है ईश्वर, सगुण ईश्वर, पर्सनल गॉड। यह एक भ्रम है जिसका निराकरण आवश्यक है। जैसा ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, हिन्दू धर्म में सामी ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः पुरुषोत्तम ब्रह्म से उतना भिन्न नहीं जितना समझा जाने लगा है। वस्तुस्थिति को सम्यक् रूप से हृदयंगम कर लेना चाहिये। वैदिक 'पुरुष' विश्वात्मक भी है और विश्वातीत भी है, चल भी है और अचल भी है, परिणामी भी है और अपरिणामी भी है, दूर भी है और निकट भी है, भीतर भी है और बाहर भी है। उसका एक पाद विश्व के रूप में परिणत होता रहता है और उसके तीन पाद अपरिणत रहते हैं। इस प्रकार वह क्षर भी है अक्षर भी है, अर्थात् क्षर और अक्षर दोनों को समेटने वाला आत्मसात् करने वाला है, तथा दोनों से अतीत भी है। लगता है कि पहले इस पूर्ण ब्रह्म, उभयरूप ब्रह्म, की उपासना होती थी। वे संसार के स्वीकार-पूर्वक उसके अतिवर्तन, उससे अतिक्रान्ति का युग था। उस समय कर्म-श्रुतियों और कर्मत्याग-श्रुतियों में समन्वय था। महाभारत में कई बार कहा गया है कि वेद में दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं—कर्म का अनुष्ठान करो, कर्म का त्याग करो (उदाहरणतः, शान्तिपर्व १६.१) :

'उभयं वेदवचनं—कुरु कर्म त्यजेति च।'

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही वेद में उपदिष्ट हैं और दोनों में अविरोध है—विश्व-पुरुष की उपासना प्रवृत्ति है और विश्वातीत पुरुष की उपासना निवृत्ति। विश्व-पुरुष और विश्वातीत पुरुष के पर्याय के रूप में यजुर्वेद (४०.९-११) अथवा ईशावास्योपनिषद् (१२-१४) में 'सम्भूति' और 'असम्भूति' (अथवा 'विनाश') का प्रयोग प्राप्त होता है। श्वेताश्तरोपनिषद् (१.७, ८, १०, ५.१) तथा गीता (१५.१७-१८) में इन्हें ही 'क्षर' और 'अक्षर' पुरुष कहा गया है। आगे चलकर इन्हीं के लिए 'संसार' और—'निर्वाण' का प्रयोग आरम्भ हुआ, जिसका निदर्शन हमें बौद्ध धर्म में प्राप्त होता है। इन्हीं से सम्बद्ध ज्ञान को यजुर्वेद (४०.१२-१४) अथवा ईशावस्योपनिषद् (९-११) में 'अविद्या' और 'विद्या' नाम से अभिहित किया गया है। लगता है कि कालान्तर में इस समन्वय भाव का ह्रास होने लगा और कुछ लोग उक्त युग्म में एक को बढ़ावा देने लगे और अन्य लोग अन्य को। इस नये अतिवाद का वैदिक ऋषियों ने डटकर विरोध किया होगा क्योंकि इस विरोध की ध्वनि हमें यजुर्वेद के उक्त स्थलों में स्पष्ट सुनाई देती है। वहां कहा गया है कि सम्भूति अथवा असम्भूति, अविद्या अथवा विद्या को ही सब कुछ मान कर उसी में रत रहने वाले नर घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और कि मानव का परम कल्याण दोनों की समन्वित उपासना में निहित है। यह दूसरी बात है कि चार्वाक और श्रमणों (जैनों, बौद्धों, आजीवकों) ने वेद की चेतावनी नहीं सुनी और अतिवाद के प्रचारक हुए। अथर्ववेद में एक स्थान पर 'विद्या', 'अविद्या' तथा 'किसी अन्य उपदेश्य' की चर्चा आयी है और उन्हें क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद से जोड़ा गया है (११.८.२३) :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'विद्याश्च वाविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम्
'शरीर ब्रह्म प्राविशदृचः, सामाथौ, यजुः।

गीता ने इस त्रिक—विद्या अविद्या और अन्य—से संकेत ग्रहण किया होगा, क्योंकि उसने क्षर और अक्षर के साथ तीसरे तत्व की भी उपस्थापना की जिसे उसने पुरुषोत्तम, उत्तमपुरुष अथवा ईश्वर की संज्ञा दी। वस्तुतः यहाँ भी अन्ततः तीन तत्व नहीं बल्कि तीन तथ्य हैं, जो हैं मूलतः एक किन्तु व्यवहार में भिन्न प्रतीत होते हैं। वस्तुतः पुरुषोत्तम सर्वरूप है, सर्वात्मक है, एक है। इस प्रकार गीता ने कोई नया काम नहीं किया। जिस टूटे सम्बन्ध-सूत्र को जोड़ने का प्रयास यजुर्वेद के ऋषि ने किया था उसी को गीता ने अपने ढंग से जोड़ने का प्रयास किया है। अन्यथा पुरुषोत्तम और वैदिक 'पुरुष' में तात्विक भेद नहीं। पुरुष अथवा ब्रह्म को अद्वैतवादियों ने अक्षर-मात्र कल्पित करके जो असंगति उत्पन्न की थी उसी का मार्जन गीता ने पुरुषोत्तम की उद्भावना करके करने की चेष्टा की है। बात वही हुई। वैदिक पुरुष, औपनिषद् ब्रह्म और गीता-प्रतिपाद्य पुरुषोत्तम एक ही सत्ता के तीन नाम हैं। उस के अक्षर अथवा कूटस्थ रूप का आग्रह बढ़ने से गीता ने उसके मूलभूत सर्वसमन्वित रूप को पुरुषोत्तम के नाम से ला बिठाया। अक्षरब्रह्माद्वैतवाद योगवसिष्ठकार मण्डनमिश्र और शंकराचार्य की मौलिक सूझ नहीं है, वह काशकृत्स्न प्रभृति के काल से भी प्रचीनतर प्रतीत होता है।

ब्रह्म के नर-रूप में धरती पर अवतरण, नरलीला–प्रदर्शन और भक्तों के परित्राण का सिद्धान्त निश्चय ही अपेक्षया नवीन है। किन्तु इससे जेनर का पक्ष सिद्ध नहीं होता। वे स्वयं कहते हैं कि अवतारवाद केवल हिन्दू और ईसाई धर्म की विशेषता है। इस प्रकार इसे नियम न मानकर अपवाद की कोटि में रखना चाहिये। वस्तुतः यह एक दृष्टि से धर्म की ह्रासोन्मुखता का लक्षण माना जा सकता है। हिन्दू धर्म ही को लीजिए। यह प्रायः अविवाद्य है कि उपनिषद्-युग हिन्दू धर्म का स्वर्ण-युग था और कि इसमें अवतारवाद का प्रवेश इस युग के बाद ही हुआ। और इसका व्यापक प्रचार-प्रसार तो निश्चय ही हिन्दू धर्म की अधोगति के युग में हुआ था। इसी प्रकार उपासना का औपनिषद् रूप—तद्भाव–भावित होकर तद्रूप हो जाने की छटपटाहट, ब्रह्मभूत हो जाने की अन्तःप्रेरणा, अल्प अथवा अपूर्ण से भूमा अथवा पूर्ण की प्राप्ति की उद्दाम वासना से समुद्भूत चित्तवृत्ति और जीवनवृत्ति-प्रत्येक दृष्टि से उत्कृष्ट माना जायगा। स्वयं गीता कहती है कि भगवान् की उपासना स्वकर्म से करनी चाहिये (१८.४६)—

"यतः प्रवृत्ति र्भूतानां, येन सर्वमिदं ततम्;
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः।"

इसे देखते हुए भक्ति के जिस रूप का परवर्ती हिन्दू धर्म में इतना मान बढ़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह कुल मिलाकर एक ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति ही मानी जा सकती है। ज़ेनर ने उत्तम और अधम कोटि की भक्ति में जो भेद किया है वह महत्त्वपूर्ण है। किन्तु भक्ति को निश्चयेन धर्म का विकसिततम् रूप मानने का कोई आधार नहीं है। समाज में जब भक्तों की बाढ़ आती है तो वह अकर्मण्य हो जाता है। वस्तुतः सगुण भक्ति का प्रवाह जाति की समुन्नत दशा में शिथिल ही पाया गया है। यह सही है कि प्राकृत जन तथा विशेष प्रकार के अधिकारियों के लिए वह उपयोगी है, किन्तु बहुतों के लिए उससे भी अधिक उपयोगी वस्तु देव-पूजा व्रत, अनुष्ठान आदि कहे जा सकते हैं। जो हो, सगुण भक्ति का विकास इतने सहज भाव से धर्म का एकमात्र चूड़ान्त निदर्शन नहीं माना जा सकता।

रहस्यानुभूतियाँ सर्वत्र समान होती हैं, इस भ्रान्ति के खण्डन में ज़ेनर सबसे आगे हैं, और वस्तुतः ज़ेनर की यही सबसे बड़ी सिद्धि है। विलक्षण भारतीय योगी और दर्शनज्ञ साधु शान्तिनाथ ने अपने ४० वर्ष से ऊपर के योगाभ्यास और समाधि की ऊँची से ऊँची भूमिकाओं के गहरे अनुभव के आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सभी साधना-पक्ष एक ही गन्तव्य की ओर नहीं ले जा सकते। वे अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि समाधि की विविध भूमियों में तत्व-दर्शन नहीं होता, संस्कार-दर्शन होता है—जैसा संस्कार वैसा दर्शन।

वस्तुतः इस्लामी रहस्यवाद के इतिहास से भी यह बात उत्पन्न होती है कि रहस्यवाद-रहस्यवाद में मौलिक भेद होता है जिसका अपलाय सम्भव नहीं है। जैसा-कि सर्वविदित है, तसव्वुफ की मूल धाराएँ दो हैं—वुजूदी (अद्वैतवादी) और शुहूदी (द्वैतवादी)। शाह वलीउल्लाह ने अपने 'फैसलः—ए वहदतुऽल्वुजूद-ओ शुहूद' में लिखा है कि इन दो धाराओं में अन्तर केवल उपमा और रूपक का है, तात्विक नहीं। किन्तु यह मत निराधार है। प्रसिद्ध शुहूदी सूफी मुजद्दिदे अल्फेसानी ने लिखा है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से भिन्न है, किन्तु समाधि में ऐसी भूमिका प्राप्त होती है जहाँ ब्रह्मेतर सत्ता का लोप प्रतीत होता है, यद्यपि लोप वास्तविक नहीं। सूर्योदय के अनन्तर आकाश में तारे अदृश्य हो जाते हैं, यद्यपि वे निरन्तर विद्यमान रहते हैं। जगत् की ठीक यही दशा है। (द्रष्टव्य 'मक्तूबाते मुजद्दिदे अल्फेसानी; मक्तूब ४३ जीम, आदि) शुहूदियों का यह भी विश्वास है कि वुजूदी सुक्र (मद) की दशा में अद्वैत बकते हैं। यह सब देखते हुए रहस्यवाद को एक ही प्रकार का मानना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार, ईसाई दृष्टि में रहस्यवाद का अर्थ है ईश्वर और मानव में वैयक्तिक सम्बन्ध। जैसाकि जेनर ने भी औरों के हवाले से लिखा है, यह एक प्रकार का प्रेम-व्यापार (लव-अफेयर) है। अद्वैत वेदान्त में यह व्यापार असम्भव है। अद्वैतवाद के अनुसार मानव और ईश्वर के ऐक्य का बोध ही रहस्यवाद है।

अन्त में भारतीय धर्म-दर्शन के सम्बन्ध में ज़ेनर की एक भारी भूल का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्घाटन अप्रासंगिक नहीं होगा। ज़ेनर को धर्म और मोक्ष में आत्यन्तिक विसंगति तथा विरोध दिखायी देता है। उपनिषद् में मोक्ष-मार्ग पर आरूढ ज्ञानी अथवा जीवन्मुक्त को पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म से परे घोषित किया गया है (द्रष्टव्य मुण्डकोपनिषद् ३·१·३, मैत्रायण्युपनिषद् ६·१८, कठोपनिषद् १·२·१४, तैत्तिरीयोपनिषद् २·६, बृहदारण्यकोपनिषद् ४· ४· २२) कोषतिकिब्राह्मणोपनिषद् (३. १) में इन्द्र का दावा है कि ज्ञानी को बड़े से बड़ा पाप भी हानि नहीं पहुँचा सकता। उसे पाप लगता ही नहीं, चाहे वह मातृवध, पितृवध स्तेय अथवा भ्रूणहत्या ही क्यों न कर डाले। इन्द्र स्वयं अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहता है कि उसने स्रष्टा प्रजापति के तीन मस्तक वाले पुत्र विश्वरूप को मार डाला, कितनों को भेडियों-लकड़बग्घों के आगे डाल दिया, कितनों को मौत के घाट उतार दिया, किन्तु उसे कोई पाप नहीं लगा, उसका बाल भी बांका नहीं हुआ। गीता (१८·१७) का सिद्धान्त है कि जो अहंकार-भाव से मुक्त है और जिसका मन निर्लिप्त है वह लोकों की हत्या कर के भी हत्या का दोषी नहीं होता, और न बन्धन में ही पड़ता है। ज़ेनर इस शिक्षा को पुण्य और धर्म के लिए घातक तथा पाप और अधर्म को बढ़ावा देने वाली समझते हैं और इस आधार पर कल्पना करते हैं कि हिन्दू धर्म में धर्म-मार्ग और मोक्ष-मार्ग के बीच आत्यन्तिक विरोध है। यह भ्रान्ति ज़ेनर ही को नहीं, ज़ेनर के अतिरिक्त कई पाश्चात्य भारतविदों को भी है। इस के निराकरण में दो बातें कही जा सकती हैं। प्रथम तो यह कि प्राचीन शास्त्रों की शैली अर्थवाद-परक है, आज के समान यथार्थ-वाद-परक नहीं। मीमांसा-परम्परा द्वारा प्रतिपादित अर्थवाद-सिद्धान्त के सहारे ही प्राचीन शैली को समझा जा सकता है। शास्त्रों में जहाँ प्रशंसा का प्रसंग होता है वहाँ प्रशंसा की अति हो जाती है और जहाँ निन्दा का प्रसंग होता है वहां निन्दा की अति हो जाती है। यह शास्त्रकारों की सामान्य प्रवृत्ति है। धर्मशास्त्र ही नहीं, आयुर्वेद आदि लौकिक शास्त्रों की भी यही स्थिति है। ऐसी दशा में सर्वत्र अक्षरशः अभिधा मान कर चलना शास्त्र के तात्पर्य के विपरीत चलना है। उपनिषद् और गीता को विवक्षित यह प्रतीत होता है कि ज्ञानी अथवा जीवन्मुक्त पुरुष ऐसी भूमिका प्राप्त कर लेता है जहाँ सामान्य विधि-निषेध की आवश्यकता नहीं रह जाती, यद्यपि उसकी आवश्यकता प्राकृत जनों के लिए बनी रहती है। आख्यायिकाएँ अर्थवाद मात्र हैं। यह शैली आज के मानस के अनुकूल नहीं पड़ती, यह अर्थवाद युग न होकर यथार्थवाद-युग है। किन्तु यह शैली प्राचीन ग्रन्थों की प्रकृति के अनुकूल है और इसी के सहारे उन्हें यथावत् रूप से समझा जा सकता है। वस्तुतः जो मुमुक्षु ब्रह्मज्ञान द्वारा अपना आध्यात्मिक कायाकल्प कर डालेगा वह पाप और अधर्म के पास फटक ही नहीं सकता, चाहे उसके लिए राज-भय, लोक-भय अथवा शास्त्र-भय रहे या न रहे। दूसरी बात यह है कि ज्ञानियों और जीवन्मुक्तों का उपलब्ध इतिहास साक्षी है कि उनका जीवन पुण्यमय, धर्ममय, रहा है, न कि पापमय, अधर्ममय। किसी-किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने तो कृष्ण द्वारा अर्जुन को निर्मम, निरहंकार और अनासक्त भाव से नरसंहार के लिए प्रोत्साहन को अनुद्विग्न अथवा प्रशान्त भाव से हत्या, निष्ठुर हत्या, कोल्ड-ब्लेडेड मर्डर के लिए प्रोत्साहन से समीकृत किया है। अर्थ का इससे बड़ा अनर्थ अचिन्त्य है। गीता क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर उच्चतर आदर्शों के लिए युद्ध की अनुमति अथवा आज्ञा देती है, कोल्ड-ब्लेडेड मर्डर तो चीज़ ही और है। गीता के निष्काम कर्म का अर्थ निरुद्देश्य कर्म नहीं बल्कि ब्रह्मोद्देश्य कर्म है; वह, यदि युग के शब्दों का प्रयोग किया जाय तो, 'गुरुत्व-केन्द्र' को "अहं" से हटा कर आत्मा में, मानव से हटाकर ईश्वर में स्थापित' (शिफ्टिंग ऑव द सेन्टर ऑव ग्रेविटी फ्रॉम दि इगो टू द सेल्फ, फ्रॉम मैन टू गॉड) कर देती है।

इसके अतिरिक्त, जीवन्मुक्त के लिए लोक-संग्रहार्थ कर्म भी विकल्प से प्रतिपादित है। और लोकसंग्रह धर्म से ही बन सकता है।

वस्तुतः हिन्दू धर्म में धर्म और मोक्ष के बीच कभी कलह नहीं हुआ। विवाद प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच रहा है। ज़ेनर ने युधिष्ठिर के एक वचन (महाभारत, शान्तिपर्व ३०१.८२-८३) का उदाहरण दिया है, जो इस प्रकार है:—

'मोक्षे दोषो महानेष, प्राप्य सिद्धिं गतानृषीन,
'यदि तत्रैव विज्ञाने वर्तन्ते यतयः परे।
'प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं पश्यामि परमं नृप !
'मग्नस्य हि परे ज्ञाने किं नु दुःखतरं भवेत् ?'

अर्थात् 'मोक्ष में यदि सिद्ध पुरुष परम विज्ञान में निवास करने लगते हैं तो यह महान् दोष है। परम ज्ञान में डूब जाने से बढ़कर और क्या दुःख हो सकता है? मैं तो प्रवृत्तिमूलक धर्म को ही बड़ा मानता हूँ।' यहाँ वस्तुतः निवृत्ति और प्रवृत्ति में विरोध का प्रश्न उठाया गया है। धर्म प्रवृत्ति-परक भी होता है और निवृत्ति-परक भी। इनका समन्वय यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय अथवा ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति और असम्भूति, अविद्या और विद्या, के समन्वय द्वारा, तथा गीता में क्षर और अक्षर का पुरुषोत्तम में अन्तर्भाव कर के, किया गया है। इसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है। यदि मोक्ष को निवृत्ति से जोड़ दिया जाय तो प्रवृत्तिलक्षण धर्म और मोक्ष में भी विरोध उत्पन्न हो जायगा। वस्तुतः विरोध धर्म और मोक्ष के बीच नहीं, प्रवृत्तिलक्षण धर्म निवृत्तिलक्षण मोक्ष के बीच, निष्कर्षतः प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच, है।

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान-दर्शन का स्वरूप

वी० के० भारद्वाज

मेरे इस लेख का आधार लैम्बर्ट और ब्रिट्टन की नई पुस्तक **विज्ञान–दर्शन का परिचय**[1] है ।

इस लेख में मैंने प्रयत्न किया है कि विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण में दार्शन-शास्त्रियों ने किन-किन प्रश्नों तथा समस्याओं पर विचार किया है—उनका एक परिचय पाठकों तक पहुँचा सकूं । इस ध्येय की सिद्धि के लिए लेम्बर्ट तथा ब्रिट्टन की प्रस्तुत पुस्तक से बेहतर कोई दूसरी पुस्तक इस समय मेरी नज़र में नहीं है ।

इस पुस्तक को पढ़ने के लिए पाठकों की कोई विशेष पूर्वशिक्षा की जरूरत नहीं है । इसके लेखकों ने विज्ञान-दर्शन की जटिल समस्याओं को बड़े ही सरल और सुबोध रूप से उदाहरणों के साथ प्रस्तुत किया गया है ।

पुस्तक की तीन विशेषताओं का उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हूँ : पहली विशेषता यह है कि विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण में दर्शन-शास्त्रियों ने समय-समय पर जो तर्क दिए हैं, इस पुस्तक में उनका स्वरूप स्पष्ट करने पर ज़ोर दिया गया है ।

दूसरी विशेषता—पिछले लगभग तीस वर्ष से विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण में रोडोल्फ कार्नेप, हरबर्ट फाईगल, कार्ल जी० हेम्पेल अर्नेस्ट नेगल तथा हान्स राईकनबैष ऐसे दर्शनशास्त्रियों का प्रभुत्व रहा है, । प्रस्तुत पुस्तक में लेखकों ने इन दर्शनशास्त्रियों के मत को प्रचलित अथवा रूढ़ दृष्टिकोण कहा है । और इसकी आलोचना करते हुए ऐसे अनेक तर्क दिए हैं जो अद्यतम विचारधारा के द्योतक हैं । रूढ़ दृष्टिकोण की आलोचना करने के बावजूद भी लेखकों ने उसे निःशेषतः अस्वीकरणीय नहीं बताया है । उल्लेखनीय बात यह है कि इस पुस्तक के दोनों लेखकों में से वरिष्ठ लेखक लैम्बर्ट ने तो रूढ़ दृष्टिकोण को मान्यता दी है, किन्तु कनिष्ठ लेखक ब्रिट्टन ने इस दृष्टिकोण को समूचे रूप से स्वीकार नहीं किया है । यह मतभेद होते हुए भी लेखक अपने विश्लेषण में निष्पक्ष रह पाये हैं।

तीसरी विशेषता—सारी पुस्तक में प्रस्तुत युक्तियों में एक क्रमबद्धता है तथा पुस्तक के अंतिम अध्याय में उन सबको एक सूत्र में जोड़ दिया है । फलतः लेखकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण का स्वरूप स्पष्ट करने में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है ।

समूची पुस्तक में कुल पांच अध्याय हैं:—(१) परिचय, (२) गणित का स्वरूप, (३) वैज्ञानिक व्याख्या, (४) पुष्टीकरण और स्वीकार्यता, तथा (५) विज्ञान की परिसीमाएं । अब मैं इन पाँच अध्यायों की संक्षेप में व्याख्या करूंगा ।

१

पहला अध्याय—परिचय । इस अध्याय का शीर्षक है—'परिचय' । इसमें समूची पुस्तक के विषय का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया गया है :

दर्शनशास्त्रियों के कार्य को सामान्यतः दो भागों में बाँटा जाता है । एक विभाग वह जो ज्ञान तथा अनुभव के किसी विशेष क्षेत्र से संबंध रखता है । इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का संबंध विज्ञान से है । अर्थात् इसमें विज्ञान का दार्शनिक विश्लेषण किया गया है । इस प्रकार का विश्लेषण करते हुए, इस क्षेत्र में, दर्शनशास्त्री प्रत्यय-संबंधी और कार्य-प्रणाली-सम्बन्धी प्रश्नों तथा समस्याओं पर विचार करता और उन पर प्रकाश डालता है । उदाहरणत : क्या गणितशास्त्र में संख्याएं आदि विषय हैं ? अथवा उन्हें समुच्चयों की शब्दावली में परिभाषित किया जा सकता है । गणित-शास्त्र का विषय क्या है ? क्या वैज्ञानिक व्याख्या तथा प्रागुक्ति में सममिति अथवा समानता है ? इस प्रकार के प्रश्न करना तथा उनका उत्तर देने का प्रयत्न करना, विज्ञान के क्षेत्र में, दार्शन-शास्त्री का मुख्य उद्देश्य है । लेम्बर्ट तथा ब्रिट्टन की प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे, तीसरे, तथा चौथे अध्याय इस विभाग के अन्तर्गत आते हैं ।

दर्शनशास्त्रियों के कार्य का दूसरा विभाग वह है जिसमें दर्शनशास्त्री ज्ञान तथा अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक संबंध की खोज करता है, ताकि वह उन विभिन्न क्षेत्रों की सीमाएं निर्धारित कर सके और ज्ञान तथा अनुभव का एक समूचा दर्शन प्रस्तुत कर सके । लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन की प्रस्तुत पुस्तक का पांचवां यानि अंतिम अध्याय दर्शनशास्त्रियों के इस विभाग क्षेत्र में आता है ।

दर्शन के इन दोनों कार्य-विभागों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । उदाहरणतः वैज्ञानिक व्याख्या की सीमाएं निर्धारित करने के प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि वैज्ञानिक व्याख्या से हम क्या समझते हैं ? 'वैज्ञानिक व्याख्या'—इस प्रत्यय का क्या विश्लेषण है ? इसी प्रकार ज्ञान तथा अनुभव के किसी विभाग विशेष के स्वरूप-निर्धारण का प्रश्न उस विभाग-विशेष में उठने वाले धारणा-तथा कार्य-प्रणाली-संबंधी प्रश्नों से बिलकुल अलग-अलग नहीं किया जा सकता ।

लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन की प्रस्तुत पुस्तक, जैसेकि हमने पहले भी कहा है, विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण के संबंध में है । इस सिलसिले में प्रश्न उठता है कि 'विज्ञान' शब्द का अर्थ क्या है ? वास्तविकता यह है कि यह शब्द विभिन्न प्रसंगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में, विभिन्न उद्देश्यो के लिए, विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः लेखक इस शब्द की परिभाषा देने की आवश्यकता नहीं समझते। ऐसा करने के दो मुख्य कारण हैं: पहला यह कि 'विज्ञान' से हम क्या समझते हैं?, इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान का दार्शनिक विश्लेषण करने के साथ-साथ बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि 'विज्ञान' क्या है इस बारे में हम साधारण रूप से कुछ–न–कुछ तो जानते ही हैं। अतः 'विज्ञान' शब्द की परिभाषा देना अनिवार्य नहीं है।

विज्ञान के आधार पर अध्ययन हम गणित के स्वरूप के अध्ययन से आरम्भ करना अधिक स्वाभाविक समझते हैं। परम्परा से ही यह धारणा रही है कि गणितशास्त्र समस्त विज्ञान का आधार है, क्योंकि गणितशास्त्र में मात्रा-सम्बन्धी अध्ययन किया जाता है, और इस प्रकार के अध्ययन के बिना विज्ञान का अध्ययन सम्भव नहीं है। इस कारण के अतिरिक्त, दो दूसरे उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए भी गणित के स्वरूप का अध्ययन, विज्ञान के आधार के अध्ययन से पहले आता है। ये दो उद्देश्य ये हैं—पहला, कुछेक विचारकों ने विज्ञान को अनुभाविकी खोज तथा गणितशास्त्र को अननुभाविकी खोज कहा है। इन दोनों शास्त्रों का इस प्रकार से चरितार्थीकरण गणितशास्त्र के संबंध में एक विशेष धारणा पर आधारित है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों ने इस धारणा विशेष के पक्ष में दी गई युक्तियों की परीक्षा करते हुए उसकी संतुलित आलोचना प्रस्तुत की है।

गणित के स्वरूप के अध्ययन को विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण में प्राथमिकता देने में दूसरा उद्देश्य यह है: प्रस्तुत विश्लेषण में तकनीकी शब्दावली—उदाहरणतः 'विश्लेषणात्मक', 'संश्लेषणात्मक', 'तार्किक-सत्य' इत्यादि—का प्रयोग अनिवार्य है। इन तकनीकी शब्दों से परिचित होने के लिए तथा इनकी परिभाषा निश्चित करने के लिए भी गणित के स्वरूप का अध्ययन विज्ञान के दार्शनिक विश्लेषण से पहले आता है। अतः प्रस्तुत पुस्तक में पहले अध्याय 'परिचय' के बाद दूसरा अध्याय गणितशास्त्र के स्वरूप से संबंधित है।

तीसरे अध्याय में वैज्ञानिक व्याख्या के प्रश्न पर विचार किया गया है। बात यह है कि बहुत से दार्शनिकों ने विज्ञान के अनुभाविकी स्वरूप पर जोर दिया है, जबकि दूसरे दार्शनिकों ने वैज्ञानिक पद्धति में किस प्रकार की व्याख्याएं दी जाती हैं, इस बात पर आग्रह किया है। इनका कहना है कि विज्ञान में दी गयी व्याख्याओं के आधार पर ही हम विज्ञान के स्वरूप का निर्धारण कर सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के तीसरे अध्याय में लेखकों ने पहले रूढ़ दृष्टिकोण की व्याख्या की है और उसके बाद इस दृष्टिकोण की समालोचना। अपने तर्क में उन्होंने तीन प्रकार की युक्तियां दी हैं:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम प्रकार की युक्तियों के द्वारा लेखकों ने वैज्ञानिक व्याख्या के रूढ़ दृष्टिकोण का विवरण दिया है। इसके अतिरिक्त निगमनात्मक बनाम आगमनात्मक व्याख्याओं के स्वरूप भौतिकीय नियमों के स्वरूप, और वैज्ञानिक व्याख्या तथा प्रागुक्ति में सममिति, इत्यादि के बारे में अनेक मान्यताओं को स्पष्ट किया है। इन मान्यताओं पर विचार तथा सम्यक् आलोचना करने के बाद यह भी बताया है कि वैज्ञानिक व्याख्या के रूढ़ दृष्टिकोण में कहां—कहां परिवर्तन एवं संशोधन की गुंजाइश है।

द्वितीय प्रकार की युक्तियों का सम्बन्ध रूढ़ दृष्टिकोण की उस धारणा से है जिसके अनुसार कुछेक दार्शनिकों का कहना है कि विज्ञान में केवल एक ही प्रकार की व्याख्या पायी जाती है। अतः सामाजिक विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान से व्याख्या वैषम्य के आधार पर अलग-अलग नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, सामाजिक तथा प्राकृतिक विज्ञानों को व्याख्या के प्रकार के आधार पर भिन्न-भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि विज्ञान में एक से अधिक प्रकार की व्याख्याएं होती ही नहीं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों ने इस दावे की परीक्षा करते हुए वैज्ञानिक व्याख्या की तीन विभिन्न पद्धतियों की चर्चा की है। इनके मतानुसार सामाजिक अथवा व्यवहारिक विज्ञानों में साध्यपरक व्याख्याओं का विशेष महत्व है। अतः प्राकृतिक तथा व्यवहारिक विज्ञानों के बीच कार्य-प्रणाली की दृष्टि से यदि कोई अन्तर है तो वह इस प्रश्न पर आधारित हो सकता है कि क्या साध्यपरक व्याख्याएं अपरिहार्य अथवा अनवघटनीय है।

पुस्तक के चौथे अध्याय में पुष्टीकरण एवं स्वीकार्यता के बारे में प्रश्न उठाए गए हैं। इन प्रश्नों का संबंध दूसरे और तीसरे अध्याय में विवेचित प्रश्नों से इस प्रकार है : (क) प्रायः कहा जाता है कि विज्ञान अनुभाविकी है और गणितशास्त्र अननुभाविकी। यह इसलिए कहा जाता है कि वैज्ञानिक उपकल्पनाओं का पुष्टीकरण अथवा अपुष्टीकरण प्रेक्ष्य साक्ष्य के आधार पर होता हैं और गणितशास्त्रीय उपकल्पनाओं का प्रमाणीकरण इस प्रकार नहीं होता। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि जब हम कहते हैं कि कोई उपकल्पना विशेष तथ्यों के साक्ष्य पर पुष्टित हुई है अथवा उसका अपुष्टीकरण हुआ है,तो हम 'पुष्टीकरण' तथा 'अपुष्टीकरण' इन शब्दों से क्या समझते हैं? अथवा क्या समझें ? दूसरे शब्दों में, 'पुष्टीकरण' तथा अपुष्टीकरण का क्या अर्थ है ? इन शब्दों की परिभाषा कैसे करें ? जब हम इन प्रश्नों की खोज में निकलते हैं तो अनेक विरोधाभास दिखाई देते हैं। चौथे अध्याय में लेखकों ने पुष्टीकरण के दो विरोधाभासों पर अपना ध्यान केंद्रित किया है तथा इनके समाधान की दिशा में सुझाव दिए हैं। (ख) वैज्ञानिक व्याख्या के रूढ़ दृष्टिकोण से भी पुष्टिकरण तथा स्वीकार्यता के विषय में प्रश्न उठते हैं। वैज्ञानिक व्याख्या के रूढ़ दृष्टिकोण के अनुसार घटनाओं को संबंधित नियमों के अन्तर्गत आच्छादिक दिखाना ही उनकी वैज्ञानिक व्याख्या देना है। इस मतानुसार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियम वे सामान्य वाक्य हैं जो अनुभाविकी साक्ष्य के आधार पर पुष्टित किए जाते हैं। किन्तु यहां भी प्रश्न उठता है कि वे कौन से हालात हैं जिनमें यह कह सकते हैं कि अमुक उपकल्पना संबंधित उदाहरणों के साक्ष्य से पुष्टित होती है।

इस प्रकार (क) और (ख) से स्पष्ट हो जाता है कि चौथे अध्याय में उठाए गए प्रश्नों का दूसरे और तीसरे अध्याय के प्रश्नों से गहरा संबंध है।

पांचवें यानि अंतिम अध्याय में वैज्ञानिक व्याख्या की सीमाओं के प्रश्न पर विचार किया गया है। वैज्ञानिक व्याख्या सीमित के होने के पक्ष में दिए गए तर्कों को तीसरे अध्याय—वैज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप—में बताई गई व्याख्या की तीन पद्धतियों के विश्लेषण से जोड़ा गया है। इस प्रकार, प्रथम तर्क के अनुसार यह कहा जा सकता है कि मानवीय कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती, क्योंकि मानवीय कर्म ऐच्छिक होते हैं। स्पष्ट है, इस तर्क का संबंध साध्यपरक व्याख्याओं से है। द्वितीय तर्क के अनुसार यह कहा जा सकता है कि परमाणु-सिद्धांतों के आधार पर सब प्रकार की प्राकृतिक घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। अतः इस तर्क का संबंध अवघटनात्मक व्याख्या से है। तृतीय तर्क के अनुसार यह कहा गया है कि सृष्टि में होने वाली घटनाओं को बुद्धिगम्य बनाने की चेष्टा में वैज्ञानिक व्याख्याओं से अनिवार्यतः कुछ-न-कुछ छूट जाता है।

उपर्युक्त सभी प्रश्नों का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। उल्लेखनीय बात यह है कि इन सभी प्रश्नों का संबंध किसी-न किसी तरह से विज्ञान के अनुभाविकी एवं व्याख्यात्मक स्वरूप से है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस पुस्तक के लेखकों के मतानुसार यदि हम विज्ञान को चरितार्थित करना चाहें तो हम कहेंगे कि विज्ञान अनुभाविकी तथा व्याख्यात्मक दोनों हैं।

इन प्रश्नों के अतिरिक्त प्रस्तुत पुस्तक में अनेक दूसरे संबंधित प्रश्नों पर विचार किया गया है। उदाहरणतः विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक में व्यतिरेक, शब्द-प्रयोग पर आधारित तार्किक सत्यता का सिद्धांत, आगमन की समस्या, तथा क्या प्राकृतिक नियमों को सत्य अथवा असत्य कहा जा सकता है?—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी विचार करना संभव हुआ है।

दूसरा अध्याय—गणित का स्वरूप। इस अध्याय में कुल सात विभाग हैं—(१) परिचय, (२) तार्किक सत्य, (३) गणित का अवघटन, (४) तार्किक सत्यता का भाषात्मक सिद्धांत, (५) तर्कशास्त्र और गणितशास्त्र, (६) शब्दप्रयोग-सत्यता का मानदण्ड, तथा (७) गणितशास्त्र तथा विज्ञान।

(१) 'परिचय' में लेखकों ने गणित के स्वरूप को एक सिद्धांत, विशेषतः गणितज्ञ तथा दर्शनशास्त्री, जान कैमिनी के मत का विवरण दिया है। इस मत के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार गणित को सच्चा अनुभाविकी विज्ञान नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुभव गणित का विषय नहीं है। गणित में हम युक्तियों के प्ररूपमात्र का अध्ययन करते है, अनुभव का नहीं। अनुभव विज्ञान का विषय है। कैमिनी[८] के मतानुसार गणित सारे विज्ञान की मूल भाषा है : इसका उपयोग (क) अनुभाविकी उपकल्पनाओं की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त, (ख) अनुभाविकी उपकल्पनाओं के विभिन्न परिणामों की परीक्षा करने के लिए जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है, उन विधियों को गणितशास्त्र से ही लिया जाता है। इस मत के अनुयायी अलबर्ट आइंस्टाइन के प्रसिद्ध कथन को दोहराते हुए कहते हैं : 'जहाँ' तक गणित के वाक्यों का तथ्यों से संबंध है, वे आबाध्य नहीं हैं, और जहां तक वे आबाध्य है, वे तथ्यों से संबंधित नहीं हैं।[७]

उपर्युक्त मत के पक्ष में कैमिनी ने मुख्य रूप से दो तर्क दिए हैं : पहला : गणित के सत्य वाक्यों को तर्क के सत्य-वाक्यों में निःशेषतः अभिव्यक्त किया जा सकता है। अर्थात्, गणित के सत्यवाक्य, वास्तव में, तार्किक सत्यवाक्यों के इतर कुछ भी नहीं है। दूसरा : तार्किक सत्यवाक्य, स्वरूपतः, विश्लेषणात्मक है। अर्थात् किसी भी तार्किक वाक्य की सत्यता उस वाक्य में पाए जाने वाले शब्दों का अर्थ जान लेने मात्र से ही प्रदर्शित हो जाती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित गणित के सत्यवाक्यों को लीजिए :

(१) ३६५–१=३६४

(२) ३६५–१=३६७

यह स्पष्ट है कि पहला वाक्य (१) सत्य है और दूसरा वाक्य (२) असत्य। इसमें भी सन्देह नहीं कि ये दोनों वाक्य गणित ही के वाक्य हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि इन दोनों वाक्यों की सत्यता अथवा असत्यता निर्धारित करने के लिए हमें अनुभाविकी तथ्यों की सहायता नहीं लेनी पड़ती। इन वाक्यों में पाए जाने वाले शब्दों—"३६५","—","।","=",——"३६४" तथा "३६७"—का अर्थ जान लेने मात्र से ही हमें ज्ञान हो जाता है कि इन दो वाक्यों में से पहला वाक्य सत्य है तथा दूसरा वाक्य असत्य। जब किसी वाक्य की सत्यता अथवा असत्यता उसके वाक्यपदों के अर्थ बोध मात्र से ही निर्णित हो जाए तो इस प्रकार के वाक्यों को कैमिनी के मतानुसार विश्लेषणात्मक वाक्य कहा जाएगा। दूसरे शब्दों में, विश्लेषणात्मक वाक्यों की सत्यता उनके प्ररूपों के बोध मात्र से ही निर्णित हो जाती है। यदि यह सच है तो गणित के वाक्यों की सत्यता-असत्यता का निर्णय अनुभव के आधार पर नहीं बल्कि शब्दार्थ अथवा शब्द–प्रयोग के आधार पर ही किया जाएगा।

इसके अतिरिक्त, गणित के सत्यवाक्यों की सत्यता अबाध्य होती है। इसका कारण यह है कि जब अनुभव गणित का विषय नहीं है और गणित के वाक्यों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यता निर्धारित करने के लिए अनुभव का आश्रय नहीं लेना पड़ता, तो उस स्थिति में यदि गणित का कोई वाक्य सत्य है तो उसे अनुभव के आधार पर असत्य घोषित नहीं किया जा सकता और यदि वह असत्य है तो अनुभव के आधार पर उसे सत्य भी घोषित नहीं किया जा सकता। वास्तव में कैमिनी के मतानुसार, गणित के वाक्यों की सत्यता–असत्यता निर्धारित करने के प्रश्न के संबंध में अनुभव पूर्णतया अनावश्यक है। इसी बात को ऐसे भी कहा जा सकता है कि गणित के सत्यवाक्य अनुभव निरपेक्ष, अबाध्य, एवं विश्लेषणात्मक होते हैं।

लैंबर्ट और ब्रिट्टन ने गणित के स्वरूप के बारे में उपर्युक्त प्रचलित मत का खण्डन किया है। उनकी आलोचना निम्निलिखित प्रश्नों पर केद्रित है :

(१) 'तार्किक सत्य वाक्य' का क्या अर्थ है ?

(२) गणित के तर्क वाक्यों की तार्किक सत्य वाक्यों द्वारा निःशेष अभिव्यक्ति की जा सकती है—इस कथन से क्या तात्पर्य है ? और क्या यह कथन सत्य है।

(३) तार्किक वाक्यों की सत्यता-असत्यता का निर्णय शब्द-प्रयोग अथवा शब्दार्थ के आधार पर ही होता है—इस कथन में कहाँ तक सत्यता है ? क्या हम इसे पूर्णतया स्वीकार कर सकते हैं ।

इन तीनों प्रश्नों पर एक-एक करके मैं नीचे विचार करूंगा, तथा लैम्बर्ट और ब्रिट्टन के मत को यथासम्भव ढंग से स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा।

(२) तार्किक सत्यवाक्य क्या है ? इस प्रश्न को समझने के लिए दो प्रश्न समझ लेना अति आवश्यक है। पहला है तार्किक सत्यवाक्यों को तार्किक कहने का मानदण्ड क्या है ? अथवा, हम किन सत्यवाक्यों को तार्किक सत्यवाक्यों के नाम से बोधित करेंगे ? दूसरा—तार्किक सत्यवाक्यों की सत्यता निर्धारित करने की विधि क्या है ? स्पष्ट है कि यह दोनों प्रश्न अलग-अलग हैं ।

किसी भी वाक्य विशेष में दो प्रकार की शब्दावली होती है—तार्किक तथा वर्णनात्मक। उदाहरणतः 'सभी मनुष्य मनुष्य हैं'—इस वाक्य में 'सभी' और 'हैं', ये शब्द तार्किक शब्दावली के अन्तर्गत आते हैं, और 'मनुष्य', यह शब्द वर्णानत्मक शब्दावली के अन्तर्गत आता है । यह भी स्पष्ट है कि 'सभी मनुष्य मनुष्य हैं'—यह वाक्य सत्य है। इस प्रकार के वाक्य में यदि हम 'मनुष्य' शब्द के स्थान पर कोई अन्य शब्द रख दें—उदाहरणतः 'पर्वत'—तो भी इस प्रकार का वाक्य सत्य ही होगा। विशेषतः 'सभी पर्वत पर्वत हैं'—यह वाक्य उसी प्रकार से सत्य है जिस प्रकार से 'सभी मनुष्य मनुष्य हैं'—यह वाक्य सत्य है। दोनों वाक्यों की सत्यता निर्णित करने की विधि एक ही है। अब हम 'तार्किक सत्यवाक्य' का अर्थ इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं—तार्किक सत्यवाक्य वह सत्यवाक्य है जिनकी वर्णनात्मक शब्दावली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को तर्कसंगत ढंग से बदल देने के बाद भी उनकी सत्यता अबाध्य रहती है। विकल्पित रूप से तार्किक सत्यवाक्यों को इस प्रकार भी वर्णित किया जा सकता है—तार्किक सत्यवाक्य वे सत्यवाक्य हैं जो मूलतः तार्किक शब्दावली से ही बने होते हैं। स्पष्ट है कि 'सभी मनुष्य मनुष्य हैं' यह वाक्य तार्किक सत्यवाक्य का ही उदाहरण है।

ऊपर जो हमने तार्किक सत्यवाक्यता की परिभाषा की है, उसके बारे में तीन चीजें कही जा सकती हैं—

(१) तार्किक एवं वर्णनात्मक शब्दावली की पहचान करने के लिए हमारे पास कोई सुनिश्चित मानदण्ड नहीं है। हम मात्र इतना ही कह सकते हैं कि तर्कशास्त्री जिस शब्दावली को तार्किक कहते हैं वही शब्दावली तार्किक शब्दावली है।

(२) तार्किक सत्यवाक्यता निर्णीत करने के लिए हमने जो मानदण्ड दिया है उससे यह लगता है कि समस्त तार्किक सत्यवाक्यों में दो प्रकार की—तार्किक तथा वर्णनात्मक—शब्दावली को होना अपरिहार्य है। परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ऐसे अनेक तार्किक सत्यवाक्य देखने को मिलते हैं जिनमें वर्णनात्मक शब्दावली का लगभग बिल्कुल अभाव है। उदाहरणतः 'सभी वस्तुओं का अपने आप से तादात्म्य संबंध होता है।'

(३) तार्किक सत्यवाक्यता के मानदण्ड का हमने परिभाषा के रूप में जो स्पष्टीकरण दिया है उसे स्वीकार कर लेने से कैमिनी के मत को मान्यता देने के लिए हमें बाध्य नहीं होना पड़ता। अर्थात् हमें यह नहीं मानना पड़ता कि तार्किक सत्यवाक्यों की सत्यता इन वाक्यों के शब्दार्थबोध के आधार पर ही निर्मित होती है। अतः हम तार्किक सत्यवाक्यता के अपनी दी हुई परिभाषा के साथ-साथ यह भी कह सकते हैं कि तार्किक सत्यवाक्य सृष्टि के मूलाधार तथ्यों का बयान करते हैं। अथवा यों कहें कि वे चिन्तना के मूलभूत नियमों की अभिव्यक्ति करते हैं।

दूसरे शब्दों में हम यह कहना चाहते हैं कि तार्किक सत्यवाक्यता का मानदण्ड क्या है ? और ऐसे वाक्यों की सत्यता निर्णीत करने की विधि क्या है ? यह दोनों प्रश्न तार्किक दृष्टि से एक दूसरे से अलग-अलग हैं। इनमें से एक प्रश्न का उत्तर देने से दूसरे प्रश्न का उत्तर स्वयं ही प्राप्त नहीं हो जाता। (क) कौन से वाक्यों को तार्किक सत्यवाक्य कहा जाए ? इस बात का निर्णय शब्दार्थ अथवा शब्द प्रयोग के आधार पर किया जा सकता है। परन्तु इससे हम यह नहीं कह सकते—इससे यह अनुमान नहीं निकलता—कि (ख) तार्किक सत्यवाक्यों की सत्यता अथवा अबाध्यता का निर्णय करने की विधि भी शब्द-प्रयोग पर ही आधारित है। दूसरे शब्दों में (क) को मान लेने पर भी (ख) को अस्वीकार करने में तार्किक दृष्टि से कोई असंगति नहीं। लैम्बर्ट और ब्रिट्टन के शब्दों में—उदाहरण : 'रेखागणित के प्रमेयों की सत्यता शब्द प्रयोग पर आधारित नहीं; चाहे उसके सत्य वाक्यों का प्रमेयत्व निस्सन्देह ही शब्दप्रयोग पर आधारित है।' (पृ० ७) उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथन है कि कैमिनी इन दो प्रश्नों में विवेक न करते हुए दोनों को एक दूसरे पर अध्यस्त करता है। इसीलिए ही तो वह शब्द प्रयोग को तार्किक सत्यवाक्यता का मानदण्ड एवं उनकी सत्यता का निर्णय करने की विधि भी मानता है।

(३) गणित का अवघटन—कैमिनी के मतानुसार सारे गणित को विशुद्ध तर्कशास्त्र की शब्दावली में लिखा जा सकता है। इसे ही गणित के सत्यवाक्यों का तार्किक सत्यवाक्यों में अवघटन कहते हैं। इस मत के अनुसार गणित का मूलाधार तर्कशास्त्र ही है। उसका अलग से स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वह तर्कशास्त्र ही का दूसरा रूप है। इस मत को लाजिसिज्म के नाम से लक्षित किया जाता है। फ्रेगे,[२] व्हाइटहैड और रसेल इसके प्रवर्तक माने जाते हैं।

इस मत के अनुयायी अपने मत की पुष्टि इस प्रकार करते हैं: उनका कहना है कि कुछेक तार्किक नियमों और थोड़ी सी तार्किक शब्दावली की सहायता से गणित के सारे वाक्य तर्कशास्त्र के सिद्धांतों से निगम्य हैं। इस कथन की सत्यता सिद्ध करने के लिए निम्न निर्दिष्ट विधि अपनायी जाती है—सर्वप्रथम गणित की विभिन्न शाखाओं—एनालिसिस, बीजगणित, रेखागणित—के वाक्यों को अंकगणित के वाक्यों में अभिव्यक्त करके सारे गणित को पूर्णसंख्याओं के सिद्धांत पर आधारित सिद्ध किया है और कहा जाता है कि सारे गणित का पूर्ण संख्याओं के सिद्धांत से तादात्म्य है। तत्पश्चात् पूर्णसंख्याओं के सिद्धांत को तर्कशास्त्र के सिद्धांतों का रूपान्तर मात्र दिखाया जाता है। निगमन के इस कार्य के लिए व्हाइटहैड तथा रसेल ने इटली के गणितज्ञ पियनो के पाँच अक्ष्यमों की सहायता ली है। उनके मतानुसार इन्हीं पाँच अक्ष्यमों के आधार पर सारे गणित का विकास हुआ है। यही नहीं, अपितु, पूर्ण-संख्याओं के सभी विशेष-गुण इन्हीं पाँच अक्ष्यमों से तर्कतया निगमित किए जा सकते हैं। वे पाँच अक्ष्यम निम्नलिखित हैं:—

अ—१ : ० एक संख्या है।

अ—२ : किसी संख्या की अनुवर्ती संख्या भी एक संख्या है।

अ—३ : किसी दो संख्याओं का एक ही अनुवर्ती नहीं होता।

अ—४ : ० किसी भी संख्या का अनुवर्ती नहीं है।

अ—५ : यदि प कोई विधेय है जो ० के बारे में सत्य है और यदि जब-जब प किसी भी संख्या न के बारे में सत्य होता है, तो वह उस संख्या न के अनुवर्ती के बारे में भी सत्य होता है, ऐसी स्थिति में प प्रत्येक संख्या के बारे में सत्य होता है।

इन पाँच अक्ष्यमों में केवल तीन ही अंकगणितीय प्रत्यय हैं—०, 'संख्या' तथा 'अनुवर्ती'। यह तीनों प्रत्यय तार्किक शब्दावली में परिभाषित किए जा सकते हैं। इस सारे कार्य को संपन्न करने के लिए तार्किक शब्दावली केवल चार ही शब्द—'सभी', 'अथवा', 'नहीं', और 'का सदस्य है'—पर्याप्त है। दूसरे शब्दों में, गणित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की समूची शब्दावली इन्हीं चार तार्किक शब्दों के आधार पर परिभाषित की जा सकती है। इस प्रकार कैमिनी के मतानुसार सारे का सारा गणित तर्कशास्त्र के एक विकसित रूप के सिवा और कुछ भी नहीं है। गणित के सारे सत्यवाक्यों को तर्कशास्त्र ही के प्रमेयों के रूप में प्रमाणित किया जा सकता है।

(४) तार्किक सत्यता का भाषात्मक सिद्धांत—हम ऊपर कह चुके हैं कि कैमिनी के मतानुसार तार्किक सत्यवाक्यों को अनुभव-निरपेक्ष एवं विश्लेषणात्मक कहा गया है। अर्थात् तार्किक वाक्यों की सत्यता-असत्यता का निर्णय उन वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ-बोध के ही आधार पर किया जाता है। इसी मत को तार्किक सत्यता का भाषात्मक सिद्धांत भी कहा गया है। इस सिद्धांतानुसार, क्योंकि तार्किक सत्यवाक्यों का विषय अनुभाविकी नहीं होता, इसलिए उनकी सत्यता-असत्यता, निर्णित करने के लिए अनुभाविकी तथ्यों का सहारा भी नहीं लेना पड़ता। 'घास हरी है अथवा हरी नहीं हैं', 'सभी मनुष्य मनुष्य हैं, "इत्यादि वे सब वाक्य तार्किक सत्यवाक्यों के उदाहरण हैं। इस प्रकार के सत्यवाक्य सृष्टि के तथ्यों का वर्णन नहीं करते। अतः अनुभाविकी साक्ष्य के आधार पर ये वाक्य झुठलाए भी नहीं जा सकते। वास्तव में, अनुभाविकी साक्ष्य इन वाक्यों की सत्यता-असत्यता के प्रश्न से बिल्कुल असंबद्ध है। तार्किक सत्यता के इस सिद्धांत को कभी-कभी यह कह करके भी प्रकट किया जाता है कि तार्किक (और गणितीय) सत्यवाक्य 'शब्दों की परिभाषा के आधार पर सत्य' होते हैं।

जब हम शब्दार्थ अथवा शब्दप्रयोग को तार्किक वाक्यों की सत्यता और असत्यता का निर्णायक मानदण्ड समझते हैं तो उस स्थिति में हमें स्पष्ट कर देना चाहिए कि 'शब्दप्रयोग' अथवा 'शब्दार्थ' से हमारा तात्पर्य क्या है। अर्थात् किस प्रकार के शब्द प्रयोग अथवा शब्दार्थ की बात हम कर रहे हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है : शब्द प्रयोग कम-से-कम दो प्रकार का है—एक वह जिसे हम परिभाषा के आधार पर निश्चित करते हैं; दूसरा वह जो रूढ़ी के आधार पर निश्चित होता है। जब प्रथम प्रकार के यानि पारिभाषिक शब्द प्रयोग को तार्किक वाक्यों की सत्यता का आधार माना जाता है, तब हम उन्हें 'परिभाषा के आधार पर सत्य वाक्द' कहते हैं। और जब द्वितीय प्रकार के यानि रूढ़ शब्दप्रयोग को तार्किक वाक्यों की सत्यता का आधार माना जाता हैं, तब हम उन्हें 'परिभाषा के आधार पर सत्य वाक्य' कहते हैं। स्पष्ट है कि रूढ़ शब्द प्रयोग तथा पारिभाषिक शब्द प्रयोग में परस्पर संबंध है।

अब यदि शब्द प्रयोग को तार्किक (और गणितीय) वाक्यों की सत्यता-असत्यता का आधार मान लिया जाए और यह कहा जाए कि तार्किक सत्यवाक्य वे वाक्य हैं जिनकी सत्यता का आधार (रूढ़ अथवा पारिभाषिक) शब्द प्रयोग है तो उस स्थिति में हमें यह भी मानना पड़ेगा कि विभिन्न शब्द प्रयोगों की संभावना की दृष्टि से—जिन्हें हम आज तार्किक सत्यवाक्य कहते हैं कल वे ही असत्य घोषित कर दिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाएँगे। अथवा यों कहा जाए कि आज जो तार्किक सत्यवाक्य हैं, कल वे ही वाक्य अलग तथा दूसरे शब्द-प्रयोग के आधार पर, तार्किक वाक्य नहीं कहलायेंगे।

कुछ भी हो कैमिनी को यह बात पूर्णतया स्वीकृत है। उनके मतानुसार विभिन्न शब्दप्रयोगों के आधार पर विभिन्न शब्द संसारों में, विभिन्न वाक्यों–समूहों को तार्किक (और गणितीय) सत्यवाक्य कहा जाएगा।

परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि हम 'तार्किक' किसे कहते हैं? अर्थात् तर्कशास्त्र का स्वरूप क्या है। इस प्रश्न को स्पष्ट करने के बाद ही हम इस बात का निर्णय कर पायेंगे कि यदि तार्किक सत्यता विषयक कैमिनी का सिद्धांत गलत है तो हम 'तार्किक सत्यता' की क्या परिभाषा करें तथा गणित के अवघटन का किस मानदण्ड से मूल्यांकन करें। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे।

(५) तर्कशास्त्र और गणितशास्त्र—हमने ऊपर कहा है कि गणित के मूल-भूत तीन प्रत्ययों—'०', 'संख्या' तथा अनुवर्ती'—को तार्किक शब्दावली में परिभाषित किया जा सकता है। किन्तु ऐसा करने के लिए हमें 'समुच्चय' अथवा 'सेट' इस प्रत्यय की आवश्यकता पड़ती है। और यदि हम समस्त गणित को तर्कशास्त्र का रूपान्तर मात्र सिद्ध करना चाहें तो हमें यह कहना होगा कि 'समुच्चय' तर्कशास्त्र ही का प्रत्यय है। दूसरे शब्दों में 'समुच्चय सिद्धांत' पर 'सेट थ्योरी' तर्कशास्त्र का अभिन्न अंग है।

किन्तु क्या हम इस कथन को मान सकते हैं? क्या समुच्चय सिद्धांत को तर्कशास्त्र का अभिन्न अंग माना जा सकता है? लैम्बर्ट और ब्रिट्टन के अनुसार, इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही है। इसी आधार पर उनका कहना है कि गणित तर्कशास्त्र का रूपान्तरमात्र नहीं है, वह तर्कशास्त्र से स्वतंत्र शास्त्र है। और यदि ऐसा है तो गणित का अवघटन असम्भव है। अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिए हैं—

यदि 'समुच्चय सिद्धांत' को तर्कशास्त्र का अभिन्न अंग मान लिया जाए तो व्हाईटहैड और रसेल के भाषात्मक मत, जिसे कैमिनी ने अपनाया है, के अनुसार कहना ही होगा कि 'समुच्चय सिद्धांत' अक्ष्यमों की सत्यता (रूढ़ अथवा पारिभाषिक) शब्दप्रयोग पर आधारित है। अर्थात्, इन अक्ष्यमों की (तार्किक तथा वर्णनात्मक) शब्दावली के समझने मात्र से ही इनकी सत्यता का निर्णय किया जा सकता है। इसके अलावा यह भी मानना होगा कि (२) समुच्चय सिद्धांत के सत्यवाक्यों की सत्यता सृष्टि के तथ्यों के आधार पर निर्णित नहीं होती तथा (३) ऐसे वाक्य विषयविहीन होते है।

हमारी पुस्तक के लेखकों के मतानुसार उपर्युक्त तीनों कथनों की सत्यता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदिग्ध है। सर्वप्रथम समुच्चय सिद्धांत के दो अक्ष्यमों—(i) अनन्तता अक्ष्यम और (ii) चयन अक्ष्यम—को ही लीजिए। व्हाईटहैड और रसेल का गणित-अवघटन का कार्य इन दो अक्ष्यमों के बिना चल नहीं सकता। परन्तु इन अक्ष्यमों की सत्यता का निर्णय शब्द प्रयोग के आधार पर होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनन्तता अक्ष्यम के अनुसार 'अनन्त इकाइयों की सत्ता है'—इस अक्ष्यम के वाक्य पदों को समझने मात्र से ही इसकी सत्यता सिद्ध नहीं हो जाती। इसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए तथ्यों की परीक्षा करना होता है। क्योंकि यह अक्ष्यम तभी सत्य माना जाएगा जब वास्तव में अनन्त इकाइयों की सत्ता होगी। अन्यथा, इसे सत्य नहीं माना जाएगा। इसी प्रकार चयन अक्ष्यम की सत्यता निर्णित करने के लिए शब्द प्रयोग को आधार नहीं माना जाएगा। ऐसी स्थिति में कैमिनी के भाषात्मक मतानुसार कम-से-कम इन दो अक्ष्यमों को तर्कशास्त्रीय सिद्धांत नहीं माना जा सकता। अतः सिद्ध हुआ कि समुच्चय सिद्धांत को भी तर्कशास्त्र का अंग नहीं माना जा सकता।

इसके अतिरिक्त समुच्चय सिद्धांत में ऐसे अनेक वाक्य हैं जो प्रायः सत्तावाचक वाक्य माने गए हैं। उदाहरणतः इस वाक्य को लीजिए—शून्य समुच्चय की सत्ता है। स्पष्ट है कि यह वाक्य 'शून्य समुच्चय' के विषय में है और सत्य भी है। इस वाक्य की सत्यता का निर्णय शब्दप्रयोग के आधार पर नहीं हो सकता बल्कि तथ्यों के साक्ष्य के आधार पर ही संभव है। तथ्य ही ऐसे वाक्यों को सत्य बनाते हैं, शब्द-प्रयोग नहीं। शब्दप्रयोग से वाक्य के अर्थ का बोध होता हैं, उस वाक्य की सत्यता-असत्यता का नहीं।

हमने ऊपर जो कुछ कहा है उससे यह भी स्पष्ट होता है कि गणित तथा तर्कशास्त्र के अनेक सत्यवाक्यों को विश्लेषणात्मक नहीं कहा जा सकता। (दो उदाहरण हम दे चुके हैं, तीसरा यह है—अपने आप से तादात्म्य-संबंध रखने वाली वस्तु की सत्ता है) अतः कैमिनी की यह धारणा कि गणित तथा तर्कशास्त्र के सभी सत्य-वाक्य विश्लेषणात्मक होते हैं—हमें मान्य नहीं है। इसके अतिरिक्त, जहाँ तक गणित तथा तर्कशास्त्र के सत्यवाक्यों की सत्यता का निर्णय तथ्यों के आधार पर होता है, गणित के सत्यवाक्यों को विषय—शून्य नहीं कहा जा सकता। हम कहना चाहते हैं कि गणित के सत्यवाक्य निश्चय ही किसी-न-किसी विषय के संबंध में होते हैं। वास्तव में समुच्चय, संख्याएँ, इत्यादि ही उनका विषय होता है। यदि गणित के सत्यवाक्य किसी विषय विशेष के बारे में नहीं होते तो उस स्थिति में गणितशास्त्र को जिज्ञासा तथा ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र कभी नहीं माना जाता।

यह रहा जहां तक गणित तथा तर्क शास्त्र में पारस्परिक भिन्नता तथा उनके वाक्यों के तार्किक स्वरूप का संबंध है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गणित का अवघटन असम्भव है। नीचे हम दो और तर्क प्रस्तुत करते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहला, तर्कशास्त्र का एक भी वाक्य सत्तावाचक नहीं है, जबकि समुच्चय सिद्धांत के बहुत से वाक्य सत्तावाचक हैं। अतः समुच्च सिद्धांत के माध्यम से गणित का प्रस्तावित अवघटन सम्भव नहीं है। (उल्लेखनीय बात यह है कि लोजिसिज़्म के एक प्रवर्तक जी० फ्रेगे ने भी अपने अंतिम वर्षों में स्वयमेव लॉजिसिज़्म की धारणा को छोड़ दिया था) । इस तर्क की महत्त्वपूर्ण बात है तर्कशास्त्र में सत्तावाचक वाक्याभाव की सम्भावना बताना। यह इस प्रकार है। लाईबनिज़ के मतानुसार तार्किक सत्य वाक्य है जिसकी सत्यता सभी सम्भव सृष्टियों में अबाध्य होती है। 'सम्भव दृष्टि'—इस प्रत्यय का विश्लेषण देना कठिन है। तथापि किसी भी सम्भव सृष्टि को वस्तुओं तथा उनके विशेष गुणों का एक समुच्चय माना जा सकता है। 'सम्भव दृष्टि' के इस विश्लेषण के अनुसार, सभी सम्भव सृष्टियों में 'शून्य समुच्चय' भी एक सृष्टि है। आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने विशेष रूप से लैम्बर्ट[10] ने तर्कशास्त्र की एक ऐसी तार्किक प्रणाली का विधान किया है जिसके सारे प्रमेय सभी सम्भव सृष्टियों में लागू होते हैं। प्रस्तावित प्रणाली में सत्तावाचक सत्य वाक्यों का नितान्त अभाव है। और यही तो हम चाहते हैं क्योंकि यदि इस प्रणाली में कोई भी सत्तावाचक वाक्य हुआ तो वह शून्य समुच्चयात्मक सृष्टि में असत्य घोषित हो जायेगा।

उपर्युक्त तर्क का तात्पर्य यह है कि ऐसी तार्किक प्रणाली अथवा तर्कशास्त्र पूर्ण रूप से सम्भव है जिसमें सत्तावाचक सत्यवाक्यों का विशेषतः अभाव हो। ऐसी स्थिति में समुच्चय सिद्धांत और गणित को इस प्रकार के तर्कशास्त्र पर अवघटित करना नितान्त असम्भव है। क्योंकि तर्कशास्त्र की प्रस्तावित प्रणाली में एक भी सत्तावाचक वाक्य नहीं होगा, जबकि गणित और समुच्चय सिद्धांत में अनेक सत्तावाचक वाक्य पाये जाते हैं।

गणित की अवघटन की असम्भवता के पक्ष में दूसरा तथा अंतिम तर्क गणितज्ञ और तर्कशास्त्री क० गोडेल की प्रसिद्ध खोज पर आधारित है। मोटेतौर पर यह तर्क इस प्रकार है। गोडेल के 'अपूर्णता प्रमेय' के अनुसार, किसी भी प्ररूपिक प्रणाली में गणित के सभी सत्यवाक्यों को सिद्ध प्रमाणित नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में गणित के सारे सत्यवाक्यों का समुच्चय उस प्रणाली में सिद्ध हो सकने वाले प्रमेयों के समुच्चय के बराबर कभी नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि तर्कशास्त्र को प्ररूपिकीय बनाया जा सकता है। अर्थात् तर्कशास्त्र को इस ढंग से संघठित किया जा सकता है कि इसके विधान में सिद्धि-सम्भव प्रमेयों को निर्दिष्ट अक्ष्यमों एवं वाक्य-प्रक्रिया संबंधी नियमों के आधार पर सान्तक्रमानुसार प्रमाणित किया जा सकता है। और गोडेल की एक अन्य खोज के अनुसार यह भी बताया जा सकता है कि तार्किक सत्यवाक्यों का समुच्चय तथा सिद्धि-सम्भव प्रमेयों का समुच्चय दोनों बराबर है। अब यदि गणित के सत्यवाक्यों का तार्किक सत्यवाक्यों पर अवघटन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाये तो उससे यह निकलेगा कि किसी प्ररूपिक प्रणाली में सिद्धि सम्भव प्रमेयों का समुच्चय तथा गणितीय सत्यवाक्यों का समुच्चय दोनों बराबर हैं। परन्तु इसी बात को गोडेल का 'अपूर्णता प्रमेय' असम्भव बताता है। इससे सिद्ध हुआ कि जब तक समुच्चय सिद्धांत को तर्कशास्त्र का अभिन्न अंग नहीं माना जाता, गणित का अवघटन असम्भव है।

(६) शब्दप्रयोग—सत्यता का मानदण्ड—कैमिनी के इस मत पर भी हमें आपत्ति है कि शब्द प्रयोग ही गणित के सत्यवाक्यों की सत्यता का मानदण्ड हैं। स्पष्ट है कि यह मत सत्यता के भाषात्मक सिद्धांत का ही रूपान्तर है। इस संबंध में हम दो आपत्तियां प्रस्तुत करेंगे—

प्रथम आपत्ति—इस मत के अनुयायी इस बात में विवेक नहीं करते कि गणित के सत्यवाक्यों में क्या शब्द प्रयोग पर आधारित है और क्या नहीं। हम ऊपर बता चुके हैं कि किसी वाक्य विशेष को हम तार्किक वाक्य क्यों कहते हैं ? और उस वाक्य को किस प्रकार सत्य अथवा असत्य सिद्ध किया जाये। ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग हैं। इसी प्रकार गणित के सत्यवाक्यों में क्या शब्द प्रयोग पर आधारित हैं और क्या नहीं—इन दो भिन्न-भिन्न प्रश्नों में भी विवेक करना अत्यावश्यक हैं। गणित (अथवा तर्कशास्त्र) की किसी भी प्रणाली में कौन से सत्यवाक्यों के हम अक्ष्यम अथवा प्रमेय मानते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर है—'अपनी सुविधा एवं आवश्यकता अनुसार।' किन्तु वे अक्ष्यम अथवा प्रमेय वाक्य सत्य है कि नहीं—इस बात का निर्णय अपनी सुविधा अथवा आवश्यकता के आधार पर नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, किसी सत्य वाक्य के अक्ष्यमत्व अथवा प्रमेयत्व का निर्णय हम सुविधा एवं आवश्यकता के अनुसार अपने मन पसन्द शब्द प्रयोग के आधार पर कर सकते हैं। (वास्तव में प्राय: हम ऐसा करते भी है) गणित तथा तर्कशास्त्र में एक से अधिक प्ररूपिक प्रणालियों की सम्भावना इसी तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है। परन्तु जैसाकि क्वाइन ने बताया है, अपनी सुविधा एवं आवश्यकता को हम इन अक्ष्यम तथा प्रमेय वाक्यों की सत्यता का मानदण्ड नहीं कह सकते।

द्वितीय आपत्ति यह है, तार्किक सत्यता के भाषात्मक सिद्धान्तानुसार 'शब्द प्रयोग अथवा शब्दार्थ के आधार पर ही गणित (एवं तर्क शास्त्र) के सत्यवाक्यों का निर्णय होता है परन्तु, इस कथन में एक अस्पष्टता है। तर्कशास्त्री किसी वाक्य की सत्यता का निर्णय करने के लिए किसी विधि का निर्माण करता तथा उसे अपनाता है (उदाहरणत: सत्य-सारिणी विधि एक ऐसी ही विधि है।) गणितीय तर्कशास्त्र से जो परिचित हैं वे इस बात को भली भाँति समझते हैं कि इस प्रकार की विधि का निर्माण अपरिहार्यत: शब्दप्रयोग के आधार पर ही होता है कहने का तात्पर्य यह है कि गणित (एवं तर्कशास्त्र) के किसी वाक्य की सत्यता-असत्यता का निर्णय करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की विधि शब्द प्रयोग पर आधारित है। किन्तु इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं कि इन वाक्यों की सत्यता का मानदण्ड भी शब्द प्रयोग ही है। कैमिनी और उसके मत के अनुयायी इन दो विभिन्न कथनों में विवेक नहीं करते। फलतः, भ्रांतिवश वे यही समझने लगते हैं कि किसी वाक्य की सत्यता निर्णीत करने की जो विधि है वही उस वाक्य की सत्यता का मानदण्ड भी है। किन्तु वास्तविकता यह है कि शब्द प्रयोग किसी वाक्य की सत्यता को पहचानने की विधि का आधार जरूर है, परन्तु वह उस वाक्य की सत्यता का स्रोत नहीं है।

(७) गणित और विज्ञान—अभी तक हमने गणित तथा तर्कशास्त्र के परस्पर संबंध पर प्रकाश डाला है। अब हम गणित और विज्ञान के परस्पर संबंध पर विचार करेंगे।

प्रचलित रूढ़ दृष्टिकोण के अनुसार गणित और विज्ञान—ज्ञान के इन दो क्षेत्रों को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग माना जाता है। कैमिनी का मत भी यही है। इस मत के पक्ष में अनेक तर्क दिए जाते हैं:—

(१) पहला तर्क इस बात पर आधारित है कि गणित के वाक्यों का कोई विषय ही नहीं होता, जबकि विज्ञान के वाक्यों का विषय होता है। गणित के वाक्य विषय-शून्य होते हैं जबकि विज्ञान के वाक्यों का विषय आनुभाविक तथ्य होते हैं।

इस तर्क के बारे में हम पहले भी कुछ कह चुके हैं। वह यह है कि गणितीय वाक्यों का भी विषय होता है:—वे संस्थाओं तथा समुच्चयों इत्यादि के बारे में होते हैं।

इस पर कोई कह सकता है कि गणित का विषय देशकालाधीन वस्तुओं से संबंधित नहीं होता जबकि विज्ञान का विषय अपरिहार्यतः देशकालाधीन वस्तुओं से संबद्ध होता है। अतः विषय के आधार पर गणित और विज्ञान एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु यहां एक कठिनाई है। गणित और विज्ञान की पारस्परिक भिन्नता सिद्ध करने के लिए इतना कहना ही पर्याप्त नहीं कि विज्ञान का विषय देशकालाधीन वस्तुओं से संबद्ध है और गणित का नहीं। इस संबंध में हम दो तर्क प्रस्तुत करते हैं। प्रथम यह कि एक ओर गणित की विषयभूत वस्तुओं को भी एक तरह से प्रेक्ष्य कहा जा सकता है और ऐसा किया भी गया है। दूसरी ओर, विज्ञान की विषयभूत अनेक वस्तुओं के उदाहरणतः अति सूक्ष्म परमाणुओं के प्रेक्ष्य होने में भी सन्देह किया गया है।

दूसरा तर्क यह है, प्रेक्ष्य—यह शब्द अपने-आप से स्पष्ट नहीं है[४]। अतः 'प्रेक्ष्यता' के आधार पर गणित और विज्ञान में पारस्परिक भिन्नता सिद्ध करना सम्भव प्रतीत नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) गणित और विज्ञान की एक-दूसरे से भिन्नता के पक्ष में जो दूसरा तर्क दिया गया है वह इस प्रकार है—गणित और विज्ञान के वाक्यों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए अलग-अलग विधियां अपनाई जाती हैं। गणित के वाक्यों की सत्यता निर्णित करने के लिए (उदाहरणत:) उपपत्ति अथवा तर्क प्रस्तुत किया जाता है, जबकि विज्ञान के वाक्यों की सत्यता निर्णित करने के लिए आनुभाविक साक्ष्य का सहारा लेना पड़ता है। अतः गणित और विज्ञान के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं।

हमारे विचार में उपर्युक्त तर्क मान्य नहीं है। क्योंकि भौतिकी के अनेक वाक्य जो संकल्पना की दृष्टि से उच्च-स्तर के हैं, उनकी सत्यता का निर्णय सीधे ही प्रेक्ष्य साक्ष्य के आधार पर सम्भव नहीं होता। उनकी सत्यता का निर्णय ठीक उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार से गणित के अनेक वाक्यों की सत्यता का। अर्थात् निःशेषतः वैश्लेषिक विधियों द्वारा। इससे स्पष्ट होता है कि विधि के आधार पर गणित और विज्ञान में व्यतिरेक नहीं किया जा सकता।

(३) आलोचनाधीन मत के पक्ष में तीसरा तर्क इस प्रकार है। वैज्ञानिक वाक्यों और आनुभाविक तथ्यों में परस्पर गहरा संबंध है। परन्तु, गणित के वाक्यों के प्रकरण में इस संबंध का नितान्त अभाव है। अतः गणित और विज्ञान एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं।

इस दावे को कम-से-कम दो ढंग से समझा जा सकता है। पहला यह कि विज्ञान के द्वारा हमारा ज्ञान बढ़ता है, सृष्टि के तथ्यों के विषय में हमारी जानकारी बढ़ती है। परन्तु गणित के द्वारा ऐसा नहीं होता।

इस दावे का आधार गणित की तथाकथित विषय-शून्यता ही है जिसे ऊपर हमने भ्रांतिमूलक बताया है। हम यह भी कहना चाहेंगे कि यह सच है कि गणित विज्ञान की भाषा है। इस भाषा के माध्यम से अनेकानेक तथ्यों एवं उनके पारस्परिक संबंधों को स्पष्टतया अभिव्यक्त किया जाता है। यदि मान भी लिया जाये कि अपने आप में अकेला गणित हमारी ज्ञानाभिवृद्धि करने में असमर्थ है किन्तु यह तो निश्चय ही कहना होगा कि गणित की सहायता के बिना विज्ञान हमारी ज्ञानाभिवृद्धि करने में अपूर्ण है। दूसरों शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यदि विज्ञान के बिना गणित अन्धा है तो गणित के बिना विज्ञान भी लंगड़ा है। वास्तव में, गणित और विज्ञान में पारस्परिक पूरकता का संबंध है। ये एक-दूसरे से बिलकुल अलग-अलग नहीं हैं।

उपर्युक्त दावे को दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। वह इस प्रकार है—गणित के सत्य-वाक्य प्रेक्ष्य साक्ष्य से बिलकुल असम्बद्ध हैं। अतः तथ्यों के आधार पर उन्हें कदापि असत्य घोषित नहीं किया जा सकता। किन्तु इसके विपरीत वैज्ञानिक सत्यवाक्यों को कभी भी विरोधी साक्ष्य उपलब्ध होने के आधार पर झुठलाया जा सकता है। अतः गणित और विज्ञान में पारस्परिक विषमता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दावे का आधार वाक्यों के विषय में विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक व्यतिरेक ही है। अर्थात् गणित के वाक्य विश्लेषणात्मक हैं; उनकी सत्यता तथ्य निरपेक्ष है। जबकि वैज्ञानिक वाक्य संश्लेषणात्मक है। उनकी सत्यता तथ्य सापेक्ष है। हम ऊपर कह चुके हैं कि इस व्यतिरेक की अपनी ही कठिनाइयां हैं। इसके अतिरिक्त कोई यह दावा भी तो कर सकता है कि गणितीय वाक्यों की सत्यता तथ्यों के सापेक्ष अबाध्य नहीं है। इस कथन की सत्यता दिखाने के लिए निम्नलिखित दो उदाहरण प्रस्तुत हैं—प्रथम, भौतिकी के इस सत्यवाक्य को लीजिये—

'गतिमात्रा तथा वेग अनुलोमानुपाती है'। इस वाक्य को सत्यता के तथ्यों के सापेक्ष अबाध्य बताया जाता है। अतः इसे विश्लेषणात्मक वाक्य कहना ही चाहिये। वास्तव में, यह वाक्य 'गतिमात्रा' को परिभाषित करता है—

गतिमात्रा = संहति × वेग [परिभाषा]

अब यदि इस वाक्य को हम क्लैस्सिकल (रूढ़) भौतिकी का अंग माने तो माईकलसनमारले प्रयोग से उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर इस वाक्य की सत्यता का बोध होता है। इस विरोध को दूर करने के लिए हमारे सामने दो रास्ते हैं—

पहला यह कि हम रूढ़ भौतिकी में आवश्यक परिवर्तन करें। ऐसा करना पूर्णरूपेण सम्भव है। दूसरा रास्ता यह है कि हम अपनी आवश्यकताओं के अनुसार 'गतिमात्रा' की परिभाषा में यथेष्ठ परिवर्तन करें और इस प्रकार माईकलसन–मारले प्रयोग से उपलब्ध साक्ष्य को अपने सिद्धांत में समाहित करलें। यह रास्ता आइन-स्टाईन ने अपनाया है। इस दृष्टांत से हमें केवल इतना ही बताना अभिप्रेत है कि विश्लेषणात्मक वाक्यों की सत्यता का बाध असम्भव है—यह धारणा भ्रांतिमूलक है।

हमारा द्वितीय उदाहरण तर्कशास्त्र से लिया गया है—वह है मध्यभाव नियम—'प सत्य है अथवा सत्य नहीं है।' रूढ़ी से ही इस वाक्य की सत्यता को अबाध्य माना गया है। अतः इसे विश्लेषणात्मक वाक्य कहना ही चाहिए। परन्तु क्वांटम-यांत्रिकी के विकास के फलस्वरूप इस वाक्य की सत्यता में भी सन्देह होने लगा है। विशेषतः हाईज़नबर्ग के अनिश्चितता के नियम के आधार पर जिसके अनु-सार किसी कण की गतिमात्रा तथा स्थिति दोनों का एकदम निश्चित करना असंभव है। अतः अनेक दर्शनशास्त्रियों ने विशेषतः हास राइख़नबाख़् ने, मध्याभाव नियम को छोड़ देने का सुझाव दिया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि तथ्यों के साक्ष्य के आधार पर मध्याभाव नियम जैसे विश्लेषणात्मक वाक्य की सत्यता को अबाध्य मानना कठिन है। अतः गणित और विज्ञान को विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक व्यतिरेक के आधार पर भिन्न-भिन्न नहीं माना जा सकता। जैसेकि ऊपर दिए गए दृष्टांतों से स्पष्ट है, यदि किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धांत विशेष में किसी वाक्य विशेष को विश्लेषणात्मक वाक्य कहा गया है तो इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि उस वाक्य को किसी भी सिद्धांत में अथवा किसी भी काल में विश्लेषणात्मक वाक्य ही कहा जाना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि विश्लेषणात्मक-संश्लेषणात्मक व्यतिरेक प्रसंग-सापेक्ष है अर्थात् यदि कोई वाक्य किसी एक प्रसंग में विश्लेषणात्मक माना गया है तो वही वाक्य किसी दूसरे प्रसंग में संश्लेषणात्मक माना जा सकता है। यही कारण है कि न्यूटन के दूसरे नियम—बल = संहृति × त्वरण को कभी परिभाषिक वाक्य कहा गया है और कभी आनुभाविक वाक्य कहा गया है। अतः प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों का दावा है कि केवल प्ररूप अथवा विषय के आधार पर किसी भी वाक्य की सत्यता का निर्धारण नहीं किया जा सकता अपितु किसी सिद्धांत-विशेष में उस वाक्य का क्या कार्य-व्यापार है—इसी आधार पर ही उस सिद्धांत-विशेष में उस वाक्य की सत्यता अथवा विश्लेषणात्मकता संश्लेषणात्मकता का निर्धारण किया जा सकता है। इस प्रकार किसी सिद्धांत-विशेष में हम उन वाक्यों को विश्लेषणात्मक वाक्य कहेंगे जिनकी सत्यता उस सिद्धांत-विशेष में अबाध्य मानी गयी है। यह सच है कि गणित के वाक्यों का प्रेक्ष्य-तथ्यों से उतना गहरा संबंध नहीं है जितना गहरा संबंध वैज्ञानिक वाक्यों का प्रेक्ष्य तथ्यों से है, और यह भी सच है कि उनकी सत्यता के बाध होने की स्थितियां कम पैदा होती हैं। किंतु दोनों प्रकार के वाक्यों में केवल स्तरमात्र का अन्तर है। अतः गणित और विज्ञान में भिन्नता की एक साफ़-सुथरी तथा प्रसंग-निरपेक्ष सीमारेखा खींचना शब्दजाल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

तीसरा अध्याय—वैज्ञानिक व्याख्या—यह अध्याय सात संदर्भों में बंटा हुआ है—(१) परिचय, (२) ह्यूमियन विश्लेषण, (३) आगमिक सांख्यिकीय व्याख्या, (४) प्रतिबन्धक वाक्य तथा निगम, (५) व्याख्या तथा प्रागुक्ति, (६) साध्यपरक व्याख्या, और (७) व्याख्या तथा अवघटन। अपने इस लेख में इन सात संदर्भों का एक-एक करके विवरण दूंगा।

(१) **परिचय**—विज्ञान का उद्देश्य घटनाओं की व्यवस्थित, बुद्धिगाम्य और वैज्ञानिक व्याख्या देना है। संयोग अथवा ईश्वरीय शक्ति के हस्तक्षेप के फलस्वरूप ही सभी घटनाएं घटती हैं—घटनाओं की इस प्रकार की व्याख्या को वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कहा जा सकता। क्यों? इस शंका का समाधान वैज्ञानिक व्याख्या के स्वरूप को समझ लेने के साथ-साथ हो जायेगा। सम्प्रति हमें इतना ही कहना है कि विज्ञान में संयोग अथवा ईश्वरीय शक्ति पर आधारित व्याख्याओं का कोई स्थान नहीं। विज्ञानशास्त्री को इस प्रकार की व्याख्याएं मान्य नहीं हैं। उसकी रुचि केवल प्राकृतिक व्याख्याओं में है; अति-प्राकृतिक व्याख्याओं में नहीं। प्रस्तुत अध्याय में लैम्बर्ट और ब्रिट्टन ने 'वैज्ञानिक व्याख्या'—इस प्रत्यय का दार्शनिक विश्लेषण दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'व्याख्या' शब्द अनेकार्थक है। इसके सारे अर्थों का विवरण हम नहीं देंगे। इसी प्रकार, 'क्यों' शब्द से प्रारम्भ होने वाले प्रश्न अनेकविध होते हैं। इन सब प्रकार के प्रश्नों के तार्किक विश्लेषण में भी हमारी रुचि नहीं है। इस अध्याय में हम केवल उन्हीं व्याख्याओं की चर्चा करेंगे जिनके द्वारा किसी कार्य अथवा घटना को उसके कारणों से सम्बद्ध किया जाता है। मोटे तौर पर, व्याख्याओं को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) कारणवाची व्याख्यायें—उदाहरणतः चूहा चक्रव्यूह में रखे हुए खाद्यान्न के बर्तन की तरफ क्यों दौड़ा ? क्योंकि वह भूखा था। (२) अभिप्रेरणा-परक अथवा साध्यपरक व्याख्याएं—उदाहरणतः चूहा चक्रव्यूह में रखे हुए खाद्यान्न के बर्तन की तरफ क्यों दौड़ा ? क्योंकि उसका उद्देश्य खाद्यान्न प्राप्त करना था। (३) अवघटनात्मक व्याख्याएं—उदाहरणतः जल किन पदार्थों से बना है ? HO_2 से। कुछेक विज्ञानदर्शनशास्त्रियों ने इन तीन प्रकार की व्याख्याओं को एक ही प्रकार में समाहित करने का प्रयत्न किया है, दूसरों ने इनको सर्वथा भिन्न-भिन्न प्रकार का बताया है। हमारी पुस्तक के लेखकों ने इन दोनों मतों पर सन्तुलित रूप से विचार किया है तथा द्वितीय मत के प्रति अपनी सहानुभूति दिखाई है।

उपर्युक्त तीन प्रकार की व्याख्याएं वास्तव में 'व्याख्या' प्रत्यय के तीन विश्लेषण ही हैं। 'व्याख्या' के किसी भी विश्लेषण के औचित्य का निर्णय करने के लिए निम्नलिखित मानदण्ड निर्धारित किए गए हैं। इन्हें हम निर्दिष्ट विश्लेषण के औचित्य की शर्तें भी कह सकते हैं।

(१) पहली शर्त यह है कि हमारा विश्लेषण विज्ञान में उपलब्ध व्याख्याओं के सर्वसम्मत प्रतिमानों के अनुरूप हो।

(२) दूसरी शर्त यह है कि विश्लेषण किसी भी प्रकार का क्यों न हो, हमारी वैज्ञानिक व्याख्याएं आनुभाविक विषयवस्तु पर ही आधारित हो। अर्थात् उनमें कोई भी ऐसा वाक्य न हो जो आनुभाविक पहुँच से परे हो। उदाहरणतः ईश्वरीय शक्ति अथवा किसी अन्य प्रकार की अतिप्राकृतिक शक्ति पर आधारित व्याख्याएं हमें मान्य नहीं हैं।

(३) तीसरी शर्त यह है कि हमारी व्याख्या से इस बात का पूरा-पूरा पता चले कि व्याख्याधीन घटना अपने पूर्ववर्ती प्रतिबन्धकों से अनिवार्यतः सम्बद्ध थी। अर्थात् घटना के पूर्ववर्ती प्रतिबन्धकों की जानकारी के आधार पर उस घटना की प्रागुक्ति करना सम्भव हो।

(२) **'ह्यूमियन' विश्लेषण**—हमारी पुस्तक के लेखकों के मतानुसार डेविड ह्यूम ने 'कारण' प्रत्यय संबंधी जो विश्लेषण दिया था वह वैज्ञानिक व्याख्या की उपर्युक्त तीनों शर्तों को पूरा करता है। अतः उन्होंने ह्यूमियन अर्थात् ह्यूम के दिए हुए विवरण को कारणवाची व्याख्याओं के विश्लेषण का मॉडेल माना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञानदर्शन में कारणवाची व्याख्याओं का रूढ़ी-प्रचलित विवरण हेम्पेल तथा ओपनहाईम[२] ने दिया है। इनके मतानुसार जब विज्ञानदर्शनशास्त्री वैज्ञानिक व्याख्या का विश्लेषण देता है तब वह घटनाओं के पारस्परिक संबंध की बात नहीं करता; उसकी अभिरुचि उन घटनाओं का वर्णन करने वाले वाक्यों के पारस्परिक संबंधों के अध्ययन में होती है। कारण यह है कि घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों की जांच करना विज्ञान-शास्त्री का क्षेत्र है; दर्शन-शास्त्री का क्षेत्र उन घटनाओं को वर्णित करने वाले वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का तार्किक विश्लेषण करना है। प्रत्ययों, धारणाओं तथा वाक्यों का ही तार्किक विश्लेषण सम्भव है; घटनाओं का तार्किक विश्लेषण सम्भव नहीं, उनका तो वैज्ञानिक-विश्लेषण ही हो सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि हेम्पेल तथा ओपनहाइम के मतानुसार किसी घटना की कारणवाची व्याख्या करने का अर्थ दूसरे शब्दों में, उस घटना का वर्णन करने वाले व्याख्याधीन वाक्य को दूसरे दो प्रकार के व्याख्याकारी सत्य तथा आनुभाविक वाक्यों से निगमनित करना है। इन दो प्रकार के वाक्यों में एक तो वे वाक्य होने चाहिए जो उस घटना से सम्बद्ध पूर्ववृत्त प्रतिबन्धकों का वर्णन करते हों; और दूसरे वे सम्बद्ध वाक्य जिन्हें हम सामान्य नियम अथवा व्याप्ति वाक्य कहते हैं। इन सामान्य नियमों का कार्यव्यापार व्याख्याधीन वाक्य को घटना के पूर्ववृत्त प्रतिबन्धकों का वर्णन करने वाले वाक्यों से संबंधित करना है। इस प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या का निम्न निर्दिष्ट रूपाकार होगा:—

व्याख्याकारी वाक्य	(१) $L_1.L_2 \cdots L_r$	(ये एक या एक से अधिक सम्बद्ध सामान्य नियम होंगे।)
	(२) $C_1.C_2 \cdots C_l$	(ये व्याख्याधीन घटना के पूर्ववृत्त प्रतिबन्धकों का वर्णन करने वाले वाक्य होंगे।)
व्याख्याधीन वाक्य	(३) E	(यह व्याख्याधीन घटना का वर्णन करने वाला वाक्य होगा।)

इस प्रकार व्याख्याकारी वाक्य (१) और (२) से व्याख्याधीन वाक्य (३) को निगमित करना ही (३) की कारणवाची व्याख्या देना है। क्योंकि इस प्रकार की व्याख्याओं में व्याख्याधीन घटना को किसी सम्बद्ध सामान्य नियम के अन्तर्गत समावेष्टित (अथवा आच्छादित) किया जाता है, अतः इस प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्याओं के मॉडेल को हम व्याख्या का आच्छादी नियम मॉडेल' कहेंगे। संक्षेप में, हैम्पेल और ओपनहाइम के मतानुसार, सामान्य नियमों के अन्तर्गत निगमनीय समाविष्टी का दूसरा नाम वैज्ञानिक व्याख्या ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी-कभी किसी घटना की व्याख्या करते हुए उससे सम्बद्ध सामान्य नियमों को स्पष्ट नहीं किया जाता, उन्हें अस्पष्ट ही रहने दिया जाता है। दैनिक जीवन एवं विज्ञान में प्रायः ऐसा होता है। ऐसे प्रकरणों में वैज्ञानिक व्याख्या को 'व्याख्या-स्केच' ही कहा जाता है। 'गान्धी मर्त्य है, क्योंकि वह मनुष्य है।' यह व्याख्यास्केच का उदाहरण है। सम्बद्ध सामान्य नियमों का स्पष्ट निर्देश करके किसी भी व्याख्या-स्केच को पूर्णाङ्ग व्याख्या में अभिव्यक्त किया जा सकता है। उदाहरणतः गांधी मर्त्य है, क्योंकि वह मनुष्य है और सभी मनुष्य मर्त्य हैं।

व्याख्या का 'आच्छादी नियम मॉडेल' हमारी उपर्युक्त तीनों शर्तों को पूरा करता है। वैज्ञानिकों तथा दर्शनशास्त्रियों को इस प्रकार की व्याख्याएं सर्वथा मान्य हैं। तथापि उन्हें सार्वभौमिक नहीं माना जा सकता। थोड़ी ही देर में हम इस पक्ष में अपना तर्क प्रस्तुत करेंगे। किन्तु उससे पहले चन्देक और बातें भी समझ लेनी चाहिएं।

(३) **आगमिक-सांख्यिकीय व्याख्याएं**—ऊपर दिये गये व्याख्या के विश्लेषण की दो विशेषताएं हैं—(१) इस प्रकार की व्याख्या में व्याख्याधीन वाक्य व्याख्याकारी वाक्यों का तार्किक फलन होता है। और (२) व्याख्याकारी वाक्यों में कम-से-कम एक सामान्य नियम का होना अनिवार्य है।

वैज्ञानिक व्याख्या के उपर्युक्त विश्लेषण में हमने केवल उन्हीं व्याख्याओं पर विचार किया है जो सार्वभौमिक नियमों पर आधारित है। इन सामान्य नियमों का तार्किक प्ररूप इस प्रकार होता है—'किसी जाति की सभी वस्तुओं में यदि कोई विशेष गुण F पाया जाता है तो उनमें कोई दूसरा विशेष गुण G भी पाया जायेगा।' किन्तु विज्ञान में उपलब्ध सभी सामान्य नियमों का तार्किक प्ररूप इस प्रकार का नहीं होता।' विशेषतः क्वाण्टम भौतिकी में उपलब्ध सामान्य नियम सांख्यिकीय प्रकार के होते हैं। उनका प्ररूप कुछ इस ढंग का होता है—'यदि यह-यह शर्तें पूरी हो जाये, तो इतनी-इतनी सांख्यिकीय सम्भाव्यता के साथ कहा जा सकता है कि इस-इस प्रकार की घटना घटेगी'। अथवा, 'किसी समष्टि के इतने प्रतिशत सदस्यों में यह-यह विशेष गुण पाये जायेंगे।' जब कभी वैज्ञानिक व्याख्या में इस प्रकार के सांख्यिकीय नियमों का प्रयोग होता है तब उस दशा में व्याख्याधीन वाक्य व्याख्याकारी वाक्यों का तार्किक फलन नहीं होता। उदाहरणतः

(१) किसी निर्दिष्ट आयु के नव्वे प्रतिशत व्यक्ति हृदय रोग से पीड़ित हैं।

(२) राम उस निर्दिष्ट आयु का है।

अतः (३) राम भी हृदय रोग से पीड़ित है।

स्पष्ट है कि इस व्याख्यात्मक तर्क के आधार वाक्य (१) और (२) सत्य है, तथा अनुमान वाक्य (३) असत्य है। अतः (३), (१) और (२) का तार्किक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फलन नहीं है। अर्थात् व्याख्याधीन वाक्य व्याख्याकारी वाक्यों का तार्किक फलन नहीं है।

यहां दो और प्रत्ययों—'सम्भावना' तथा 'सांख्यिकीय व्याप्ति' को समझ लेना अत्यावश्यक है। हम उस वाक्य को सांख्यिकीय व्याप्ति-वाक्य कहते हैं जिसके द्वारा हमें यह पता चले कि यदि किसी समष्टि के इतने प्रतिशत सदस्यों में कोई विशेषरण F पाया जाता है तो उनमें कोई दूसरा विशेष गुरण G भी पाया जायेगा। दूसरे शब्दों में, सांख्यिकीय व्याप्ति द्वारा हमें इस बात का पता चलता है कि किसी निर्दिष्ट प्रकार की घटनाओं के, किस अनुपाती बारंबारता से, किस प्रकार के परिणाम होंगे। याद रहे कि 'अनुपाती बारंबारता' की धारणा के द्वारा हम किसी दो विशेष घटनाओं के संबंध का नहीं, बल्कि किसी दो प्रकार की घटनाओं के पारस्परिक संबंध का निर्देश करते हैं। इसके विपरीत 'सम्भावना' प्रत्यय वाक्यों के परस्पर संबंध का सूचक है। इस प्रत्यय के प्रयोग से यह लक्षित किया जाता है कि किसी वाक्य से किसी दूसरे वाक्य की किस मात्रा में पुष्टि होती है। सम्भावना को, कभी-कभी 'आगमिक सम्भाव्यता' के नाम से बोधित करके इसकी 'सांख्यिकीय सम्भाव्यता' से विभिन्नता प्रदर्शित की जाती है। जिस तर्क का अनुमान वाक्य अपने आधार वाक्यों का तार्किक फलन नहीं होता परन्तु फिर भी उनसे न्यूनाधिक मात्रा में पुष्ट होता है—ऐसे तर्क को आगमिक तर्क कहते हैं।

आगमिक तर्क के स्वरूप में दो-एक और बातें भी ध्यान में रख लेना चाहिए। पहली बात यह है कि किसी तर्क में सांख्यिकीय व्याप्ति के प्रयोग मात्र के आधार पर ही उस तर्क को आगमिक तर्क नहीं कहा जाएगा, और ना ही उसमें सांख्यिकीय व्याप्ति के अभाव मात्र से ही उसे निगमिक तर्क कहा जाएगा। हम केवल उसी तर्क को आगमिक तर्क कहेंगे जिस तर्क का अनुमान-वाक्य किसी एक विशेष घटना का वर्णन करता है और जिसके आधारभूत वाक्यों में कम-से-कम एक सांख्यिकीय व्याप्ति वाक्य है। इसके विपरीत, जिस तर्क के द्वारा हम सांख्यिकीय व्याप्ति के आधार पर किसी एक घटना विशेष की व्याख्या नहीं करते, अपितु किसी घटना-समुच्चय की व्याख्या करते हैं, उस प्रकार के तर्क को हम निगमिक तर्क ही कहेंगे। उदाहरणतः यदि किसी देश के १००,०००,००० व्यक्ति सिगरेट पीते हैं और उनमें से छह प्रतिशत व्यक्तियों को फेफड़ों का कैन्सर है तो इस आधार पर यह अनुमान निगमनित होता है कि उस देश के सिगरेट पीने वाले ६,०००,००० व्यक्तियों को फेफड़ों का कैन्सर होने की संभावना है।

दूसरी बात जो मैं ध्यान में लाना चाहता हूँ, यह है :—हमें किसी भी सामान्य नियम के तार्किक प्ररूप के प्रश्न को, अर्थात् क्या वह नियम सार्वभौमिक है अथवा सांख्यिकीय है ? इस प्रश्न को किसी सामान्य नियम के लिए पुष्टिकारी साक्ष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की क्या मात्रा है ? इस प्रश्न से पृथक् रखना चाहिए। बात यह है कि किसी भी सामान्य नियम की सम्भाव्यता पुष्टिकारी साक्ष्य के सापेक्ष ही होती है। अर्थात् साक्ष्य ही के आधार पर उस नियम को कम सम्भाव्य अथवा अधिक सम्भाव्य* माना जाता है। किन्तु यह तथ्य एक दूसरे प्रश्न से बिल्कुल स्वतंत्र है। वह यह है कि कोई सामान्य नियम किस प्रकार का दावा करता है ? अर्थात् क्या वह किसी जाति विशेष के सभी सदस्यों के किसी एक विशेष गुण का निर्देश करता, जैसे 'सभी कव्वे काले होते हैं।' अथवा उसके द्वारा यह कहा जा रहा है कि किसी जाति विशेष के इतने प्रतिशत सदस्यों में अमुक विशेष गुण पाया जाता है, जैसे '९०% श्वेत रंग के होते हैं।' किसी सामान्य नियम के पुष्टिकारी साक्ष्य के मात्रा-संबंधी प्रश्न को उस नियम के दावे के प्रश्न से पृथक् करने का हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि किसी भी व्याख्याकारी आगमिक तथा निगमनीय तर्क की पहचान सामान्य नियमों के पुष्टिकारी साक्ष्य के आधार पर नहीं अपितु उनके दावे के आधार पर ही की जाती है।

हेम्पेल और ओपनहाइम ने अपने उपरिनिर्दिष्ट लेख में इस बात पर जोर दिया है कि किसी भी वैज्ञानिक व्याख्या में व्याख्याधीन वाक्य व्याख्याकारी वाक्यों से तर्कतः निगमनित होता है। किंतु यदि हम सांख्यिकीय व्याप्ति के आधार पर कोई व्याख्या करते हैं और इस बात पर आग्रह करते हैं कि वैज्ञानिक व्याख्या का उद्देश्य घटना-समुच्चय की व्याख्या करना नहीं, अपितु किसी घटना-विशेष की व्याख्या करना है, तो उस स्थिति में व्याख्याकारी तर्क निगमनीय स्वरूप का नहीं रहता। अब प्रश्न उठता है कि क्या हम केवल निगमनीय व्याख्याओं को ही सच्ची व्याख्याएं मानें अथवा आगमिक व्याख्याओं को भी सच्ची व्याख्याएं माना जा सकता हैं ?

यह प्रश्न काफ़ी विवादास्पद है। कुछ दर्शनशास्त्रियों का कहना है कि आगमिक व्याख्याएं भी सच्ची वैज्ञानिक व्याख्याएं हैं और कुछ दूसरे दार्शनिकों के मतानुसार ऐसा नहीं है। विज्ञान-दर्शन के अद्यतन इतिहास में दोनों पक्षों के समर्थन में अच्छे तर्क दिए गए हैं। उन सभी का ब्योरा हम इस लेख में नहीं देंगे। सम्प्रति हमारा उद्देश्य 'नियम' प्रत्यय का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

(४) **नियम और प्रतिबन्धक वाक्य**—'नियम' शब्द के अनेक अर्थ हैं। शब्दकोष इस बात का साक्षी है। किन्तु, हम उन वाक्यों को नियम कहेंगे जिनका

* जब किसी आनुभाविक वाक्य की पुष्टि के लिए निर्णायक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता तो उस वाक्य को सम्भाव्य कहा जाता है। इस अर्थानुसार सारे सामान्य नियम अपरिहार्यतः सम्भाव्य तो होते ही हैं। यह बात केवल अनिर्बद्ध सामान्य नियमों पर ही लागू होती है, निर्बद्ध सामान्य नियमों पर नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग नियमितता प्रकट करने के लिए होता है। अतः हम 'नियम' प्रत्यय के विश्लेषणार्थ केवल नियम-वाक्यों के ही तार्किक गुणों पर ध्यान देंगे। इसके अतिरिक्त हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हमारी रुचि सब प्रकार के सामान्य वाक्यों का विश्लेषण प्रस्तुत करने में नहीं है। हम केवल उन्हीं वाक्यों का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे जिन्हें असांख्यिकीय सामान्य प्रतिबन्धक वाक्य कहा जाता है। ऐसे वाक्यों का तार्किक प्ररूप सार्वभौमिक होता है—अर्थात् 'किसी जाति-विशेष की सभी वस्तुओं में यदि कोई विशेष-गुण F पाया जाता है तो उनमें कोई दूसरा विशेष गुण G भी पाया जायगा'—इस प्रकार का प्ररूप होता है। यदि इसी बात को तर्कशास्त्र की प्रतीकात्मक भाषा में रखा जाय तो सार्वभौमिक वाक्य का तार्किक प्ररूप होगा—
$(x)(Fx \rightarrow Gx)$ ।

किन्तु, नियमों के तार्किक प्ररूप की पहचान कर लेना ही उनके स्वरूप को समझने के लिए पर्याप्त नहीं है। क्योंकि ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनके तार्किक प्ररूप तथा नियमों के तार्किक प्ररूप में कोई भेद नहीं है। तथापि हम उन्हें नियम-वाक्य नहीं मान सकते। यह सच है कि सभी नियम तर्क की दृष्टि से सामान्य वाक्य ही होते हैं; परन्तु सभी सामान्य वाक्यों को तो नियम नहीं माना जा सकता। अतः नियम और नियमेतर वाक्यों में व्यतिरेक करने के लिए हमें निश्चित मानदण्डों की आवश्यकता है। लैम्बर्ट और ब्रिट्टन ने निम्न निर्दिष्ट तीन मानदण्डों की विवेचना की है :—

पहला—नियम वे वाक्य हैं जो सामान्य तो होते ही हैं, किंतु आनुभविक भी होते हैं। इस मानदण्ड के अनुसार अर्थहीन वाक्य (यथा–सभी गल्लव्बीकर विश्वसनीय हैं) विश्लेषणात्मक वाक्य (यथा–'सभी कुंवारे अविवाहित मर्द होते हैं') अथवा इस प्रकार के दूसरे अनेक वाक्यों को नियम नहीं माना जायगा। इसमें संदेह नहीं कि यह मानदण्ड काफी आकर्षक है, और इसमें कुछ सचाई है, ऐसा भी जान पड़ता है। तथापि तार्किक दृष्टि से यह मानदण्ड स्पष्ट नहीं है, क्योंकि इसमें 'आनुभविक'–प्रत्यय को स्पष्ट नहीं किया गया है।

दूसरा—नियम वे वाक्य हैं जो सत्य होते हैं। अतः असत्य वाक्यों को (उदाहरणतः 'सभी हंस सफेद रंग के होते हैं') नियम नहीं माना जायगा। इस मानदण्ड को लागू करने के रास्ते में कुछेक कठिनाइयां हैं—(१) यदि हम यह चाहें कि व्याख्याकारी नियमों को अनिवार्यतः सत्य होना ही चाहिए तो उस स्थिति में हमें यह भी कहना पड़ेगा कि गैलीलियो ने नतसमतलों पर प्राप्त होने वाली वस्तुओं के बारे में प्रेक्ष्य तथ्यों की या तो वैज्ञानिक व्याख्या ही नहीं की, अथवा उसकी व्याख्याओं के आधारभूत नियम तब सत्य थे किन्तु अब असत्य हो गए हैं। (२) अनिर्बंद्ध सामान्य वाक्यों की सत्यता पूर्णतः सिद्ध करना यदि असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन ज़रूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। (३) प्रायः नियमों को उस तार्किक कोटि का बताया जाता है जिस कोटि के वाक्यों को तर्क की दृष्टि से वर्णनात्मक नहीं माना जाता; और फलस्वरूप उन्हें सत्य अथवा असत्य भी नहीं कहा जाता।

इन्हीं कठिनाइयों के कारण हम इस बात पर आग्रह नहीं करेंगे कि नियमों को अनिवार्यतः सत्य ही होना चाहिए। हम अपना ध्यान केवल नियम-तुल्य वाक्यों के विश्लेषण पर ही केन्द्रित करेंगे। हम उन वाक्यों को नियम-तुल्य वाक्य कहेंगे जो वाक्य नियमों विषयक सभी शर्तों को पूरा करते हैं परन्तु जिनकी सत्यता-असत्यता का निर्णय करने का प्रश्न नहीं उठाया जाता।

तीसरा—नियम-तुल्य वाक्यों की सहायता से तथ्यविरोधात्मक प्रतिबंधक वाक्यों की पुष्टि की जाती है, किन्तु आपातो सामान्य वाक्यों की नहीं। आपाती सामान्य वाक्यों का उदाहरण यह है—'इस बेंच पर बैठने वाले सभी व्यक्ति हिन्दुस्तानी हैं।' ज़ाहिर है कि इस वाक्य के सामान्य होने के बावजूद इसे नियम अथवा नियम-तुल्य नहीं माना जा सकता। तथ्यविरोधात्मक प्रतिबन्धक वाक्यों का उदाहरण यह है—'यदि आज गांधीजी जीवित होते, तो हमारे देश में भ्रष्टाचार में काफी कमी हो जाती'। क्योंकि इन प्रतिबन्धकों के दशाबोधक-वाक्यांश सत्य नहीं होते, अर्थात् तथ्यों के विरोधी होते हैं, इसीलिए इन्हें तथ्यविरोधात्मक प्रतिबन्धक वाक्य कहा जाता है। इस प्रकार के वाक्यों की पुष्टि नियमतुल्य वाक्यों के आधार पर ही की जाती है।

इन वाक्यों के विश्लेषण की अपनी ही समस्याएं हैं तथा इनके संतोषजनक विश्लेषण के संबंध में दार्शनिकों में गहरा मतभेद है। कुछ दार्शनिक तो इन्हें सीधे-सादे वस्तुपरक-प्रतिबन्धक वाक्य ही मानते हैं, तथा कई इन्हें लुप्तावयवी युक्तियों का सम्मान देते हैं, और कुछ दूसरे दार्शनिक इन्हें सत्य अथवा असत्य वर्णनात्मक वाक्य ही नहीं कहना चाहते। कुछ भी हो, लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन के मतानुसार तथ्य-विरोधात्मक प्रतिबन्धक वाक्यों का स्वरूप पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं है और यही अस्पष्टता 'नियम-तुल्य' अथवा 'नियम'-इन प्रत्ययों के प्रस्तावित विश्लेषणों में साफ़ झलकती है। सम्प्रति हम इतना ही कहना चाहते हैं कि तीसरे मानदण्ड को नियम-तुल्यता की अनिवार्य शर्त तो हम भले ही मान लें परन्तु उसे पर्याप्त शर्त नहीं मान सकते।

स्पष्ट है कि हमारी पुस्तक के लेखकों को नियमितता के प्रचलित तीनों मान-दण्ड सर्वथा मान्य नहीं हैं। उनके मतानुसार किसी प्रसंग अथवा सिद्धांत के अंतर्गत किन सामान्य वाक्यों को नियम अथवा नियमतुल्य वाक्य माना जायगा? इस प्रश्न का निर्णय इस आधार पर किया जाता है कि उस प्रसंग अथवा सिद्धांत में उन सामान्य वाक्यों का कार्य-व्यापार क्या है?

(५) व्याख्या और प्रागुक्ति—इस संदर्भ में, लैंम्बर्ट और ब्रिट्टन ने व्याख्या तथा प्रागुक्ति के पारस्परिक संबंध पर विचार किया है। हेम्पेल तथा ओपनहाइम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतानुसार, व्याख्या तथा प्रागुक्ति के तार्किक ढांचों में सादृश्य पाया जाता है। जिस प्रकार किसी घटना की व्याख्या करना उस घटना का वर्णन करने वाले वाक्य को, अर्थात् घटनाधीन वाक्य को, सामान्य नियमों एवं पूर्ववृत प्रतिबन्धों का वर्णन करने वाले वाक्यों से, अर्थात् व्याख्याकारी वाक्यों से, तर्कतया निगमित करने का दूसरा नाम व्याख्या है, उसी प्रकार, किसी घटना की प्रागुक्ति करना उस घटना का वर्णन करने वाले वाक्य को, अर्थात् प्रागुक्ति वाक्य को, सामान्य नियमों एवं पूर्वावृत प्रतिबन्धों का वर्णन करने वाले वाक्यों से तर्कतया निगमनित करने का दूसरा नाम प्रागुक्ति ही है। इन दोनों के तार्किक ढांचे में इस प्रकार के सादृश्य के आधार पर ही यह कहा जाता है कि व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति है। ध्यान रहे कि तार्किक सममिति होने का यह अर्थ नहीं कि किसी घटना की व्याख्या करने और किसी घटना की प्रागुक्ति करने में कोई अन्तर ही नहीं। अन्तर इतना है कि हम उस घटना की व्याख्या करते हैं जो घट चुकी होती है परन्तु उस घटना की प्रागुक्ति करते हैं जिसे अभी घटना होता है। व्याख्या का विषय भूत घटनाएं हैं, जबकि प्रागुक्ति का विषय भावी घटनाएं होती हैं। एक का संबंध भूतकाल से है, दूसरे का संबंध भविष्यत् काल से।

यह सच है कि हेम्पेल तथा ओपनहाइम के मतानुसार वैज्ञानिक व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति है। और यह भी सच है कि जिन व्याख्याओं के आधार पर घटनाओं की प्रागुक्ति सम्भव है उन व्याख्याओं के औचित्य के बारे में हमें किंचित् मात्र भी सन्देह नहीं होगा। किन्तु प्रश्न उठता है कि क्या हम व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति के सिद्धांत को मान सकते हैं ? हमारी पुस्तक के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है। इस पक्ष में मुख्य तर्क इस प्रकार हैं:—

यदि व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति मान ली जाय तो उस स्थिति में प्रागुक्ति वाक्य उसी प्रकार अनिवार्यतः सत्य होना चाहिए जिस प्रकार व्याख्याधीन वाक्य अनिवार्यतः सत्य होता है। किन्तु इसमें कठिनाई है, क्योंकि व्याख्याधीन घटना घट चुकी होती है और तत्पश्चात् हम उसकी व्याख्या देते हैं, अतः व्याख्याधीन वाक्य के असत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत, प्रागुक्ति वाक्य को यदि सत्य मान लिया जाय तो प्रागुक्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती है और यदि उसे सत्य न माना जाय तो उसके असत्य होने की संभावना बनी रहती है।

इसके अतिरिक्त, अनेक दार्शनिकों का कथन है कि मनुष्यादि जीवों के स्वतंत्र कार्यों एवं उद्देश्यात्मक व्यवहार की वैज्ञानिक व्याख्याओं के आधार पर उनके भावी कार्यों तथा व्यवहार के बारे में प्रागुक्ति करना नितान्त असम्भव है। इसका कारण यह है कि मानवीय कार्यों के उद्देश्यों, अभिप्रेरणाओं एवं प्रयोजनों के बारे में सार्वभौम नियम बनाना ही असम्भव है। और यदि ऐसे नियम बना भी लिए जांय तो वे इतने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमज़ोर होंगे कि उनके आधार पर प्रागुक्ति असम्भव होगी। अतः व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिती के सिद्धांत को नहीं माना जा सकता।

(६) साध्यपरक व्याख्या—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब कहा जा सकता है कि व्याख्याओं का आच्छादि नियम मॉडेल विज्ञान में सार्वभौमिक नहीं है। अर्थात् सभी प्रकार की घटनाओं की व्याख्या करने के लिए इस मॉडेल को अपनाया नहीं जा सकता। विशेषतः, जीव-विज्ञान, इतिहास, तथा सामाजिक शास्त्रों में इस मॉडेल को अपनाना असम्भव है; क्योंकि इन शास्त्रों में उपलब्ध व्याख्याएं उद्देश्य, प्रयोजन अभिप्रेरणा, अथवा साध्यपरक होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इन साध्यपरक व्याख्याओं का स्वरूप क्या है? इस संबंध में दो बातें ध्यान में रखने की हैं। पहली बात यह है कि व्याकरण की दृष्टि से साध्यपरक व्याख्याओं में उद्देश्यादिसूचक कोई-न-कोई शब्दावली होनी ही चाहिए। उदाहरणतः 'के उद्देश्य से', 'के प्रयोजन से' इत्यादि। दूसरी बात यह है कि इस प्रकार की व्याख्याओं में व्याख्याकारी वाक्य उस घटना का वर्णन करते हैं जो घटना व्याख्याधीन घटना के बाद घटित होती है। चूहे के उदाहरण में खाद्यान्न की प्राप्ति–नामक घटना उसके सही जगह पर पहुँचने की घटना के बाद ही घटित होती है।

रूढ़ दृष्टिकोण के समर्थक हेम्पेल तथा ओपनहाइम ने इस प्रकार की साध्य-परक व्याख्याओं को आच्छादि नियम माडेल के अनुकूल बनाने का प्रयत्न तो किया है किन्तु उस प्रयत्न में उन्हें सफल नहीं माना जा सकता। इसके मुख्य दो कारण हैं—प्रथम तो यह कि उद्देश्यों, इच्छाओं इत्यादि के बारे में सामान्य नियम बनाना असंम्भव है,क्योंकि जब भी इस प्रकार के नियम बनाने का प्रयत्न किया जाता है तो ऐसे नियमों को प्रकट करने वाले वाक्य या तो शून्यप्राय अर्थात्मक होते हैं अथवा वे नितान्त असत्य होते हैं। बात यह है कि इच्छा और उस इच्छा की पूर्ति के लिए किए जाने वाले कार्य को एक-दूसरे से अलग-अलग करके वर्णित करना बिलकुल असम्भव है। जब हम इच्छा और उसकी पूर्त्यर्थ कार्य को दो घटनाएं मानते हैं तो हमारे सामान्य वाक्य असत्य होते हैं और जब हम उन्हें एक ही घटना मानते हैं तो हमारे वाक्य विश्लेषणात्मक होने के फलस्वरूप शून्यप्राय अर्थात्मक हो जाते हैं। अतः इच्छाओं इत्यादि के बारे में सामान्य वाक्य बनाना तार्किक दृष्टि से असम्भव है।

दूसरा कारण यह है, अनेक मनोवैज्ञानिकों तथा कुछेक दार्शनिकों ने 'इच्छा' इत्यादि प्रत्ययों को व्यवहारिकीय अथवा भौतिकीय शब्दावली में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार यदि प्रस्तावित प्रयत्न सफल हो जाय तो उस स्थिति में इच्छाओं इत्यादि के बारे में उपयोगी सामान्य नियम बनाना सम्भव हो जायगा। इन विचारकों के इस दृष्टिकोण को हमारी पुस्तक के लेखकों ने 'विश्लेष-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

णात्मक व्यवहारवाद' कहा है। विश्लेषणात्मक व्यवहारवाद सभी विचारकों को मान्य नहीं है। उनका मुख्य तर्क यह है कि इच्छा इत्यादि मानसिकीय शब्दावली को व्यवहारिकीय अथवा भौतिकीय शब्दावली में निःशेषतः परिभाषित किया नहीं जा सकता। जब भी हम इस प्रकार की परिभाषाएं देने का प्रयत्न करते हैं तो किसी न किसी स्तर पर—विशेषतः प्रस्तावित परिभाषाओं के औचित्य संबंधी निर्णय करने के लिए—मानसिकीय शब्दावली का सहारा लेना ही पड़ता है।

इस दिशा में विश्लेषणात्मक व्यवहारवाद के अतिरिक्त एक दूसरा प्रयत्न भी किया गया है। इस प्रयत्न के समर्थक मानसिकीय प्रत्ययों को व्यवहारिकीय अथवा भौतिकीय प्रत्ययों में परिभाषित नहीं करते, अपितु इच्छाओं इत्यादि का न्यूरोफ़िज़्योलोजिकल दशाओं के साथ सहसंबंध बिठाते हैं अथवा उनमें तादात्म्य का सबंध बताते हैं। इस प्रकार के कार्यक्रम की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि प्रस्तावित सहसंबंधता तथा तादात्म्य के संबंध को सन्तोषजनक रूप से समझा और समझाया जा सके। इसके अतिरिक्त इस स्तर पर पहुँचकर व्याख्याओं का प्रश्न दूसरा ही रूप ले लेता है। अर्थात् साध्यपरक व्याख्याओं की अवघटनीयता तथा अनवघटनीयता का प्रश्न मनस् तथा शरीर के पारस्परिक संबंध के तात्त्विक प्रश्न पर केन्द्रित हो जाता है।

(७) व्याख्या तथा अवघटनीयता—इस संदर्भ में हमारी पुस्तक के लेखकों ने व्याख्याओं के एक नये प्रकार—अवघटनात्मक व्याख्याओं—की चर्चा की है। इस प्रकार की व्याख्याओं में सम्मुच्चयों के विशेष गुणों की व्याख्या उनके अंशों के विशेष गुणों के आधार पर की जाती है। परन्तु व्याख्या के इस विश्लेषण के साथ-साथ यह भी कहा जाता है कि उन अंशों के विशेष गुण—जिनके द्वारा उन समुच्चयों के विशेष गुणों की व्याख्या की जाती है—समुच्चयों के विशेष गुणों से नितान्त भिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरणतः जल, जो एक आण्विक समुच्चय है, इसके विशेष गुण–पारदर्शीयता—की व्याख्या इस समुच्चय के अंशों—अणुओं—के विशेष गुणों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार की व्याख्याओं का वैज्ञानिक बहुधा प्रयोग करते हैं। इन व्याख्याओं के समर्थकों के मतानुसार विज्ञान का मुख्य उद्देश्य सामान्य नियमों को बनाना और उनकी सहायता से घटनाओं की व्याख्या करना नहीं है। उनका आग्रह है कि घटनाओं का यथासम्भव पूर्णतः वर्णन करना, उनको भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित करना, तथा उन्हें एक-दूसरे से सम्बद्ध करना ही विज्ञान का मुख्य उद्देश्य है।

अब यदि हम अवघटनात्मक व्याख्याओं के तार्किक ढांचे पर ध्यान दें तो व्याख्या के स्वरूप के विषय में दो बातें निश्चित रूप से स्पष्ट हो जाती हैं—एक तो यह है कि अवघटनात्मक व्याख्याओं के प्रकरण में व्याख्या तथा प्रागुक्ति में तार्किक सममिति का पूर्णतया अभाव है। इसके अतिरिक्त और यह हमारी दूसरी बात है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवघटनात्मक व्याख्याओं के विश्लेषण से पता चलता है कि 'प्रागुक्ति' तथा 'अवघटनीयता' एक-दूसरे से बिलकुल स्वतंत्र धारणाएं हैं।

४

चौथा अध्याय—पुष्टिकरण तथा स्वीकार्यता : इस अध्याय में चार संदर्भ हैं—(१) परिचय, (२) स्वीकार्यता तथा पुष्टिकरण, (३) पुष्टिकरण संबंधी विरोधाभास, और (४) क्या प्राकृतिक नियम सत्य या असत्य होते हैं?

(१) **परिचय**—व्याख्याओं और तथ्य विरोधात्मक प्रबन्धक वाक्यों के पारस्परिक संबंध के विषय में हमारे सामने कुछ इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। जब यह पूछा गया कि नियमतुल्य वाक्य कौन-से हैं? तो उत्तर मिला—वे वाक्य जो तथ्यविरोधात्मक प्रबन्धक वाक्यों की पुष्टि करते हैं। और जब यह पूछा गया कि तथ्यविरोधात्मक प्रबन्धक वाक्य कौन-से होते हैं? तो इस प्रश्न का उत्तर हमने नियमतुल्य वाक्यों की सहायता से दिया। इस प्रकार तर्क करते हुए हम एक घेरे में उलझ गये थे। इस घेरे से निकलने का एक रास्ता यह है कि हम नियमतुल्य वाक्यों को स्वतंत्रतः चरितार्थित करें। अर्थात् यह कहें कि नियमतुल्य वे व्याप्ति वाक्य हैं जिनकी पुष्टि अनुकूल साक्ष्य (अथवा उदाहरणों) के आधार पर की जाती है।

इस संबंध में दो प्रश्न उठते हैं—(१) अनुकूल साक्ष्य (अथवा उदाहरण) किसे कहते हैं? और (२) वे कौन-सी स्थितियां हैं जिन स्थितियों में अनुकूल साक्ष्य के आधार पर किसी व्याप्ति वाक्यों की पुष्टि होती है ऐसा माना जाता है? इन दोनों प्रश्नों को हम 'पुष्टिकरण की समस्या' का नाम देंगे।

पुष्टिकरण की समस्या को समझना बहुत जरूरी है। क्योंकि इसी के स्पष्टीकरण के आधार पर आपाती सामान्य वाक्यों तथा नियमों अथवा नियमतुल्य वाक्यों में, संतोषजनक ढंग से, व्यतिरेक किया जा सकता है। दूसरा, अनुकूल साक्ष्य के आधार पर वैज्ञानिक सिद्धांतों की पुष्टि किस प्रकार की जाती है? इस प्रश्न का उत्तर भी पुष्टिकरण की समस्या के सही समाधान पर निर्भर है। वास्तव में, 'आगमन की समस्या' भी हमारी समस्या का एक रूपान्तर है। तीसरा, इसके अतिरिक्त किसी उपकल्पना तथा उनकी पुष्टि में प्रस्तुत साक्ष्य—इन दोनों में परस्पर क्या संबंध है? इस प्रश्न का उत्तर भी 'पुष्टिकरण की समस्या' के संतोषजनक समाधान पर आधारित है।

(२) **स्वीकार्यता तथा पुष्टिकरण**—'स्वीकार्यता' की धारणा 'पुष्टिकरण' की धारणा से अधिक व्यापक है। वैज्ञानिक उपकल्पनाओं को, कुछ हद तक, इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार पर भी स्वीकार्य माना जाता है कि उनकी यथेष्ट पुष्टि हो चुकी होती है। किन्तु, इसके अतिरिक्त स्वीकार्यता के दूसरे, मानदण्ड भी हैं। हम ऐसे दो मानदण्डों पर विशेष रूप से विचार करेंगे।

(१) सरलता एवं सुबोधता—प्रायः सरलता एवं सुबोधता को वैज्ञानिक उपकल्पनाओं की स्वीकार्यता का मानदण्ड बताया जाता है। सरल एवं सुबोध उपकल्पनाएं श्रेष्ठ होती हैं। उन्हें आसानी से याद रखा जा सकता, समझा और समझाया जा सकता है, इत्यादि। तथापि, विज्ञानदर्शनशास्त्रियों के लिए प्रश्न यह उठता है कि वैज्ञानिक उपकल्पनाओं की सरलता एवं सुबोधता से क्या समझा जाये ? इस प्रश्न के उत्तर में दो-एक बातें कही जा सकती हैं। (१) सरलता एवं सुबोधता की धारणा अनिवार्यतः सापेक्ष धारणा है,निरपेक्ष नहीं। विशेषतः उपकल्पनाओं को उनके गणित के सापेक्ष भी सरल एवं सुबोध कहा जाता है। यदि किसी दो बराबर की उपकल्पनाओं में से एक का गणित अधिक सरल एवं सुबोध है तो वह कल्पना अधिक स्वीकार्य मानी जायेगी। (२) किसी उपकल्पनाओं की सरलता एवं सुबोधता हमारे उद्देश्यों तथा प्रयोजनों इत्यादि के सापेक्ष भी होती है। किंतु (३) हमारी पुस्तक के लेखकों के मतानुसार किसी दो उपकल्पनाओं में से कौन-सी उपकल्पना अधिक सरल एवं सुबोध है ? इस प्रश्न का निर्णय उन दोनों उपकल्पनाओं को बाकी विज्ञान में उपलब्ध सिद्धांतों से बिलकुल अलग रख के नहीं किया जा सकता। अपितु, उन उपकल्पनाओं को सारे विज्ञान में उपलब्ध सिद्धांतों के प्रकाश में रख करके ही इस प्रश्न का निर्णय किया जा सकता है कि उन दोनों में से कौन–सी उपकल्पना अधिक सरल एवं सुबोध है। कहने का तात्पर्य यह है कि उपकल्पनाओं की सरलता एवं सुबोधता का प्रश्न अन्तर्सिद्धान्तीय है।

(२) अन्तर्सिद्धान्तीय सम्बद्धता—अन्तर्सिद्धान्तीय सम्बद्धता भी उपकल्पनाओं की स्वीकार्यता का मानदण्ड है। इस मानदन्ड के संबंध में तीन बातें कही जा सकती हैं। प्रथम, यदि कोई उपकल्पना अथवा सिद्धांत किसी दूसरे पूर्व स्वीकृत सिद्धांतों से निगमनित होता है तो इस आधार पर ही उस उपकल्पना अथवा सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाता है। इस प्रकार की स्थिति में, स्वीकार्य उपकल्पना अथवा सिद्धांत को दूसरे अधिक व्यापक सिद्धांत का विशेष पक्ष (अथवा स्पेशल केस) कहा जाता है। द्वितीय, यदि किसी उपकल्पना का किसी पूर्वस्वीकृत, दृढ़ नियम अथवा सिद्धांत से विरोध उत्पन्न हो तो उस स्थिति में भले ही उसकी पुष्टि में कितना भी अनुकूल साक्ष्य क्यों न हो, उस उपकल्पना की स्वीकार्यता कम हो जाती है। तृतीय, किसी भी आनुभाविक व्याप्ति वाक्य को, चाहे वह कितना भी पुष्ट क्यों न हो, हम नियम अथवा सिद्धांत नहीं मानेंगे, यदि किसी दूसरे नियम अथवा सिद्धांत के अन्तर्गत उस व्याप्ति वाक्य के अपवाद सम्भव पाये गये हों। अन्तर्सिद्धांतीय सम्बद्धता का महत्त्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है:—किसी उपकल्पना का अनुकूल साक्ष्य के आधार पर पुष्ट होना उस उपकल्पना की स्वीकार्यता का मानदण्ड है, परन्तु स्वीकार्यता और सरलता तथा सुबोधता का मानदण्ड अन्तर्सिद्धांतीय सम्बद्धता ही है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि हमारी अभिरुचि उन नियमों में है जिनका तार्किक प्ररूप इस प्रकार का होता है—

(क) (x). (Fn→Gx)

इस प्रतीकात्मक वाक्य को इस प्रकार पढ़िए—

'यदि सभी वस्तुओं में कोई विशेष गुण F पाया जाता है तो उसमें कोई दूसरा विशेष गुण G भी पाया जाता है।'

नियमों को अनुकूल उदाहरणों (अथवा साक्ष्य) के आधार पर पुष्ट किया जाता है। उपर्युक्त वाक्य (क) की पुष्टि के लिए वे प्रेक्ष्य वस्तुएं अनुकूल उदाहरण मानी जांयगी जिनमें F है और G भी है और वे प्रेक्ष्य वस्तुएं प्रतिकूल उदाहरण मानी जायेंगी जिनमें F तो है किन्तु G नहीं है। इसके अतिरिक्त, यदि कोई वस्तुएं ऐसी हैं जिनमें F का अभाव है परन्तु G है अथवा नहीं है, तो ऐसी वस्तुओं को (क) की पुष्टि के लिए उदासीन उदाहरण माना जायगा। याद रहे कि किसी भी व्याप्ति वाक्य की पुष्टि में केवल उन्हीं वाक्यों को उद्धृत किया जाता है जिन्हें व्याकरण की दृष्टि से एकवचनात्मक वाक्य कहा जाता है।

(३) **पुष्टिकरण संबंधी विरोधाभास**—पुष्टिकरण संबंधी दो विरोधाभास हैं। इन दोनों का संबंध है कि 'अनुकूल उदाहरण' प्रत्यय का क्या विश्लेषण होना चाहिए, इससे है? पहले विरोधाभास का ज़िक्र कार्ल हेम्पेल[७] ने किया है। इसे 'रेवन पैराडोक्स' (काकोल विरोधाभास) कहा जाता है। मान लीजिए कि हम निम्नलिखित उप-कल्पना H की पुष्टि करना चाहते हैं—

(H). सभी काकोल काले होते हैं।

इसे तार्किक भाषा में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—

(H). (x) (Rx→Bx)

इस वाक्य की पुष्टि के लिए सभी काले काकोल अनुकूल उदाहरण कहलायेंगे, किन्तु गणितीय तर्कशास्त्र के पक्षान्तरण (अर्थात् ट्रान्सपोज़िशन) नियमानुसार H, H' के समतुल्य हैं : (H') वे सभी चीज़ें जो काली नहीं हैं, काकोल नहीं हैं। इसे तार्किक भाषा में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है—

(H'). (x) (∽Bx→∽Rx)

अब H' की पुष्टि करने के लिए वे सभी चीज़ें जो काली नहीं और काकोल भी नहीं—वे सब अनुकूल उदाहरण कहलायेंगी। क्योंकि H तथा H' दोनों तर्कशास्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से समतुल्य वाक्य हैं, अतः जो उदाहरण अथवा साक्ष्य H की पुष्टि के लिए अनुकूल होगा वही साक्ष्य H' की पुष्टि के लिए भी अनुकूल होगा। इसी प्रकार, जो साक्ष्य H' की पुष्टि के अनुकूल होगा वही H की पुष्टि के लिए भी अनुकूल होगा। अर्थात् H की पुष्टि के लिए उन सभी चीजों को जो काली नहीं हैं और काकोल भी नहीं हैं अनुकूल साक्ष्य मानना चाहिए। विशेषत: सभी श्वेत हंस जो न तो काली चीजें हैं और न ही काकोल हैं, उन सबको H की पुष्टि के लिए अनुकूल साक्ष्य मानना चाहिए। परन्तु, किसी वैज्ञानिक को इस प्रकार का साक्ष्य स्वीकार्य होगा ? इतना ही नहीं, तर्कशास्त्र की दृष्टि से H' के समतुल्य किसी भी वाक्य की पुष्टि के लिए जो भी साक्ष्य अनुकूल होगा वही साक्ष्य H की पुष्टि के लिए भी अनुकूल माना जायगा। (इस शर्त को हम समतुल्यता की शर्त कहेंगे।) परन्तु, यह स्थिति किसे मान्य होगी ? यही विरोधाभास है।

हेम्पेल ने इस विरोधाभास को पूर्णरूप से स्वीकार किया है और अपने पक्ष के समर्थनार्थ अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार यह विरोध वास्तविक नहीं, केवल आभास मात्र है। हेम्पेल ने जो विवरण दिया है उसके संबंध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात तो यह है कि उन्होंने न तो अनुकूल साक्ष्य संबंधी अपनी धारणा को छोड़ा है, और न ही अपनी समतुल्यता की शर्त को। दूसरी बात यह है कि अनुकूल साक्ष्य संबंधी, अतः पुष्टिकरण संबंधी, उनकी धारणा पूर्णरूप से प्ररूपिक है।

अनेक दार्शनिकों ने हेम्पेल के मत की भरसक आलोचना की है। एक ओर तो उन्होंने हेम्पेल के प्ररूपिक दृष्टिकोण को अस्वीकार किया है तथा दूसरी ओर उन्होंने अनुकूल एवं प्रतिकूल साक्ष्य की धारणाओं के संतोषजनक विश्लेषण की दिशा में कुछेक सुझाव दिये हैं।

हेम्पेल के प्ररूपिक दृष्टिकोण को अस्वीकार करने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस दृष्टिकोण को अपनाने के फलस्वरूप विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसे विरोधाभास को आभास मात्र कहकर विसर्जित नहीं किया जा सकता।

जो सुझाव दिये गये हैं वे सब इस बात पर आधारित हैं कि हेम्पेल ने अपने पुष्टिकरण सम्बन्धी विवरण में वैज्ञानिक पद्धति एवं वैज्ञानिक कार्य-प्रणाली का सही रूप से चित्रण नहीं किया। विज्ञान में, उपलब्ध नियमों तथा सिद्धांतों से विच्छिन्न करके किसी भी उपकल्पना की पुष्टि अथवा अपुष्टि नहीं की जाती। और न ही कोई वैज्ञानिक किसी भी उपकल्पना के केवल तार्किक प्ररूप के आधार पर ही इस बात का निर्णय करता है कि उस उपकल्पना की पुष्टि के लिए अनुकूल अथवा प्रतिकूल साक्ष्य क्या होगा। वास्तव में साक्ष्य क्या है ? यह प्रश्न सिद्धांत-सापेक्ष है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धांत के आधार पर ही यह तय किया जाता है कि किसी भी वाक्य की पुष्टि के लिए किन वस्तुओं को अनुकूल अथवा प्रतिकूल साक्ष्य माना जायगा। प्रायः इस बात को उपकल्पना के विवरण में ही लिख दिया जाता है। उदाहरणतः उपर्युक्त उपकल्पना H के विवरण में इस प्रश्न का उत्तर भी शामिल है कि इस उपकल्पना की पुष्टि के लिए किन वस्तुओं को अनुकूल अथवा प्रतिकूल साक्ष्य माना जायगा। यदि ये तर्क सही हैं तो स्पष्ट है कि हेम्पेल के काकोल (विरोधाभास) की निःशेषतः क्षति हो जाती है।

पुष्टिकरण के दूसरे 'विरोधाभास' का ज़िक्र नेलसन गुड्मैन[3] ने किया है, इसे (व.विरोधाभास) कहा गया है। यह इस प्रकार है--मान लीजिए, किसी निश्चित समय स से पूर्व हमने सभी पन्नों को देखा और पाया कि वे सब हरे रंग के हैं। यह भी मान लीजिए कि किसी व्याप्ति वाक्य की पुष्टि अनुकूल साक्ष्य के आधार पर ही की जाती है। अतः अब हम कह सकते हैं कि उस निर्दिष्ट समय स पर हमारे प्रेक्ष्य-साक्ष्य के आधार पर इस उपकल्पना की पुष्टि होती है कि सभी पन्ने हरें रंग के होते हैं। यहां तक बात बनती है।

अब एक दूसरा विधेय 'व.' लीजिए। इस विधेय का अर्थ भी समझ लीजिए। हम केवल उन्हीं वस्तुओं को व. कहेंगे जो निर्दिष्ट समय स से पूर्व देखी गई हैं और हरे रंग की हैं, किन्तु दूसरी वस्तुओं को भी हम व. कहेंगे यदि वे नीले रंग की हैं। अब निम्नलिखित दो उपकल्पनाओं पर ध्यान दीजिये—

H·1 : सभी पन्ने हरे होते हैं।
H·2 : सभी पन्ने व. होते हैं।

जिस प्रकार हमने 'व.' शब्द को परिभाषित किया है उससे स्पष्ट होता है कि निर्दिष्ट समय स पर जो अनुकूल साक्ष्य H·1 की पुष्टि करता है वही साक्ष्य H·2 की भी पुष्टि करता है। दोनों उपकल्पनाओं के लिए समय स पर अनुकूल साक्ष्य एक ही है। परन्तु ऐसा करने में विरोधाभास है। क्योंकि दो विभिन्न उपकल्पनाओं H·1 और H·2 की पुष्टि के लिए अनुकूल साक्ष्य भी अलग-अलग होना चाहिए। किन्तु प्रस्तुत प्रकरण में साक्ष्य एक ही है। अतः कहना ही पड़ेगा कि H·1 और H·2 या तो एक ही उपकल्पना है अथवा ये दोनों परस्पर समतुल्य हैं। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि H·1 में 'हरा' और H·2 में 'व.' यह दोनों विधेय परस्पर विरोधी है। मोटे तौर पर, गुड्मैन के 'व. विरोधाभास' का यही विवरण है।

हमने ऊपर कहा है कि नियम-तुल्य वाक्यों तथा आपाती व्याप्ति-वाक्यों का एक-दूसरे से व्यतिरेक करने का एक तरीका यह भी है कि हम यह कहें कि केवल नियम-तुल्य वाक्यों की पुष्टि अनुकूल साक्ष्य के आधार पर होती है, आपाती व्याप्ति-वाक्यों की नहीं। किन्तु, 'व. विरोधाभास' के प्रकाश में तो प्रस्तावित तरीका बेकार हो जाता है। क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

H·2 जो निश्चय ही मनघड़न्त आपाती व्याप्ति-वाक्य है, यदि इसकी पुष्टि भी उसी साक्ष्य के आधार पर होती है जिस साक्ष्य के आधार पर H·1 की पुष्टि होती है, तो स्पष्ट है कि अनुकूल साक्ष्यात्मक पुष्टि के आधार पर आपाती व्याप्ति-वाक्यों और नियम-तुल्य वाक्यों का एक दूसरे से व्यतिरेक नहीं किया जा सकता।

इस 'विरोधाभास' को समझने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये हैं। पहला प्रयत्न गुड्मेन का अपना है। उनके अनुसार यदि हम H·1 और H·2 में परस्पर व्यतिरेक कर सकें तो 'व. विरोधाभास' को दूर किया जा सकता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का व्यतिरेक न तो इन उपकल्पनाओं के तार्किक प्ररूप के आधार पर किया जा सकता है और न ही इनकी पुष्टि के लिए प्रस्तुत अनुकूल साक्ष्य के आधार पर, क्योंकि H·1 और H·2 का तार्किक प्ररूप एक ही है और पुष्टिकारक साक्ष्य भी एक ही है। इसके अतिरिक्त, क्योंकि 'अ.' और 'हरा' ये दोनों शब्द अन्तर्परिभाषीय हैं, अतः H·1 और H·2 को शब्दार्थिकी के आधार पर भी एक-दूसरे से विभिन्न नहीं बताया जा सकता। एक ही उपाय रहता है, वह यह है कि यदि इन दो उपकल्पनाओं में कोई भिन्नता है तो वह इनकी किसी अप्ररूपिक, अशब्दार्थिक विशेषता पर ही आधारित होनी चाहिए। गुड्मैन के अनुसार उस विशेषता का संबंध 'व.' तथा 'हरे' इन दो विधेयों के भाषात्मक प्रयोग से है। वह विशेषता है 'प्रक्षेपी-यता'। हम उन विधेयों को प्रेक्षेपीय कहते हैं जो अपने विधेयकों के सापेक्ष आगमिक होते हैं। अर्थात् जिन व्याप्ति-वाक्यों में वे पाये जाते हैं उनकी पुष्टि अनुकूल साक्ष्य के आधार पर ही होती है और वे वाक्य नियम-तुल्य भी होते हैं। इस अर्थ में 'व' प्रक्षेपीय विधेय नहीं है—'व.' की नियमितता के आधार पर भावी उदाहरणों की प्रागुक्ति (यानि 'प्रक्षेपण') करना सम्भव नहीं है। इस बात को एक उदाहरण से इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि अब तक आपने जो पन्ने देखे वे सब हरे रंग के हैं—अतः 'व.' भी है। अब इस प्रेक्ष्य व्याप्ति के आधार पर आप यह नहीं कह सकते कि भविष्यत् में उपलब्ध होने वाले पन्ने भी 'अ' रंग के होंगे। अर्थात् निर्दिष्ट व्याप्ति के आधार पर इस प्रागुक्ति की पुष्टि करना असम्भव है कि भविष्यत् में उपलब्ध होने वाले पन्ने भी 'व.' रंग के होंगे। इसके विपरीत, 'हरे'-इस विधेय के प्रकरण में निर्दिष्ट व्याप्ति के आधार पर इस प्रकार की प्रागुक्ति की पुष्टि पूर्ण रूप से सम्भव है कि भविष्य में उपलब्ध होने वाले सभी पन्ने हरे रंग के होंगे।

H·1 और H·2 इन दो उपकल्पनाओं में व्यतिरेक करने के लिए गुड्मैन का यह सुझाव काफ़ी आकर्षक है। परन्तु, इसे हम तभी स्वीकार कर सकते हैं जब प्रक्षेपीय और अप्रक्षेपीय विधेयों में व्यतिरेक करने का कोई संतोषजनक तरीका हो। गुड्मैन के कथनानुसार, कोई विधेय कितना 'परिखास्थापित' है ? इस प्रश्न के आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर इन दो प्रकार के विधेयों में व्यतिरेक किया जा सकता है। परन्तु, प्रश्न यह उठता है कि विधेयों की परिखास्थापनता से क्या समझा जाए ? गुड्मैन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है : किसी दो विधेयों को लीजिए और उनके प्रक्षेपण के इतिहास का परीक्षण कीजिए । उनमें से जिसकी प्रक्षेप-आवृत्ति अधिक होगी वह दूसरे की तुलना में अधिक परिखास्थापित कहा जायगा।

याद रहे कि किसी विधेय के भाषात्मक प्रयोग से सुपरिचितता को हम उस विधेय की परिखास्थापनता नहीं मानेंगे। अर्थात् हम यह नहीं कहेंगे कि क्योंकि हम 'हरे' से अधिक सुपरिचित हैं अतः यह विधेय परिखास्थापित है ? और 'व.' नहीं। परिखास्थापनता किसी विधेय की प्रयोगावृत्ति का फलन नहीं, अपितु उसकी प्रक्षेपावृत्ति का फलन है। विज्ञान में पाये जाने वाले कितने ही नये, अपरिचित से विधेय, साधारण जीवन में उपलब्ध कितने ही रूढ़ सुपरिचित से विधेयों से कहीं अधिक परिखास्थापित हैं।

गुड्मैन का उपर्युक्त मत लैम्बर्ट ब्रिट्टन को स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि परिखा-स्थापना की धारणा पर्याप्त स्पष्ट नहीं है। इतना कहना पर्याप्त नहीं कि 'हरा', 'व.' से अधिक प्रक्षेपीय विधेय है क्योंकि वह अधिक परिखास्थापित है। गुड्मैन को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि 'हरा', 'ग्र.' से अधिक परिखास्थापित क्यों है ? ऐसा भी तो कहा जा सकता है कि यह मात्र संयोग की बात है कि 'हरा' अथवा 'नीला', 'व' अथवा 'बलीन' से अधिक प्रक्षेपित है।

विज्ञान के इतिहास में प्रायः देखा गया है कि अधिक परिखास्थापित शब्दावली को त्यागकर वैज्ञानिकों ने कम परिखास्थापित शब्दावली को अपनाया है। उदाहरणतः किसी वस्तु का क्या भार है ! इस प्रकार की १७वीं शताब्दी की अधिक परिखास्थ-पित शब्दावली को छोड़कर वैज्ञानिकों ने 'किसी वस्तु की क्या सहृति है ?' इस प्रकार की कम परिखास्थापित शब्दावली को अपनाया है। गुड्मैन का मत वैज्ञानिक शब्दावली में समय-समय पर इस प्रकार के परिवर्तन तथा प्रगति को स्पष्ट नहीं करता।

गुड्मैन के 'व. विरोधाभास' का दूसरा समाधान उनके अपने समाधान पर सुधार पेश करता है। यह इस बात पर आधारित है : H·1 तथा H·2 की नियम-तुल्यता का संबंध इस प्रश्न से भी है कि हम किन वस्तुओं को 'पन्ना' कहते हैं। विधेयों की प्रक्षेपणीयता का प्रश्न भी, काफी हद तक, विधेयकों के स्वरूप के प्रश्न पर आधारित है। बड़े ही सामान्य स्तर पर कहा जा सकता है कि उदाहरणतः 'पन्ने' वे भौतिक वस्तुएं हैं जिनमें कारण-कार्य श्रृंखला के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु, परिवर्तन तथा कारण-कार्य की धारणा 'व.' के प्रकरण में लागू नहीं होती। अतः 'पन्ना' जो एक भौतिक पदार्थ है उसके संबंध में 'व.' विधेय प्रक्षेपणीय नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमने दावा किया है कि किसी विधेय की प्रक्षेपणीयता का प्रश्न काफ़ी हद तक इस प्रश्न पर आधारित है कि उस विधेय का विधेयक किस प्रकार का है। विशेषत:, हम कहना चाहते हैं कि किसी सिद्धांत में वर्णित वस्तुओं को उस सिद्धांत के नियमों के अनुसार ही लक्षित किया जाता है और इस प्रकार उन वस्तुओं के सापेक्ष ही उनके आगमिक विधेयों का क्षेत्र निर्धारित होता है। 'सभी पन्ने 'व.' रंग के होते हैं'—इस व्याप्तिवाक्य की नियमतुल्यता को अस्वीकार करने के लिए इतना ही स्पष्ट कर देना पर्याप्त है कि 'पन्ने' भौतिक पदार्थ हैं तथा भौतिक पदार्थों के प्रकरण में 'व.' सदृश विधेय लागू नहीं होते। दूसरे शब्दों में इसी बात को यों भी कहा जा सकता है—यदि आप पन्नों से सम्बद्ध प्रक्षेपणीय विधेयों को नहीं जानते तब आप यह भी नहीं जानते कि पन्ने क्या होते हैं। सच तो यह है कि सिद्धांत के आधार पर ही प्रक्षेपणीय विधेयों का क्षेत्र निर्धारित होता है, अत: सिद्धांत के आधार पर ही नियमतुल्य व्याप्ति-वाक्यों का क्षेत्र भी निर्धारित किया जाता है।

लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन के मतानुसार पुष्टिकरण संबंधी समस्या का समाधान संक्षेप में इस प्रकार है। विधेयों की प्रेक्षेपणीयता अन्ततोगत्वा सैद्धांतिक प्रसंग-विशेष के सापेक्ष है। जो विधेय किसी एक सैद्धांतिक प्रसंग में प्रक्षेपणीय कहे जाते हैं उन्हें किसी दूसरे सैद्धांतिक प्रसंग में अनिवार्य रूप से प्रक्षेपणीय नहीं माना जायगा। इसी प्रकार, 'अनुकूल साक्ष्य' की धारणा भी सैद्धांतिक प्रसंग-विशेष के सापेक्ष है। सिद्धान्त निरपेक्षत: किसी भी वस्तु के अनुकूल अथवा प्रतिकूल साक्ष्य नहीं माना जायगा। जब यह बात हमारे ध्यान से बिलकुल निकल जाती है तभी विरोधाभास नजर आने लगते हैं। भ्रान्तिवश यदि यह माना जाय कि 'प्रक्षेपणीयता' अथवा 'साक्ष्य' का सिद्धान्त-निरपेक्ष वर्णन किया जा सकता है तब उस स्थिति में, पुष्टिकरण संबंधी विरोधाभासों का समाधान सम्भव नहीं। 'क्या साक्ष्य किसी सिद्धान्त विशेष की पुष्टि करता है ?' अथवा 'पन्नों के विषय में कौन से व्याप्ति वाक्य नियमतुल्य हैं ?' इस प्रकार के प्रश्न न्यायसंगत हैं; किन्तु 'किसी सिद्धान्त विशेष के लिए' अनुकूल साक्ष्य 'किसे कहते हैं ?' अथवा 'किस प्रकार के विधेयों को प्रेक्षेपणीय माना जाय ?'—इस कोटि के प्रश्न न्यायसंगत नहीं हैं।

(४) क्या प्राकृतिक नियमों को सत्य अथवा असत्य कहा जा सकता है ?—प्राय: हम साक्ष्य अथवा तथ्यों को किसी सिद्धान्त विशेष की पुष्टि का आधार मानते हैं। किन्तु, हमने ऊपर कहा है कि साक्ष्य अथवा तथ्यों की धारणा सिद्धान्त-सापेक्ष है; सिद्धान्त-निरपेक्ष साक्ष्य अथवा तथ्य कोई चीज नहीं होती। अब यदि हमारे मत को मान लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि किसी सिद्धांत विशेष की पुष्टि यदि साक्ष्य अथवा तथ्यों के आधार पर नहीं होती तो और किस आधार पर होती है ? दूसरे शब्दों में, सिद्धांत तथा साक्ष्य में परस्पर क्या संबंध है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लैम्बर्ट तथा ब्रिट्न इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं—किसी भी सिद्धांत विशेष के सर्वोच्च नियमों को वर्णनात्मक वाक्य कहने और उस आधार पर सत्य या असत्य कहने के बजाय उन्हें विनियामक वाक्य माना जा सकता है। अतः उन्हें सत्य अथवा असत्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के नियम उस सिद्धांत विशेष में उपलब्ध नीचे दरजे के व्याप्ति वाक्यों का स्वरूप, उनके पुष्टिकरण के लिए साक्ष्य, एवं गवेषणा-विधियों की प्रस्थापना के प्रतिमान निर्धारित करते हैं। इन्हीं नियमों से सैद्धांतिक प्रसंग बनता है।

विभिन्न सिद्धांत (अथवा सैद्धांतिक प्रसंग) हमारे प्रकृति को देखने के अलग-अलग तरीके हैं। इन तरीकों को कम अथवा ज्यादा अच्छा कहा जा सकता है किन्तु सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता।

किन्हीं दो सिद्धांतों की पारस्परिक तुलना भी की जा सकती है। किंतु इस प्रकार की तुलना का आधार किसी सिद्धांत की सत्यता-असत्यता नहीं, अपितु इसका समूचा औचित्य होगा। औचित्य का निर्णय उस सिद्धांत की आभ्यान्तरिक विशेषताओं के आधार पर किया जाता है—उदाहरणतः आन्तरिक संबद्धता, सैद्धान्तिक उत्तमता, सरलता एवं सुबोधता, तार्किक फलन की विपुलता, इत्यादि के आधार पर।

स्मरण रहे कि किसी भी मानक सिद्धान्त को समूचे रूप से स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने के लिए कोई निश्चित मानदण्ड नहीं है और न ही इस प्रकार की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिए प्रत्येक प्रकरण में एक ही तरह के आधार दिए जाते हैं। तथापि किसी भी सिद्धांत विशेष के अन्तर्गत व्याप्तिवाक्यों की पुष्टि अथवा अपुष्टि करने के लिए, उस सिद्धांत के सापेक्ष निर्धारित सुनिश्चित मानदण्ड जरूर उपलब्ध हैं। विशेषतः अनुकूल साक्ष्य के आधार पर ही किसी सिद्धान्त विशेष के अन्तर्गत पाये जाने वाले व्याप्ति वाक्यों की पुष्टि तथा स्वीकृति होती है।

५

पांचवा अध्याय—वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं : इस अध्याय में चार संदर्भ हैं—(१) परिचय, (२) नियतिवाद और व्याख्या, (३) अवघटन और व्याख्या, तथा (४) वर्णन और व्याख्या। हम इन चारों संदर्भों का अलग-अलग से विवरण देंगे और अपने विचार प्रकट करेंगे।

परिचय—हमने ऊपर बताया है कि वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं निर्धारित करने के प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि 'वैज्ञानिक व्याख्या'—इस प्रत्यय का क्या विश्लेषण दिया गया है। जैसा विश्लेषण होगा, अर्थात् वैज्ञानिक व्याख्या का जो भी स्वरूप निर्धारित किया जाता है, उसी के आधार पर व्याख्या की परिसीमाएं भी निर्धारित की जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं क्या हैं ? इस प्रश्न के विज्ञान दर्शन में कम-से-कम तीन उत्तर दिए गए हैं । किन्तु, इन सब को समझने से पहले इस प्रश्न को स्पष्टत: समझ लेना आवश्यक है । एतदर्थ हम दो-एक बातें कहना चाहते हैं :—

पहला, यदि हम ह्यूमियन विश्लेषण को मान कर चलें तो स्पष्ट है कि किसी भी वैज्ञानिक व्याख्या में सामान्य नियमों का होना अनिवार्य है । अत: घटनाओं की, उनके किसी एक वर्णन विशेष के सापेक्ष ही उनकी व्याख्या अथवा प्रागुक्ति हो सकती है । यदि किसी घटना विशेष को आप अपनी इच्छानुसार किसी भी प्रकार से वर्णित करना चाहें और फिर यह भी चाहें कि नियमों के आधार पर उसकी व्याख्या अथवा प्रागुक्ति हो सके, यह सम्भव नहीं । बात यह है कि किसी भी दो विभिन्न घटनाओं को एक ही ढंग से वर्णित नहीं किया जा सकता । उन्हें दो कहना ही इस बात का प्रतीक है कि वे एक ही प्रकार की घटनाएं नहीं हैं । इसके अतिरिक्त, किसी भी नियम-वाक्य के अन्तर्गत कम-से-कम दो विभिन्न घटनाओं का आच्छादित होना भी ज़रूरी है । अत: किसी भी घटना की यदि हम नियमाधारित व्याख्या देना चाहते हैं तो उस घटना को किसी विशेष प्रकार से लक्षित करना होता है । हम यह नहीं कह सकते कि उस घटना को किसी भी प्रकार से लक्षित करें और फिर यह चाहें कि उसकी नियमाधारित व्याख्या सम्भव हो.। दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिक व्याख्या तथा प्रागुक्ति, ह्यूमियन विश्लेषणानुसार हमेशा घटनाओं के कुछेक (पूर्वनिर्दिष्ठ) अंगों के सापेक्ष होती है । इस दृष्टि से वैज्ञानिक व्याख्याए सदैव परिसीमित हैं ।

दूसरा, यदि हम ह्यूमियन विश्लेषण को अस्वीकार करदें और यह कहें कि किसी घटनादि की व्याख्या करना उस घटना का ब्योरेवार वर्णन करना है तो उस स्थिति में वैज्ञानिक व्याख्याओं को हम दूसरे ही अर्थ में परिसीमित कहेंगे । अर्थात् यह कहेंगे कि वैज्ञानिक व्याख्या के आधार पर घटनाओं के बारे में प्रागुक्ति करना असम्भव है; अत: व्याख्याएं परिसीमित हैं ।

वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाओं के प्रश्न पर विचार करते हुए हम दो अतिवादों से दूर रहेंगे । एक हम यह नहीं कहेंगे कि विज्ञान में व्याख्या होती ही नहीं । हमारा संबंध केवल इस प्रश्न से है कि क्या कोई इस प्रकार की घटनाएं भी हैं जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या करना सम्भव नहीं ?

दूसरा, हम यह भी नहीं करेंगे कि वैज्ञानिक व्याख्या की कोई परिसीमाएं हैं ही नहीं । अर्थात् हम यह नहीं कहेंगे कि सृष्टि में होने वाली किसी भी घटना की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है । हमारा संबंध केवल इस प्रश्न से है कि क्या कोई ऐसी (प्रेक्ष्य) घटनाएं हैं जिनकी व्याख्या करने का आशय रखते हुए वैज्ञानिक सिद्धांतत: उनकी व्याख्या नहीं कर कर सकता ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम उन तीन प्रकार की युक्तियों की समीक्षा करेंगे जिनके आधार पर वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं बांधी जाती हैं।

(१) **नियतिवाद तथा व्याख्या** : प्रथम युक्ति इस प्रकार है—मानवीय कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती; क्योंकि यदि ऐसा करना सम्भव होता तो उससे यह निकलता है कि मानवीय कर्म नियत हैं, अर्थात् स्वतंत्र नहीं हैं, और यदि वे नियत हैं तो उससे यह निकलेगा कि वे ऐच्छिक नहीं हैं। परन्तु, मानवीय कर्म ऐच्छिक होते हैं। अतः उनकी वैज्ञानिक व्याख्या करना सम्भव नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि मानवीय कर्म वैज्ञानिक व्याख्या की परिधि में नहीं आते।

उपर्युक्त तर्क काफी आकर्षक है। क्योंकि यदि इसके आधार-वाक्यों को सत्य मान लिया जाय तो निष्कर्ष वाक्य की सत्यता माननी ही पड़ती है। परन्तु इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके तीनों आधार-वाक्यों की सत्यता संदिग्ध है।

सर्वप्रथम, तीसरे आधार वाक्य ही को लीजिए। इसके अनुसार, यदि सारे नहीं तो कम से कम असंख्य मानवीय कर्म ऐच्छिक होते हैं। इस कथन की सत्यता-असत्यता का निर्णय तथ्यों के आधार पर ही हो सकता है। परन्तु इस दिशा में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर जो भी साक्ष्य हमें मिलता है वह इसे सत्य बताने के बजाय असत्य सिद्ध करता है।

अब, पहले आधार-वाक्य पर विचार कीजिए। इसके अनुसार, व्याख्या अथवा नियतिवाद में घनिष्ट संबंध है। परन्तु, इन दोनों में क्या संबंध है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया गया है। और फिर यह तो अनिवार्य है नहीं कि प्रत्येक प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या के आधारभूत नियम नियतिपरक हों। वे सांख्यिकीय नियम भी तो हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त सभी वैज्ञानिक व्याख्याएं एक ही किस्म की नहीं है—साध्यपरक व्याख्याएं भी तो उपलब्ध हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नियतिवाद और वैज्ञानिक व्याख्या में वह संबंध नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि मानवीय कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्या करना ही नियतिवाद को स्वीकार करना है।

और जो लोग यह कहते हैं कि हाइज़नबर्ग के 'अनिश्चितता नियम' के आधार पर सिद्ध हो जाता है कि मानवीय कर्म ऐच्छिक हैं, उन्हें इतना बता देना ही पर्याप्त है कि इस नियम के होने के बावजूद क्वांटम सिद्धांत में प्रागुक्ति सम्भव है। इस बात से यह पता चलता है कि प्रागुक्ति की सम्भावना तथा ऐच्छिक कर्म की धारणा इन दोनों में परस्पर असंगति नहीं है।

अब, दूसरे आधार-वाक्य को लीजिए। इसके अनुसार, मानवीय कर्मों के नियत होने तथा अनैच्छिक होने में परस्पर संबंध है। क्या संबंध है ? इस प्रश्न को स्पष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया गया है। इसके अलावा, यह भी तो कहा जा सकता है कि नियतिवाद और मानवीय कर्मों की स्वतंत्रता की धारणा—इन दोनों में कोई भी असंगति नहीं है। इस दिशा में एरिस्टोटल तथा कान्ट के दो प्रयत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उदाहरणतः, एरिस्टोटल के मतानुसार, मानवीय कर्मों को तभी ऐच्छिक कहा जायगा जब उनके करने का कारण बाहर न होकर मनुष्य के भीतर ही होगा। इस प्रकार, आभ्यन्तर कारणों में इच्छा, अभिप्रेरणा इत्यादि शामिल होंगे। इन कर्मों की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है, यह भी एरिस्टोटल को मान्य है, चाहे वह व्याख्या उस प्रकार की होगी जिसे हमने साध्यपरक व्याख्या कहा है।

कान्ट के मतानुसार, मानवीय कर्मों को घटनाएं माना गया है अतः उनकी वैज्ञानिक व्याख्या करना पूर्ण रूप से सम्भव है। तथापि, साध्यपरक व्याख्याओं को कारण-कार्य प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्याओं में अवघटित नहीं किया जा सकता। साध्यपरक व्याख्याओं का अलग से स्वतंत्र अस्तित्व है। उनकी आवश्यकता हमें उन मानवीय कर्मों की व्याख्या करने के सिलसिले में पड़ती है जिन कर्मों का संबंध नीतिशास्त्र के नियमों से होता है। कुछ भी हो, कान्ट के मतानुसार, नियतिवाद से न तो कर्मों का ऐच्छिक होना निकलता है और न ही उनका अनैच्छिक होना। इसक विपरीत, वे नियतिवाद और कर्मों के ऐच्छिक होने की धारणा को पूर्णरूप से परस्पर संगत मानते हैं।

यह सत्य है कि एरिस्टोटल और कान्ट के मतों को हम पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं करते। हमारा तात्पर्य केवल उनका निर्देश मात्र ही करना था, और यह बताना कि उपर्युक्त तर्क के दूसर आधार वाक्य को भी नितान्त सत्य नहीं माना जा सकता।

(२) **अन्तर्भाव तथा व्याख्या :** विज्ञान (अथवा वैज्ञानिक व्याख्या) की परिसीमाओं के प्रश्न संबंधी द्वितीय युक्ति इस प्रकार है। कुछेक गोचर विषय (अथवा घटनाएं) ऐसी हैं जो कुछेक दूसरे गोचर विषयों (अथवा घटनाओं) के सापेक्ष उत्क्रमित (एमर्जेन्ट) होती है। ऐसी उत्क्रान्त घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या करना असम्भव है। क्योंकि यदि इनकी व्याख्या करना सम्भव माना जाय, तो उससे यह निकलेगा कि उत्क्रान्त घटनाओं का अन्तर्भाव दूसरी घटनाओं में हो सकता है। विशेषतः जीवविज्ञान का भौतिक विज्ञान में अन्तर्भाव किया जा सकता है। किन्तु, उत्क्रान्त घटनाओं का अन्तर्भाव असम्भव है। अतः कम से कम उत्क्रान्त घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकती। वे इस प्रकार की व्याख्या की परिधि से बाहर हैं।

इस युक्ति का तर्क काफ़ी उलझा हुआ है। विशेषतः यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि किसी घटना के किसी अन्य घटना के सापेक्ष उत्क्रमित होने से क्या समझा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय ? अपनी सुविधा के लिए हम उत्क्रान्ति निम्नलिखित रूप से परिभाषित करेंगे। किसी घटना के सापेक्ष उत्क्रमित घटनाएं उन्हें कहा जायगा जो घटनाएं उस घटना में अन्तर्भूत नहीं की जा सकें।

'अन्तर्भाव' शब्द के भी कम से कम दो अर्थ हैं : (१) किसी एक प्रकार की घटना का किसी दूसरे प्रकार की घटना में अन्तर्भाव करने का अर्थ है पहले प्रकार की घटना का वर्णन करने वाले नियम-वाक्यों को दूसरे प्रकार की घटना का वर्णन करने वाले नियम–वाक्यों से तर्कत: निगमनित करना। उदाहरणतः ऊष्मा का यान्त्रिकता में अन्तर्भाव, जहां तक ऊष्मागतिकीय नियमों (जिनके द्वारा ऊष्मा का वर्णन किया जाता है) को सांख्यिकी-यांत्रिकीय नियमों से (जिनके द्वारा यांत्रिक स्थिति का वर्णन किया जाता है) निगमनित किया जा सकता है। (२) किसी एक प्रकार की घटना का किसी दूसरे प्रकार की घटना में अन्तर्भाव करने का अर्थ है पहले प्रकार की घटना को दूसरे प्रकार की घटना में विश्लेषण करना। उदाहरणतः जीवविज्ञान का भौतिकी विज्ञान में अन्तर्भाव। इस प्रकार का अन्तर्भाव इस आधार पर किया जाता है कि कोशों को अणुओं में विघटित किया जा सकता है।

इस मत से सम्बद्ध एक दूसरी धारणा भी है। वह है—विभिन्न श्रेणी स्तर की धारणा। इस धारणा के अनुसार सृष्टि में विभिन्न श्रेणी–स्तर हैं। प्रत्येक स्तर में अनोखापन है। अत: एक स्तर की वस्तुओं का दूसरे स्तर की वस्तुओं में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त स्पष्टीकरणों के प्रकाश में अब कहा जा सकता है कि किसी दो विभिन्न श्रेणी-स्तरों में संबंध का नाम 'अन्तर्भाव' है। 'अन्तर्भाव' शब्द के पहले अर्थानुसार, अन्तर्भाव एक तार्किक संबंध है, और इस शब्द के दूसरे अर्थानुसार यह अंश-अंशी के पारस्परिक सम्बन्ध के समान है। इसी प्रकार, 'उत्क्रमण' भी किसी दो विभिन्न स्तरों में संबंध है। (क) किसी एक स्तर के विषय को किसी दूसरे स्तर के विषय के सापेक्ष 'उत्क्रमित' कहेंगे यदि पहले वस्तुस्थिति का वर्णन करने वाले वाक्य दूसरे विषय का वर्णन करने वाले वाक्यों से निगमनित नहीं किये जा सकते। अथवा (ख) यदि एक स्तर का विषय किसी दूसरे स्तर के विषय में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता तो उस स्थिति में हम पहले स्तर के विषय के सापेक्ष 'उत्क्रान्त' कहेंगे।

वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाओं के प्रश्न के संबंध में उत्क्रान्तिवादियों का दावा है कि उत्क्रान्त घटनाओं (अथवा विषयों) की वैज्ञानिक व्याख्या करना असम्भव है। इस प्रकार की घटनाएं वैज्ञानिक व्याख्या की परिधि के बाहिर हैं। ये लोग जब 'असम्भव' शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका आशय नैमित्तिक असम्भवता से नहीं, अपितु सैद्धांतिक असम्भवता से होता है। इस प्रकार, स्पेन्सर, एलेग्ज़ेण्डर, मार्गन, तथा ब्रॉड का दावा है कि उत्क्रान्त घटनाओं का अन्तर्भाव सिद्धान्ततः असम्भव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सी० डी० ब्रॉड के मतानुसार किसी भी वस्तु के स्थूल विशेष गुणों का उन वस्तुओं के अंशों के विशेष गुणों में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, और ना ही दूसरे प्रकार के विशेष गुणों के आधार पर पहले प्रकार के विशेष गुणों की वैज्ञानिक व्याख्या ही की जा सकती है। कारण यह है कि यदि ऐसा करना सम्भव हो तो उससे यह निकलेगा कि यदि हमारे पास किसी वस्तु के अंश उपलब्ध हों और साथ ही उन अंशों के विशेष गुणों का हमें ज्ञान हो तो उस स्थिति में उस वस्तु के स्थूल विशेष गुणों के विषय में प्रागुक्ति की जा सकती है। परन्तु यह असम्भव है, क्योंकि यदि हमें 'नीलत्व' के उदाहरणों का अनुभव न होता अर्थात् यदि हमने नीले रंग की वस्तुएं नहीं देखी होतीं, तो उस स्थिति में हम 'नीलत्व' की अवधारणा ही नहीं कर सकते थे। अतः ब्रॉड के मतानुसार किसी वस्तु के सूक्ष्म विशेष गुणों तथा उनके ढांचे संबंधी प्रेक्ष्य साक्ष्य के आधार पर हम यह कदापि नहीं बता सकते कि उस वस्तु का रंग क्या होगा ? अथवा, वह वस्तु नीली होगी कि नहीं ?

लैम्बर्ट और ब्रिट्टन ने ब्रॉड की ऊपरिलिखित धारणा का खण्डन किया है। उनके मतानुसार, ब्रॉड के तर्क में 'अन्तर्भाव' के उपर्युक्त दो विभिन्न अर्थों को एक-दूसरे से उलझा दिया गया है। यदि इन दो अर्थों को एक-दूसरे से अलग-अलग रखा जाये तो उस स्थिति में स्पष्ट हो जायेगा कि ब्रॉड की धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि तब हम आण्विक-यांत्रिकीय सिद्धान्तों को, 'अन्तर्भाव' शब्द के दूसरे यानि विघटन के अर्थ में अन्तर्भावात्मक और व्याख्याकारी दोनों कह सकते हैं।

उत्क्रान्तिवादी एक दूसरा तर्क देते हैं। इस तर्क का संबंध 'अन्तर्भाव' शब्द के दूसरे अर्थ, यानि विघटन से है। तर्क इस प्रकार है : जिन्हें हम आनुषंगिक गुण कहते हैं, अर्थात् रंग, ध्वनि, रस, गन्ध, उष्ण तथा शीत, उनका प्राथमिक गुणों, अर्थात् रूप, आकार तथा गति में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा करना आनुषंगिक और प्राथमिक गुणों में तादात्म्य दिखाना है। परन्तु यह असंभव है। उदाहरणतः आनुषंगिक गुण अदेशीय होते हैं जबकि प्राथमिक गुण देशीय होते हैं। इन दो विभिन्न, परस्पर असंगत, प्रकार के गुणों का एक-दूसरे से तादात्म्य नहीं किया जा सकता।

लैम्बर्ट और ब्रिट्टन के मतानुसार उपर्युक्त तर्क एक भ्रांति पर आधारित है। विशेषतः इस तर्क में अन्तर्भाव तथा तादात्म्य—इन दो विभिन्न प्रत्ययों में विवेक नहीं किया गया है। अन्तर्भाव का अर्थ तादात्म्य नहीं है। इन दो प्रत्ययों में विवेक न करना ही उत्क्रान्तिवादियों के तर्क की भ्रांति है। जब हम किसी एक विशेष गुण का किसी दूसरे विशेष गुणों में अन्तर्भाव करते हैं, अर्थात् विघटित करते हैं, तो उस स्थिति में पहले प्रकार के विशेष गुणों का दूसरे प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विशष गुणों से तादात्म्य स्थापित नहीं होगा। अपितु एक का स्थान दूसरे गुण ले लेंगे। दूसरे शब्दों में, अन्तर्भाव अथवा विघटन के फलस्वरूप स्थानापन्न होता है, तादात्म्य नहीं।

(३) **वर्णन तथा व्याख्या**—वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाओं के प्रश्न पर तृतीय तर्क इस प्रकार है। वैज्ञानिक व्याख्या सदा ही किसी विशेष वस्तु के कुछेक विशेष गुणों के सापेक्ष ही होती है। ऐसी व्याख्या करते हुए कुछेक दूसरे विशेष गुणों को ध्यान में नहीं लिया जाता। परन्तु किसी वस्तु के स्वरूप को पूर्ण रूप से समझने के लिए इन दूसरे विशेष गुणों का तिरस्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे उस वस्तु के अभिन्न, अनिवार्य अंग हैं। अतः वैज्ञानिक व्याख्या, जिसमें किसी वस्तु को सर्वांगीणतया नहीं लिया जाता, परिसीमित ही मानी जायगी। कहने का तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक व्याख्याएं अनिर्वायत: अपूर्ण होती हैं। उनसे कुछ-न-कुछ तो अवश्य ही छूट जाता है। उदाहरणत: वैज्ञानिक व्याख्याओं में केवल मात्रात्मक गुणों पर ही ध्यान दिया जाता है, अमात्रात्मक गुणों को छोड़ दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, इस तर्क के अनुसार अमात्रात्मक गुणों की व्याख्या सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त तर्क के विरोध में दो ही बातें कहना पर्याप्त है। पहली बात यह है कि वैज्ञानिक व्याख्या के हमारे विश्लेषण से वह अनुमान नहीं निकलता जो इस तर्क के अनुयायी उससे निकालना चाहते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि व्याख्याकारी नियमों के माध्यम से हम किसी भी वस्तु का नि.शेष वर्णन नहीं कर सकते। उनका संबंध व्याख्याधीन वस्तु के कुछेक निर्दिष्ट अंगों अथवा विशेष गुणों से होता है। फलत: यह स्वाभाविक ही है कि उस वस्तु के कुछेक दूसरे अंग अथवा विशेष गुण छूट जाते हैं। किन्तु व्याख्याओं संबंधी यह स्थिति उसका दोष नहीं, अपितु गुण ही मानना चाहिए।

दूसरी बात यह है, जैसाकि हाइज़नवर्ग ने स्पष्ट किया है, यदि किसी सिद्धान्त के द्वारा किसी प्रकार की वस्तुओं के विशेष गुणों की सच्ची व्याख्या सम्भव है तो उस स्थिति में यह कदापि सम्भव नहीं कि उस सिद्धान्त की शब्दावली वही हो जो उस वस्तु के विशेष गुणों की है। उदाहरणतः यह कहना कि कोई वस्तु उसी रंग की है जो रंग उस वस्तु के अशों का है, उस वस्तु की वैज्ञानिक व्याख्या करना नहीं बल्कि उसे टाल देना है। विज्ञान के इतिहास से भी यह बात स्पष्ट होती है कि किसी वस्तु के व्याख्याकारी विशेष गुणों को उसके व्याख्याधीन विशेष गुणों से अलग ही होना चाहिए।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है—और यही लैम्बर्ट तथा ब्रिट्टन का अपना मत है—कि उपरिनिर्दिष्ट तीन तर्कों के आधार पर वैज्ञानिक व्याख्या की परिसीमाएं निर्धारित नहीं की जा सकतीं। वास्तविकता तो यह है कि वैज्ञानिक व्याख्या का क्षेत्र निस्सन्देह अपरिसीमित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्देशांकित ग्रन्थों तथा प्रबन्धों की सूची :—

1. Armstrong, D.M., **A Materialist Theory of the Mind**, Routledge and Kegan Paul Ltd., London; 1968.

2. Frege, Gottlob, **The Foundations of Arithmatic**, translated by J.L. Austin, Harper & Bow, Publishers, New York; 1953.

3. Goodman, Nelson, **Fact, Fiction, and Forecast**, The Bobbs-Merrill Company, Inc., Indianapolis, Indiana; 1965.

4. Hanson, N.R., **Patterns of Discovery**, Cambridge University Press, London, 1958.

5. Hempel, Carl G., and Oppenheim, Paul, "Studies in the logic of Explanation" **Philosophy of Science**, 15 (1948); pp. 135–75. Reprinted in **Readings in the Philosophy of Sciences** (ed. Baruch A. Brody), Prentice-Hall, Inc. Englewood Cliffs, N.J., 1970; pp. 8-27.

6. Hempel, Carl G., "A Purely Synatactical Definition of Confirmation ?" **Journal of Symbolic Logic**, VIII (1943); pp. 122–43; and "Studies in the logic of confirmation", **Mind**, LIV (1945); pp. 1–26 and pp. 97-121.

7. Quoted by Hermann Weyl, in his book **Philosophy of Mathematics and Natural Science** (Princeton University Press, Princeton, N. J. 1949).

8. Kemeny, J. G., **A Philosopher looks at Science**, Van Nostrand Reinhold Co., New York; 1959.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. Lambert, Karel, and Gordon G, Brittan, Jr., **An Introduction to the Philosophy of Science**, Prentice-Hall, Inc., Englewood Cliffs, N.J., 1970.

10. Lambert, Karel, **"Free Logic and the concept of existence", Notre Dame Journal of Formal Logic,** Vol. VIII (April, 1967); pp. 135-41.

बी० के० भारद्वाज
दिल्ली विश्वविद्यालय ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका-लेखों के सारांश

दार्शनिक विश्लेषण एवं भाषा विज्ञान*

दर्शन की समस्याओं तथा उसकी पद्धति के विषय में, इस शती के कुछ दार्शनिकों के विचारों में जो प्रतिक्रिया हुई है वह कुछ पक्षों में बड़ी विशिष्ट है। ये दार्शनिक समस्याओं के समाधान के विषय में इतने चिन्तित नहीं हुए जितने समस्याओं के स्वरूप के विषय में। शायद इसके मूल में दर्शन के इतिहास के प्रति असन्तोष था जिसका कारण कदाचित् यह था कि वहां किसी समस्या का कोई ऐसा समाधान उपलब्ध नहीं है जिसका प्रत्याख्यान न हुआ हो। "दार्शनिक समस्याएँ क्या हैं ?" यह प्रश्न, उनके अनुसार, वास्तव में उन भाषाई अभिव्यक्तियों से संबंधित है जिनमें इन समस्याओं को तथा सम्बन्धित समाधानों को व्यक्त किया गया है। फलतः दार्शनिक विश्लेषण का एक स्वरूप जो इस शती में विकसित हुआ उसे एक अवस्था में भाषाई विश्लेषण से पृथक् करना कठिन हो गया। इस सन्दर्भ में कुछ नवीन समस्याएँ उभरीं, यथा 'अर्थ' एवं 'सार्थक संभाषण' का स्वरूप; शब्दों, अभिव्यक्तियों के सही प्रयोग के मानक तथा इन मानकों के औचित्य का स्वरूप। सत्ता अथवा सतों के विषय में कुछ कहने के पूर्व इन समस्याओं से जूझना तथा इस सम्बन्ध में अपनी दृष्टि स्पष्ट करना उतना ही आवश्यक तथा प्रमुख हो गया जितना कभी ज्ञानमीमांसा के लिए समझा जाता था।

जैसाकि सर्वविदित है, इस सम्बन्ध में दर्शन की पारम्परिक समस्याओं के प्रति जो दृष्टि बनी वह निषेधात्मक थी। इस दृष्टि के अनुसार ये समस्याएँ वास्तविक समस्याएँ ही नहीं हैं, केवल समस्याभास हैं, उनमें समाधान खोजने-योग्य वास्तव में कोई प्रश्न निहित हैं ही नहीं। इस सन्दर्भ में जो दार्शनिक विश्लेषण हुआ उसका एक रूप भाषा के साधारण प्रयोग से सम्बन्धित था। इस विश्लेषण के सम्बन्ध में यह स्वी-

* प्रस्तुत लेख में इन्टर्नेशनल फ़िलॉसफ़िकल क्वाटर्ली (मार्च, १९७२) में प्रकाशित दो निबंधों पर समीक्षा की गई है जो क्रमशः 'हूसर्ल एण्ड द नियो-हुम्बोल्टियन्स ऑव लैंग्विज' तथा 'डैप्थ ग्रामर' ऐज़ ए मैथोडोलोजिकल कान्सेप्ट ऑव फ़िलॉसोफ़ी' हैं। इनके लेखक हैं क्रमशः पैरिट तथा ऑलीवर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार किया गया कि साधारण रूप में भाषा में जो संप्रत्ययात्मक संरचनाएँ सन्निहित होती हैं उनको समझना अनेक दार्शनिक उलझनों से बचना है। साथ ही साधारण प्रयोग से हटकर शब्दों के अति व्यापक अथवा असाधारण प्रयोग के लिए दार्शनिक को दोषी ठहराया गया। यहां प्रश्न यह उठता है कि साधारण प्रयोग का मानक क्या है ? इस मानक को निश्चित करने का अधिकार किसे है ? इनके उत्तर में एक पक्ष से यह मत प्रतिपादित हुआ कि अपनी भाषा को बोलने वाला अपने भाषा-प्रयोगों के सम्बन्ध में जो कहता है उसके प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, दूसरा पक्ष, जिसका पोषण अधिकतर भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा हुआ है, अपनी भाषा को बोलने वालों के इस दावे को स्वीकार नहीं करता। इस पक्ष की दृष्टि से अपनी भाषा बोलने वाले व्यक्ति के अपनी भाषा के सम्बन्ध में दिये गये मत अनालोच्य रूप में सही हों, यह आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त, प्रथम पक्ष के विचारकों में किन्हीं प्रयोगों के विषय में जो मत-वैभिन्य है इस से इस क्षेत्र में उनका अधिकार और क्षीण होता है। वस्तुतः प्रयोग वैज्ञानिक रूप में निश्चित किए जाने चाहिए और इसमें भाषाविज्ञान के विकसित तकनीकों के प्रयोग की अवेहलना नहीं की जा सकती। इस बहस में एक अवधारणा यह बनी कि यदि भाषाविज्ञान की पद्धति में अर्थमीमांसा (सिमैन्टिक्स) का पर्याप्त विकास हो जाय तो वह दार्शनिक विश्लेषण का ही रूप ग्रहण कर लेगा अथवा इस विश्लेषण के लिए उपयुक्त मानक निश्चित कर सकेगा। इसके विरुद्ध एक मत यह बना कि दार्शनिक विश्लेषण तथा भाषाविज्ञान की पद्धति में मौलिक अन्तर है और यह अन्तर सदैव बना रहेगा। दूसरे शब्दों में, एक मत में भाषाविज्ञान से दार्शनिक विश्लेषण में एक महत्वपूर्ण भूमिका अपेक्षित है, जबकि दूसरे मत में दर्शन के लिए भाषाविज्ञान का कोई विशेष महत्व नहीं है।[1]

प्रस्तुत निबंध में, जो बाद का आलोच्य निबंध है : "डैंग्थ ग्रामर ऐज़ ए मैथोडोलौजिकल कान्सेप्ट ऑव फिलॉसोफी"[2] इन्हीं प्रश्नों पर विचार हुआ है। इसी प्रसंग में स्वयं भाषाविज्ञान के स्वरूप, उसकी प्रकृति तथा कार्यों के विषय में भी विचार हुआ है। इस बाद के अन्वीक्षण को मैटा-लिंग्विस्टिक अथवा भाषाविज्ञान का दर्शन कह सकते हैं। प्रथम आलोच्य निबन्ध 'हूसर्ल एण्ड द नियो हुम्बोल्टियन्स् ऑन लैंग्विज'[3]—भाषा विज्ञान के इस दार्शनिक क्षेत्र से ही सम्बन्धित है।

---

१ इस संबंध में लियस द्वारा सम्पादित **फिलॉसोफी एण्ड लिंग्विस्टिक्स** (मैकमिलन १९७१) विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

२ **इन्टर्नेशनल फीलसॉफ़िकल क्वार्टर्ली** (मार्च १९७२)।

३ लेखक-हर्मन पैरिट, **इन्टर्नेश्नल फिलसॉफिकल क्वार्टर्ली** (मार्च १९७२)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस निबन्ध में हर्मन पैरिट ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि समकालीन भाषाविज्ञान में चोम्स्की द्वारा प्रतिपादित बुद्धिवादी प्रवृत्ति के पूर्वाभास हूसर्ल के विचारों में भी मिलते हैं और इस सन्दर्भ में लेखक ने 'अर्थ' तथा 'भाषा' के विषय में हूसर्ल के विचारों का निरूपण किया है।

अपने लेख 'करेन्ट इश्यूज़ इन लिंग्विस्टिक थियरी' में चोम्स्की ने भाषाविज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में पर्याप्तता के तीन स्तरों का उल्लेख किया है—(१) निरीक्षणात्मक पर्याप्तता, (२) वर्णनात्मक पर्याप्तता तथा (३) व्याख्यात्मक पर्याप्तता। प्रथम दो स्तरों पर तो आनुभाविक प्रणाली सहायक सिद्ध होती है। वैसे इन स्तरों पर भी ऐसे सैद्धान्तिक प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनका उत्तर आनुभाविक स्तर पर देना संभव नहीं है। परन्तु तीसरे स्तर पर एक ऐसा सामान्य आधार प्रस्तुत करने की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा पहले स्तरों पर प्राप्त प्रदत्तों तथा वर्णन को एक तन्त्र में ग्रहण करना संभव हो तथा उनके सम्बन्ध में कोई व्याख्यात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जा सके।

इसके अतिरिक्त, चोम्स्की ने वाक्यों की आन्तरिक संरचनाओं तथा ऊपरी संरचनाओं (डीप स्ट्रक्चर्स तथा सर्फेस स्ट्रक्चर्स) में जो सम्बन्ध स्पष्ट किया है तथा जो रूपान्तरणमूलक व्याकरण (ट्रान्स्फोर्मेशनल ग्रामर) का आधार है, वह भी बुद्धिवादी प्रवृत्ति का परिचायक है। स्वयं चोम्स्की ने इस दृष्टि के पूर्वाभासों के रूप में दकार्ते तथा हुम्बोल्ट के विचारों की ओर संकेत किया है।

इस प्रसंग में पैरिट ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अंशतः हूसर्ल के विचारों को भी उसी परम्परा में ग्रहण किया जा सकता है। पैरिट के अनुसार हूसर्ल के विचार उस समय अधिक प्रभावशाली हुए जब नव्य-हुम्बोल्टीय भाषा-विमर्श प्रचलित था। इस प्रकार पैरिट का निबंध दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है—प्रथम, वह भाषा-विज्ञान के दार्शनिक इतिहास में एक रोचक अध्याय की ओर संकेत करता है, जो उसकी बुद्धिवादी व्याख्या का पोषण करता है, तथा द्वितीय, वह 'अर्थ' तथा 'भाषा' के विषय में फिनॉमेनोलोजीय दृष्टि का निरूपण करता है।

पैरिट के अनुसार, **लोगीशे उन्टर्जुखुंगेन** (तार्किक अन्वीक्षण) के प्रथम तथा चतुर्थ खण्ड में हूसर्ल के जिस प्रत्ययवाद तथा तर्कवाद का स्वरूप उपलब्ध है वह आज के भाषाविज्ञान में बौद्धिक प्रवृत्ति का पूर्वाभास है। परन्तु जैसा पैरिट ने स्वयं स्वीकार किया है, यह स्थिति केवल अत्यन्त सामान्य रूप में ही मान्य है क्योंकि **ट्रान्स्फोर्मेशनल** सिद्धांत में **इंटेंश्नेलिटी** के लिए कोई स्थान नहीं है, साथ ही जिस रचनात्मक तत्त्व की व्याख्या के लिए **ट्रान्स्फोर्मेशनल** सिद्धान्त का निरूपण हुआ उसके लिए **उन्टर्जुखुंगेन** में कोई स्थान नहीं है। दूसरी ओर, नव्य-हुम्बोल्टीय कार्ल फॉस्लर तथा ऐमिल विंकलर जैसे भाषाविज्ञानी हूसर्ल से स्पष्टतः प्रभावित हुए हैं। अपनी पुस्तक **पॉजि-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिविज़्मुसउन्ट इडियालिज़्मुस इन डर श्राख़विसेन्शाफ्ट[४] (१९०४) में फ़ॉस्लर ने ग्रानुभाविक व्याकरण की सीमा को स्पष्ट किया है तथा भाषाई तथ्य के आध्यात्मिक मूल की ओर संकेत किया है। अपनी **श्प्राख़्थ्यो रेटिशे श्टूडीन**[५] में विंकलर ने हुम्बोल्टीय तथा हूसर्लीय विचारों का समन्वय प्रस्तुत करते हुए भाषा को एक स्वायत्त संरचना के रूप में देखा है जो अपनी सम्पूर्णता में "चेतना" (माइंड) का दर्पण है।

फिनॉमेनोलोजी शुद्ध तर्क का रूप ग्रहण करना चाहती है क्योंकि अर्थ प्रत्ययात्मकता के क्षेत्र में पड़ता है। प्रत्ययात्मकता की परिभाषा 'बहुत्व में अभिन्नता (आइडेन्टिटी)' यह दी जा सकती है। इस अभिन्नता के ग्रहण के लिए प्रत्ययीकरण पूर्वापेक्षित है। अपने निजी तात्विक रूप में अर्थ अभिव्यक्त अर्थ से भिन्न है परन्तु समस्त अभिव्यक्त अर्थ की संभावना के लिए वह एक आवश्यक शर्त है। अर्थ की संभावना ही अर्थ का तत्त्व है तथा निःशब्दता (सायलेंस) वाक् की संभावना की शर्त के रूप में अर्थपूर्ण वाक् का तत्व है (पृ. ५९)।

उन्टर्ज़ुखुंगेन के चतुर्थ खण्ड में हूसर्ल ने व्याकरण तथा तर्कशास्त्र को शुद्ध तर्कनिष्ठ व्याकरण के अन्तर्गत स्वीकार किया है। शुद्ध तर्कनिष्ठ व्याकरण सामान्य प्रागानुभाविक व्याकरण है जो अर्थ के नियम निर्धारित करता है। वस्तुतः व्याकरण सत्य अथवा वस्तुनिष्ठता नहीं अपितु अर्थवान् आकारों का शुद्ध सिद्धान्त है।

अर्थ का आकार उस सिन्टैक्टिक प्रक्रिया से भिन्न है जो भाषा को रूपायित करती है। आकारगत प्रागानुभाविकता आनुभाविक भाषाई सार्वजनीनता से भिन्न है। यद्यपि वाक्-ध्वनि के माध्यम से अर्थ मूर्त होता है किन्तु उससे वह अभिन्न नहीं है। यही नहीं, अर्थ के तत्व की दृष्टि से चिह्न(साइन) तथा निर्देश (रेफ़रेन्स) दोनों ही अनावश्यक हैं। प्रत्ययात्मक अन्तर्भाव–आयउटिक रिडक्शन—के रूप में चिह्न को छोड़कर हम विविक्त मानसिक जीवन की ओर तथा अभिव्यक्ति को छोड़ कर अर्थ अथवा शुद्ध तादात्म्य के क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं। परन्तु "विविक्त मानसिक जीवन" में अभिव्यक्ति अर्थ को बिम्बित करती है। यहाँ स्मरणीय है कि प्रत्ययात्मक अभिव्यक्ति भाषाई होते हुए भी निर्देशात्मक नहीं, बाह्यकृत होते हुए भी देहयुक्त नहीं। चिह्नों की दैहिकता को अलग कर लेने पर भाषा स्वयं चेतना के विविक्त क्षेत्र की अभिव्यंजनापूर्ण गत्यात्मकता है।

दूसरी ओर प्रत्यक्षीकरण की अवस्था में वक्ता तथा वस्तुस्थिति के सम्बन्ध के सन्दर्भ में अर्थ अभिप्राय (माइनुंग) के रूप में अनुभूत होता है।

---

४ भाषाविज्ञान में विध्यात्मकवाद तथा प्रत्ययवाद।

५ भाषाविज्ञान सम्बन्धी अध्ययन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार भाषाई अर्थ (अभिव्यक्ति में व्यक्त) तथा भाषाई सम्प्रेषण (निर्देशात्मक चिह्न) हूसर्ल की दृष्टि में एक-दूसरे से भिन्न हैं। (पृ० ५६) फलस्वरूप तथ्यात्मकता तथा तात्विकता और वास्तविकता तथा साध्यता में क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसी स्थल पर अर्थ की प्रत्ययात्मकता, उसकी आत्माभिन्नता तथा शब्द के विभिन्न निर्देशों के सम्बन्ध की समस्या की ओर संकेत किया जा सकता है। उदाहरणार्थ अंश की आत्माभिन्नता को सुरक्षित रखते हुए भी, सर्वनामों तथा निर्देशात्मक शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किस प्रकार समझा जाय, जबकि उनके प्रयोग के भिन्न अवसरों पर उनके निर्देश–विषय भिन्न होते हैं? हूसर्ल ने ऐसे प्रवहमान अर्थों से संबंधित अभिव्यक्तियों को सन्दर्भ-सापेक्ष तथा अतात्त्विक (अकेज़नल) कहा है। परन्तु इस भेद को हूसर्ल विषयापेक्षा (इन्टेन्शनेलिटी) के अन्तर्गत ही मानता है जो अन्ततः प्रत्ययात्मक क्षेत्र में ही आता है। और जैसा पैरिट ने लक्ष्य किया है, यहाँ बात और उलझ जाती है। (पृ० ५८)।

लेख के अन्तिम भाग में पैरिट हूसर्लीय तथा नव्य-हुम्बोल्टीय विचारों के सूत्रों को एकत्रित कर यह दिखाने का प्रयास करता है कि आधुनिक भाषाविज्ञान में जो बुद्धिवादी प्रवृत्ति है उसका पूर्वाभास इन विचारों में किस सीमा तक द्रष्टव्य है।

नव्य-हुम्बोल्टवादी तथा हूसर्ल दोनों ही आनुभाविक व्याकरण को संशय की दृष्टि से देखते हैं। यद्यपि दोनों ही भाषा में मानस अथवा चैतन्य की आधारभूत भूमिका को स्वीकार करते हैं, परन्तु आन्तरिक अथवा तात्विक एवं बाह्य अथवा सम्प्रेषणात्मक अभिव्यक्ति के परस्पर संबंध की दृष्टि से दोनों में बड़ा अन्तर है। नव्य-हुम्बोल्टवादियों के लिए अभिव्यक्ति केन्द्रीभूत है। हुम्बोल्ट का मत था कि मनस् का तत्त्व भाषा में व्यक्त होता है। अभिव्यक्ति को महत्त्व देना किसी मनोगत अथवा व्यक्तिगत पक्ष पर बल देना नहीं है अपितु मनस् से इसका संबंध स्वीकार करना, उसके परा तथा सत्ता-मूलक पक्ष को स्वीकार करना है। अभिव्यक्ति के रूप में भाषा मनस् का ही आकार है। आकार मूर्तिकरण के पूर्व नहीं होता, अपितु प्रत्येक तथ्यात्मक भाषाई प्रदत्त में ही उपस्थित रहता है। हुम्बोल्ट तथा नव्य-हुम्बोल्टवादियों के लिए भाषा की उत्पादकता तथा रचनात्मकता उसके महत्वपूर्ण पक्ष हैं और इस दृष्टि से उनके विचारों के मूल को रोमैन्टिसिज़्म में दिखाया जा सकता है।

आनुभाविक प्रणाली तथा दृष्टि के विरुद्ध **उन्टर्जुखुंगेन** में शुद्ध तर्कनिष्ठ व्याकरण को मूलतः तत्त्वात्मक रूप में ग्रहण किया गया है। जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, चिह्न तथा निर्देश की तुलना में 'अर्थ' हूसर्ल की दृष्टि में केन्द्रीभूत है। अर्थ-विश्व निःशब्द (सायलेन्ट) है तथा अपने में सीमित रहता है। हूसर्ल इस मनोवैज्ञानिक दृष्टि का विरोध करता है जिसके अनुसार वाक्यों को सृजनशील विषयी के द्वारा निर्मित माना जाता है। यद्यपि भाषाई व्यक्तीकरण अर्थ के मूल में संरच-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नात्मक नियमों के उद्घाटन में सहायक होता है, परन्तु वह केवल उसी सीमा तक होता है जिस सीमा तक वह 'शुद्ध प्रतीकात्मक प्रत्यय' है तथा इस प्रकार निर्देश एवं सम्प्रेषणीय पक्ष से असम्बद्ध है। हूसर्ल के इस तत्त्ववाद का स्रोत स्पष्टतया प्लेटो की ओर इंगित करता है।

हुम्बोल्ट की गत्यात्मकता की अवधारणा के विरुद्ध हूसर्ल के स्थिर अर्थ-विश्व का जीवन नितान्त बंजर है।

भाषा की अपनी संरचनात्मकता होती है जिसका किसी अन्य सत्ता में अन्तर्भाव संभव नहीं है। भाषा स्वयं अपना एक जगत् है। अतः मानवीय चिन्तनात्मकता तथा मनुष्य के व्यवहार के अन्य पक्षों में कोई तारतम्य हो, यह आवश्यक नहीं है। दोनों ही परम्पराओं में यह चिन्तनात्मक मनुष्य के तत्त्व तथा मौलिकता की परिचायक है।

पॅरिट के इस निबन्ध से ऐसा ध्वनित होता है कि हूसर्ल के लिए भाषा का ऐन्द्रिक रूप नितान्त उपेक्षणीय है। परन्तु यदि इस बात पर ध्यान दें कि हूसर्ल के दर्शन में भाषा का क्या स्थान है, तो यह निष्कर्ष ठीक नहीं लगता। यह बात हूसर्ल की अधिक परिपक्व कृति **फार्मल एण्ड ट्रान्सेन्डेन्टल लॉजिक** में भाषा के संबंध में उसके मत से पुष्ट होती है। इस संबंध में ध्यान देने योग्य आधारभूत बात यह है कि हूसर्ल भाषा पर केवल गौण रूप में ही विचार करता है, अर्थात् केवल उसी सीमा तक जहाँ तक वह शुद्ध तर्क के क्षेत्र में प्रवेश के लिए आवश्यक है। उसी के शब्दों में : "यहाँ भाषा पर केवल दूसरे स्तर पर ही विचार हुआ है। इसका कारण यह है कि विज्ञान (साइन्स) में, सैद्धान्तिक बुद्धि के उन प्राथमिक उद्देश्यों के साथ यह ज्ञानात्मक एवं तकनीकी उद्देश्य भी, कि उपयुक्त वैज्ञानिक भाषा के द्वारा निर्णय का कार्य आगे बढ़ सके, मिला हुआ है। यह द्योतनात्मक पक्ष में अन्तर्निहित है तथा सत्य की उपलब्धि से सम्बद्ध है।" (पृ० २६) इसमें कोई सन्देह नहीं कि अर्थ की इकाइयाँ चेतना में सर्वप्रथम भाषाई अभिव्यक्ति में उपस्थित होती हैं, परन्तु ज्ञाता की दृष्टि कथनों के ऐन्द्रिक स्वरूपों तक सीमित न होकर ऐन्द्रिक स्वरूपों के द्वारा जो अभिप्रेत है, उसकी ओर अभिमुख होती है। ऐन्द्रिक तथ्यों के रूप में कथन "वैषयिक (थिमैटिक) नहीं अपितु विषय–द्योतक (थिमैटिक इण्डिकेटर) है...।" पृ० (२६) अन्य शब्दों में, हूसर्ल यह अस्वीकार नहीं कर रहा है कि अर्थ तथा ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है और भाषा का यह स्तर स्वयं अपने में अन्वीक्षण का विषय हो सकता है। उसका उद्देश्य केवल यह इंगित करना ही प्रतीत होता है कि उसके विशेष प्रयोजन की दृष्टि से इस स्तर तथा उसके अन्वीक्षण को पृथक् रखना ही उपयुक्त है।

आगे २५ वें परिच्छेद में इस बात का औचित्य प्रस्तुत करते हुए कि अभिप्रायों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आकारों के सिद्धान्त को **उन्टर्जुखुंगेन** में "शुद्ध तर्क का व्याकरण" क्यों कहा गया है, हूसर्ल 'व्याकरण' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहता है कि उससे "व्याकरणता" का आशय लेना चाहिये। किसी कथन को सुनिश्चित रूप में ग्रहण करना तथा उसे संभव निर्णय के रूप में निरूपित करना, बहुधा शब्द-क्रमों तथा उनकी निर्देशात्मक-अभिव्यक्तियों को सुनिश्चित रूप में ग्रहण करना होता है। (पृ० ७०-७१)

जहाँ अर्थ तथा कथनों में एक ही स्थान पर उपस्थित होने की बात की गई है वहाँ स्पष्टतया अर्थ तथा कथन को केवल संभावनाओं के रूप में ही अलग तथा एक-दूसरें के सह घटक के रूप में वर्णित किया गया है। वास्तव में जो वस्तुस्थिति है उसमें अर्थ, भाषाई परिधान एवं अर्थ प्रदान करने की क्रिया, तीनों ही मिले रहते हैं।

इन बातों को ध्यान में रखने पर पैरिट का यह कहना सही प्रतीत नहीं होता कि हूसर्ल के लिए भाषाई अभिव्यक्ति (जिनमें चिह्नों की ऐन्द्रिकता तथा निर्देशात्मक सम्प्रेषणीतया का समावेश होता है) आकार का विघटन है। यदि हुम्बोल्ट तथा उसकी परम्परा एवं हूसर्ल तथा उसकी विचारधारा की दिशाओं के अन्तर पर ध्यान दें तो क्रमशः अभिव्यक्ति तथा अर्थ पर महत्व देने की बात से ही उसके विचारों का भेद स्पष्ट नहीं होता। जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, दोनों के लिए मनस् अथवा चैतन्य का आधारभूत महत्त्व है। परन्तु हुम्बोल्ट के लिए प्राथमिक विवेच्य विषय है भाषा। इसके विपरीत, हूसर्ल के अध्ययन का केन्द्र प्रमुख रूप में चैतन्य है।

इस स्थल पर दार्शनिक भाषाई विश्लेषण तथा भाषाविज्ञान की पद्धति को लेकर जो बहस है, उस पर विचार किया जा सकता है। वस्तुतः संक्षेप में भाषा-विज्ञान के लक्ष्यों तथा दार्शनिक भाषाई विश्लेषण के लक्ष्यों को ध्यान में न रखने पर ही इस प्रकार की बहस आरम्भ होती है। जहाँ तक पैरिट के लेख का संदर्भ है, पैरिट हूसर्ल के विचारों को एक ऐसे सन्दर्भ में रख कर देखता है जहाँ वे प्रासंगिक नहीं लगते। हुम्बोल्ट की स्थिति इसलिए भिन्न है कि वह प्रमुख रूप में भाषा से सम्बद्ध था।

ऑलीवर द्वारा आन्तरिक (डीप) व्याकरण तथा आन्तरिक संरचना (स्ट्रक्चर) की तुलनात्मक मीमांसा के द्वारा जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है वह भी परोक्ष रूप में उपर्युक्त भेद को पुष्ट करता है, परन्तु भिन्न मार्ग से। अपने लेख "डेप्थ ग्रामर एज़ ए मैथेडोलोजिकल कान्सेप्ट ऑव फिलॉसोफी"[६] में ऑलीवर ने एक ओर रसेल, स्ट्रॉसन तथा विट्गेन्स्टाइन आदि के मतों का उल्लेख कर आन्तरिक व्याकरण, अथवा दार्शनिक व्याकरण आदि के स्वरूप को स्पष्ट किया है तथा

---

६ इन्टर्नेशनल फ़िलसॉफ़िकल क्वार्टर्ली (मार्च १६७२)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर चोम्स्की तथा भाषाविज्ञान में बाद के कुछ विकसित मतों की बात कर भाषाविज्ञान की पद्धति के आधुनिकतम स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। लेखक का आशय इन दोनों स्थितियों की तुलना कर यह दिखाना है कि भाषा-विज्ञान में कितना ही विकास क्यों न हो जाय वह दार्शनिक विश्लेषण का रूप ग्रहण नहीं कर सकेगा।

रसेल ने तार्किक आकार के जिस विश्लेषण की बात की है वह भाषा तक सीमित नहीं था, अपितु भाषा तथा जगत् के बीच जो संबंध है उससे संबंधित था। प्रश्न यह है कि क्या किसी अभिव्यक्ति के ऊपरी आकार के अध्ययन से सत्ता के स्वरूप पर कोई प्रकाश पड़ता है? रसेल ने तार्किक आकार के आधार पर जो व्याकरणीय विश्लेषण किया उसके परिणाम सर्वविदित हैं—निश्चित वर्णन नाम तो नहीं होते परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अर्थहीन होते हैं। इससे एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि साधारण व्याकरण के नियम प्रतिज्ञप्ति के तार्किक स्वरूप को स्पष्ट नहीं करते। सतही व्याकरण के स्थान पर यहाँ एक आन्तरिक व्याकरण की अपेक्षा है। स्ट्रॉसन के अनुसार, किसी विशिष्ट अवसर पर आकारगत संरचनाओं के बोधगम्य प्रयोग में जो कुछ निहित है उसके बारे में क्या अनुमित किया जा सकता है, यह बताना दार्शनिक व्याकरण का काम है। विट्गेन्स्टाइन ने **फिलसॉफिकल इन्वैस्टिगेशन्स्** में (पृ० ६६४) ऊपरी तथा आन्तरिक व्याकरण में अन्तर की ओर संकेत किया है। यद्यपि दार्शनिक विश्लेषण केवल शब्दों से संबंधित नहीं फिर भी 'क्या' रूपी प्रश्न उतना ही शब्द के संबंध में भी होता है जितना शब्देतर के संबंध में। 'वर्णनात्मक वाक्यांश, नाम', 'प्रक्रिया के नाम' ये सब केवल सिन्टैक्टिक संबंधों से ही फलित नहीं होते। किसी शब्द के व्याकरण को समझना उसके प्रयोग के मानक के विषय में जानना है। औसत अभिव्यक्तियों के बीच जो संबंध होते हैं उनके उपयुक्त विषयों अथवा उनके सार्थक प्रयोग के सन्दर्भ को आन्तरिक व्याकरण निश्चित करता है। इसी प्रकार ऑस्टिन के अनुसार, किसी वचक-क्रिया (स्पीच ऐक्ट) के सफल रूप में सम्पन्न होने की शर्त केवल भाषा के संरचनात्मक रूप पर निर्भर नहीं होती।

संक्षेप में यह कहा जा सकता हैं कि, किसी वाक्य के प्रयोग में जो अर्थ-योजना अन्तर्निहित है वह नितान्त तार्किक है तथा उस पर साधारण व्याकरण की दृष्टि से विचार करना व्यर्थ है। अभिव्यक्ति का ऊपरी स्वरूप तार्किक स्वरूप नहीं है। परन्तु क्या इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि अभिव्यक्ति का कोई अधिक गहन रूप है जो दार्शनिक-विश्लेषण का विषय है और क्या यह आधुनिक भाषाविज्ञान की 'आन्तरिक संरचना' से सम्बन्धित है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व भाषाविज्ञान सम्बन्धी पक्ष को देखना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसा संकेत किया जा चुका है, भाषाविज्ञान की एक आधुनिक धारा बुद्धिवादी है। इसका अर्थ यह है कि भाषाविज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त तथा विचार आनुभाविक तथ्यों के सामान्यीकरण नहीं अपितु उनको समझने के प्रागानुभाविक आधार हैं। आन्तरिक संरचना की अवधारणा किन्हीं सामान्यों की ओर संकेत करती है तथा वह किसी आनुभाविक तथ्य की भाँति सूचना-परक नहीं होती। इसके अतिरिक्त, वे अर्थविषयक सम्बन्ध जो भाषाकोष पर निर्भर नहीं, आन्तरिक संरचना पर निर्भर होते हैं (जैसा फदोर तथा कात्स का मत है)। परन्तु इन बातों को स्वीकार करना क्या यह स्वीकार करना है कि दार्शनिक विश्लेषण में यही बातें सन्निहित हैं और फलतः वह भाषाई विश्लेषण मात्र है ?

ऑलीवर ने उचित ही यह स्पष्ट किया है कि यह संभव नहीं है। दार्शनिक प्रमुख रूप में अर्थ में दिलचस्पी रखता है। अब ध्यान देने योग्य बात यह है कि न तो आन्तरिक संरचनाएं और न ही उन पर आधारित अर्थ-व्याख्याएं अभाषाई सूचना का संकेत देती हैं। इसके विपरीत दार्शनिक, भाषा का विश्लेषण करते समय, उसके सम्बन्ध में उस पक्ष से विचार करता है जो अभाषाई होता है, जिसकी दिशा अर्थ तथा निर्देश से निरूपित होती है। (पृ० १२४) सार्थक प्रयोग की तीन शर्तें हैं—(१) वाणी से सम्बन्धित—जो अर्थ-वस्तु अथवा कथन के मन्तव्य से सम्बद्ध हो, (२) प्रयोग के मानक, जो औचित्य से सम्बद्ध हों एवं (३) सत्य से सम्बन्धित निर्देश की शर्त। न ही संरचनात्मक धारणा और न ही अमूर्त अर्थ-विषयक विशेषीकरण इन शर्तों पर आधारित भाषा के प्रयोग की व्याख्या करने में समर्थ है, अतः यह कहना भ्रान्त है कि दार्शनिक केवल भाषा का विश्लेषण करता है (पृ० १२५)।

जिस रूप में आन्तरिक संरचना को सीमित किया जाता है उसमें प्रयोग की इन शर्तों को उस संदर्भ से जोड़ना असंभव है जिसमें भाषा को चिह्न-विषय के सम्बन्ध के रूप में देखा जाय।

यहाँ ऑलीवर ने उन प्रस्थापनाओं पर भी विचार किया है जो भाषाविज्ञान को एक अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखने के आधुनिक प्रयास हैं, तथा जिनके आधार पर एक ऐसे विचार-तन्त्र की कल्पना की जा सकती है जिसके नियम इस प्रकार के होंगे कि उनके द्वारा बीच के विभिन्न चरणों के द्वारा अर्थ-विषयक अवधारणाओं को ऊपरी सिन्टेक्टिक अवधारणाओं में बदलना संभव होगा। चोम्स्की के मत से भिन्न, यहाँ संरचनात्मक तत्व को अर्थ-विषयक तत्व से अलग रखने की आवश्यकता नहीं होगी। जेम्स मैकॉले तथा लकॉफ ने कुछ ऐसी ही प्रस्थापनाओं को प्रस्तुत किया है।

जेम्स मैकॉले की दृष्टि से, आन्तरिक संरचना में विषम प्रतीकों के स्थान पर कोष-मूलक विषयों को रखने के सम्बन्ध में वरण की जो शर्तें होंगी वे अर्थ के आधार पर निर्धारित करनी होंगी, साथ ही वाक्य में घटित निर्देशों के अभिप्रायों पर विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना आवश्यक होगा। वाक्य से जो सूचना प्राप्त होती है उसके सन्दर्भ में वाक्य के अर्थ तथा उसकी पूर्वापेक्षाओं में अन्तर करना आवश्यक होगा। परन्तु इस परिष्कृत मॉडल का स्थान भी आन्तरिक व्याकरण की दार्शनिक व्याख्या के पहले नहीं आता। भाषावैज्ञानिक इस स्थिति में नहीं होता कि वह संकेत अथवा चिह्न तथा अभाषाई रीतियों (कन्वेन्शन्स्) की समस्याओं को अलग कर सके। इसके अतिरिक्त, वस्तुओं के विषय में बात करते समय भाषा के प्रयोग की शर्तों के विषय में जो निर्णय लिये जाते हैं वे मूलत: नियामक होते हैं। परन्तु यह मॉडल व्यर्थ नहीं है। भाषाई संरचना के सामान्य वर्णन के संदर्भ में यह निर्णयों के परिणामों के मूल्यांकन का साधन प्रस्तुत करता है। (पृ० १२९)

लकाफ का मत है कि भाषावैज्ञानिक की व्याकरणत्व की धारणा का विश्लेषण उन पूर्वमान्यताओं में ही संभव है जो जगत् की विशेषता के बारे में होती हैं तथा जो भाषा का प्रयोग करने वालों के प्रयोग में निहित होती हैं। परन्तु प्रश्न यह हैं कि किन्हें उपयुक्त पूर्वमान्यताएं माना जाय ? इसका निर्णय किस आधार पर होगा ? अभाषाई पूर्वमान्यताओं के विशेष संग्रहों पर आधारित अभिव्यक्तियों के बारे में विशेष निर्णयों का मूल्यांकन किस प्रकार किया जाय ? जब दार्शनिक आन्तरिक व्याकरण का विश्लेषण करने का प्रयास करते हैं तो उनके प्रयास में उपर्युक्त दोनों प्रश्नों पर विचार समाहित होता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भाषाविज्ञान तथा दार्शनिक विश्लेषण के उद्देश्य ही भिन्न हैं। ऑलीवर का मत इस दृष्टि-भेद को ग्रहण करने से अधिक पुष्ट होता है। भाषावैज्ञानिक की दृष्टि प्रमुख रूप से भाषा के व्यक्त एवं ऐन्द्रिक स्वरूप से ही सम्बन्धित होती है। चाहे भाषा के उस रूप को लें जिसे 'ल लाँग' कहा गया है, अथवा उसे लें जिसे 'ल परोल' कहा गया है, दोनों ही अवस्थाओं में भाषावैज्ञानिक की दृष्टि प्रदत्त से सीमित होती है। यह दूसरी बात है कि किस प्रकार के सिद्धान्तों तथा नियमों के आधार पर भाषा की सम्यक् व्याख्या संभव होती है। दूसरी ओर दार्शनिक के लिए अभिव्यक्ति—ऐन्द्रिक अभिव्यक्ति–का महत्व गौण है। उसकी दृष्टि भाषा के भौतिक स्वरूप से सीमित नहीं होती। यह भौतिक स्वरूप कथ्य का माध्यम मात्र है, और दार्शनिक का विषय है कथ्य। जहां कथ्य को व्यक्त करने का, उसके सम्प्रेषण का, प्रश्न उठेगा वहां अभिव्यक्ति का भी महत्त्व होगा। परन्तु कथ्य के आत्मसात् होने, उसके नवीन रूप में प्रकट होने, विभिन्न कथ्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के गृहीत होने की प्रक्रिया में अभिव्यक्ति पीछे छूट जाती है और हम हूसर्ल के प्रत्ययात्मक स्वायत्त अर्थ-विश्व में प्रवेश कर जाते हैं।

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्ममूलक और ध्यानमूलक मूल्य[१]

प्रोफेसर दयाकृष्ण का यह लेख **फिलॉसफी एण्ड फिनॉमेनलोजीकल रिसर्च** के मार्च १९६८ अंक में प्रकाशित हुआ था। इस लेख पर डा० कमलचंद सोगानी की आलोचना तथा प्रो० दयाकृष्ण द्वारा उसका उत्तर इस पत्रिका के दिसंबर १९७१ अंक में प्रकाशित हुए।

प्रो० दयाकृष्ण ने इस लेख में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि अर्थ या मूल्य कर्ममूलक और ध्यानमूलक इन दो कोटियों में बांटे जा सकते हैं। इनमें एक कोटि (कर्ममूलक) का लक्षण यह है कि इन अर्थों की सिद्धि कारण-कार्यात्मक वस्तु-जगत् या सामाजिक जगत् के माध्यम से होती है, और दूसरी कोटि (ध्यानमूलक) का लक्षण यह है कि इसके अन्तर्गत अर्थों की सिद्धि चेतना की अवस्था की प्राप्ति के रूप में होती है। उनके अनुसार, ध्यान-साधनोन्मुख चेतना अपने स्वरूप की ऐसी स्थिति पाना चहती है जिसे वह परम उत्कृष्ट और मूल्यवान् मानती है। इसके विपरीत कर्ममूलक साधना का उद्देश्य चेतना की किसी अवस्था अथवा अनुभूति की अवस्था की सिद्धि करना नहीं होकर ऐसी क्रिया में प्रवृत्त होना होता है जो दूसरों के लिए उपयोगी हो सके, अथवा प्रकृति या समाज में कोई वस्तुस्थिति उत्पन्न करना होता है। उनके अनुसार, मूल्यों में यह कोटि-भेद स्वरूपगत है और एक कोटि के मूल्यों का अनुसरण दूसरी के मूल्यों के अनुसरण का प्रतिरोधक होता है। ध्यान-मूलक अर्थों या मूल्यों के उदाहरणों के रूप में वे प्रेम, प्राकृतिक या मानव-सौंदर्य का अनुभव आदि को प्रस्तुत करते हैं। इसके विपरीत, प्रकृति या समाज में कोई परिवर्तन लाने के लिए किये गए प्रयत्न को वे कर्ममूलक अर्थ के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं। कर्ममूलक अर्थों के विवेचन के प्रसंग में उन्होंने संस्थात्मक कर्म का कुछ विस्तार से विवेचन किया है, क्योंकि यह कर्म बहुत सीमा तक निर्वैयक्तिक, कारण-कार्यात्मक और अस्वतंत्र होता है। यहां कर्त्ता को अपने संकल्प और विवेक का साधारण संकल्प और विवेक से सामंजस्य बैठाना होता है और परिणामतः उसे बहुत से ऐसे कार्य करने होते हैं जो उसे उपयुक्त या उचित नहीं प्रतीत होते।

---

१ Daya Krishna—The Active and the Contemplative Values, P.P.R. Val. XXIX, No-3, March 1969, K.C. Sogani's Comments and Daya krishna's Reply, Vol. XXXII, No 2, Dec. 1971.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अनेक बार ये कर्म व्यक्ति के अपने लिए उससे विपरीत अवस्था को प्राप्त करवाने वाले होते हैं जिसको वह समाज में सिद्ध करना चाहता है। उदाहरणतः समाज को मोक्ष-मार्गावलम्बी बनाने में लगे व्यक्ति के कर्म) इस प्रकार कर्ममूलक अर्थों का अनुसरण मनुष्य को अनिवार्यतः इतिहास एवं सामाजिकता का अंग बना देता है।

इससे उलट, ध्यानमूलक अर्थों के अनुसरण में मनुष्य का लक्ष्य अपने सत्त्व (बींग) की सिद्धि होता है। यह सिद्धि मनुष्य को आत्मोन्मुख बनाती है और अनुभव की वह स्थिति उपलब्ध कराती है जो निरपेक्षतः मूल्यवान् और स्वतंत्र है। इस अनुसरण में जहाँ अन्य की अपेक्षा भी होती है, जैसे प्रेम में, वहां भी चरितार्थन सायुज्य की अनुभूति की प्राप्ति में होता है, जिसमें काल निरस्त हो जाता है और सब गतियाँ, इच्छा तक की भी, निस्पन्द हो जाती हैं। किन्तु तब भी, प्रेम में अन्य की सापेक्षता आत्मसाधन में बाधक होती है। इसलिए इस भाव का चरमोत्कर्ष भगवत्प्रेम में सिद्ध होता है जिसमें कि अन्यत्व स्वतंत्रता का बाधक नहीं हो कर केवल भाव का आलंबन होता है।[२] किन्तु रहस्यवादी इतने भी अन्यत्व का निरास करना चाहते हैं और केवल अपनी चेतना की अवस्था सिद्ध करना चाहते हैं। यहाँ दयाजी साधना और मादक द्रव्यों द्वारा प्राप्त चेतना की अवस्थाओं की तुलना करते हैं और पहली को दूसरी के समान बताते हैं—इस अन्तर के सिवा कि दूसरी में मनुष्य को एक बाह्य वस्तु का सहारा लेना पड़ता है।

दयाजी के अनुसार, इन दो मूल्यों का अनुसरण नितान्त विरोधी दिशाओं में ले जाता है। कर्ममूलक अर्थों का अनुसरण करने वाले के पास न तो ध्यानमूलक अर्थों के लिए समय रहता है और न उनके लिए रुचि ही रहती है। इसी तरह, ध्यानमूलक अर्थों के अनुसरता को कर्ममूलक अर्थ निरर्थक या हेय लगते हैं।

इन दो प्रकार के अर्थों में समन्वय की बात बहुत बार की जाती है, किन्तु इनमें विरोध इतना मूलगामी है कि यह समन्वय एक कोटि को दूसरे के अधीन करके ही संभव होता है। किन्तु विरोधी मूल्यों में एक का दूसरे के अधीन होकर रहना देर तक नहीं चलता। यद्यपि मूल्यों में स्तर-भेद होता है, किन्तु वह केवल इसी अर्थ में कि यदि उनमें चयन करना आवश्यक हो तो एक की अपेक्षा दूसरे का वरण उत्कृष्टतर होगा। किन्तु उत्कृष्टतर अर्थ की साधना न्यूनतर की सिद्धि स्वतः नहीं करा देती। इसलिए जिन्होंने कहा है कि "ईश्वर को सिद्ध करो, क्योंकि उसको सिद्ध कर लेने पर शेष सब स्वतः सिद्ध हो जायगा" वे आवश्यकता से अधिक आशावादी थे।

किन्तु खैर, मूल्यों के समन्वय का प्रश्न यहाँ अप्रस्तुत है। यहाँ इनमें अन्तर या

---

२ यहां मैंने लेखक के प्रतिपादन को थोड़ा बदल दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध ही प्रासंगिक है और यह विरोध व्यक्तियों और संस्कृतियों के स्वरूप को समझने में सहायक है।

ऊपर हमने दयाजी के लेख का सारांश प्रस्तुत किया। यहाँ हम डा० कमलचन्द सोगानी की आलोचना का सारांश प्रस्तुत करेंगे :

डा० सोगानी यह स्वीकार करते हैं कि प्रो० दया ने अर्थों (मूल्यों) का जो कोटि-भेद किया है वह सिद्धान्ततः उपयुक्त है, किन्तु उनके अनुसार यह भेद वास्तव में दृष्टिगत नहीं होता। इसीसे वे उदाहरणों से आरंभ करते हैं। उनके अनुसार महावीर, बुद्ध, ईसा तथा गाँधी के समान महान ध्यानयोगी न तो अकर्मवादी थे और न वे कर्म को 'अनिवार्य दोष' मानते थे। डा० सोगानी के अनुसार दयाजी ने सकाम और निष्काम कर्म में अंतर नहीं किया, इसी से वे ऐसा प्रतिपादन कर सके। वे मानते हैं कि ध्यान-योगी न तो अकर्मवादी थे और न वे कर्म को 'अनिवार्य दोष' मानते थे। उनके अनुसार ध्यानयोगी वास्तव में अधिक कर्मपरायण होता है और उसका कर्म कर्त्तव्य से प्रेरित होता है, जबकि कर्ममूलक अर्थ-साधक के कर्म वासना-प्रेरित होते हैं।

लेख पर इस साधारण टिप्पणी के बाद डा० सोगानी चार आपत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। प्रथम आपत्ति में वे दयाजी के एक कथन में प्रातीतिक अन्तर्विरोध को प्रदर्शित कर कहते हैं कि भारत में अनेकों ने, गीता ने अत्यन्त स्फुट रूप से, मूल्यों के इन दो प्रकारों में भेद किया है। दूसरी आपत्ति में उन्होंने दयाजी की "कर्ममूलक मूल्य" की परिभाषा को अल्पव्याप्ति दोष-युक्त बताया है। उनके अनुसार, सामाजिक अथवा कर्ममूलक अर्थ को "समाज अथवा प्रकृति में परिवर्तन घटित करने का प्रयत्न—मात्र कहना बहुत संकुचित परिभाषा देना है, क्योंकि इस परिभाषा के अनुसार दार्शनिक किस वर्ग में आएंगे ?" तीसरी आपत्ति है कि दयाजी इन दो कोटियों में स्वरूपगत विरोध देखते हैं। उनका तर्क है कि सब महान व्यक्तियों में कर्म और ध्यानमूलक अर्थों का सामंजस्य मिलता है। चतुर्थ आपत्ति दयाजी द्वारा साधना और मादक द्रव्य द्वारा प्राप्त चैतन्य की स्थितियों में साम्य बताने पर है।

इन आपत्तियों का प्रत्याख्यान करते हुए दयाजी ने निम्न प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

सर्वप्रथम, उनके अनुसार महावीर, बुद्ध और ईसा कर्मवादी थे ही नहीं और न गांधी ध्यान-योगी थे। उनके अनुसार बुद्ध आदि ने कभी मनुष्य के सामाजिक और राजनैतिक जीवन को बदलने का प्रयत्न नहीं किया, इसलिये वे कर्मपरक मूल्यानुसारी नहीं थे। वे डा० सोगानी की आलोचना का दोष 'कर्म' शब्द के अर्थ की अस्पष्टता में निहित देखते हैं। डा० सोगानी ने ध्यानमूलक और कर्ममूलक अर्थों को जो क्रमशः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकाम और निष्काम कहा है वे इसे स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत, उनके अनुसार, कर्मपरक अर्थों का अनुसरण निष्काम होना आवश्यक है।

डा० सोगानी की चार आपत्तियों का निराकरण वे निम्न प्रकार से करते हैं— (१) उनके अनुसार गीता में 'ज्ञान' और 'कर्म' शब्दों का प्रयोग विशिष्ट पारिभाषिक अर्थों में हुआ है। वहाँ 'कर्म' का प्रयोग मीमांसा के आनुष्ठानिक कर्म के लिए और 'ज्ञान' का प्रयोग अद्वैत वेदान्त के अद्वैत भाव के बोध के लिए हुआ है, उनके द्वारा प्रयुक्त अर्थों में नहीं। (२) "कर्ममूलक अर्थों की संकुचितता" का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि ये दो कोटियां मूल्यों (अर्थों) के क्षेत्र को पूर्णतः निश्शेष नहीं कर देतीं आदि।

× × ×

इन लेखों पर टिप्पणी करना यहाँ अप्रयोज्य होने पर भी मैं इन पर अपने विचार अत्यन्त संक्षेप में कहूँगी। दयाजी ने एक ओर रहस्य-साधक और दूसरी ओर समाज-सुधारक को उदाहरण चुन कर अर्थानुसरण के क्षेत्र की विशालता और वैविध्य की अवहेलना करदी है। इसके अतिरिक्त, इन उदाहरणों की मूल्यस्वरूपता का विवेचन भी बहुत एकांगी किया है। उदाहरण के लिए प्राकृतिक सौंदर्य-दर्शन को लें। दयाजी प्राकृतिक सौन्दर्य के भावन को ध्यानमूलक मूल्यों में वर्गीकृत करते हैं। किन्तु तब वे चित्रकार का किस में वर्गीकरण करेंगे? वह इस सौन्दर्य की अनुभूति को और अधिक सघन और स्फुट रूप में भोगता है और इस भोग को अभिव्यक्त करता है। किन्तु क्या दयाजी कलाकार को ध्यानमूलक अर्थों का साधक कहेंगे? यही बात प्रेम करने वाले और प्रेम-काव्य के लेखक के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस प्रसंग में मेरे पापाजी का लेख **मूल्यान्वेषण और अर्थविवेक** देखना प्रासंगिक होगा। यहाँ मैं उससे कुछ पंक्तियां उद्धृत कर रही हूं—

"सौंदर्य मूल्य है" का अर्थ है "सौन्दर्य चरितार्थ्य है", अर्थात् यह किसी वस्तु की उपलब्धि द्वारा नहीं, कर्तृत्व के अर्थ-बोध द्वारा मूल्य बनता है। चरितार्थ्यता में कर्तृत्व और अर्थान्विषण दोनों का समावेश है, अर्थात् मूल्य कर्तृत्व तथा उसकी प्रयोजनवत्ता के बोध की संज्ञा है। मूल्य के अर्थ में "अर्थान्विषण" अथवा "प्रयोजन-वत्ता का बोध" निहित होने से ही सौन्दर्य मंगल का अविरोधी ही नहीं पोषक भी है। (राम और कृष्ण में सुन्दर और मंगल का सामंजस्य आकस्मिक नहीं है।) मूल्य का यह अर्थ 'शिव' और 'सत्य' से और भी अधिक स्पष्ट देखा जा सकता है। "शिव मूल्य है" का अर्थ 'शुभ वस्तु प्राप्तव्य है' करना उपहासास्पद होगा, क्योंकि कोई वस्तु शिव या शुभ नहीं हो सकती। इसलिए इसका अर्थ "शिव सम्पाद्य है' ही उचित है। इसी प्रकार सत्य के लिए भी। यदि क मेज़ है तो 'क मेज है' निर्णय सत्य है, किन्तु प्रत्यक्ष की सत्यता में इस निर्णय की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई मूल्य-वत्ता नहीं है, मूल्यवत्ता सत्य की अन्वेष्यता में है। इसीलिए "कुत्ते के रोटी का ग्रास दबोच लेने में" सत्य की मूल्यवत्ता उपलब्ध नहीं होती और न उसके ग्रास के प्रतिबिम्ब को ग्रास समझ कर नदी में कूद जाने को बलिदान कहा जा सकता है। सत्य की मूलवत्ता वैज्ञानिक और दार्शनिक कर्मों में उपलब्ध होती है।"[३]

इसी प्रकार दयाजी ने मूल्यान्वेषी समाजसुधारक को गहराई से नहीं समझा है। वह भी कलाकार के समान समाज की एक कल्पना करता है और उसे चरितार्थ करना चाहता है। गान्धी जी इसके उत्कृष्टतम उदाहरण हैं। यदि वे केवल समाज के दोषों का निराकरण करने वाले मात्र होते तो वे चरखा, प्रार्थना-सभा, सत्याग्रह आदि को नहीं अपनाते। वे वास्तव में चेतना की अवस्था विशेष को ही प्राप्त करना चाहते थे, और एक ऐसे समाज का सर्जन करना चाहते थे जो उनके मूल्यों के अनुरूप होता। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि दयाजी ने बुद्ध और महावीर आदि को इसलिये कर्म-साधक नहीं माना क्योंकि उन्होंने राजनैतिक-सामाजिक कार्य नहीं किये। किन्तु उतना ही यह भी सही है कि नेहरू या स्टालिन ने समाज को आध्यात्मिक रूप से बदलने का प्रयत्न नहीं किया। बुद्ध, महावीर और ईसा ने मनुष्य की प्रस्तुत स्थिति को बदलने का उतना ही प्रयत्न किया जितना किसी भी अन्य ने किया। केवल उस परिवर्तन का उद्देश्य भिन्न था।

डा० सोगानी की आपत्तियाँ मुझे बहुत ही अनुपयुक्त, और उससे भी अधिक अनुपयुक्त रूप से प्रतिपादित, मालूम देती हैं। उदाहरणत: वे यह स्वीकार करते हैं कि दायाजी ने जो अर्थों का दो कोटियों में विभाजन किया है वह ठीक है। यह कह कर कि भारतीय चिंतकों ने यह भेद हजारों वर्ष पूर्व देख लिया था उन्होंने इसे अपना पूर्ण समर्थन भी दे दिया है। किन्तु तब भी वे इसका खंडन करते हैं। इसी प्रकार, एक ओर वे महावीर, बुद्ध आदि को कर्म-साधक कहते हैं और उसी पृष्ठ पर कर्मपरक अर्थों को वासनामूलक कहते हैं।

भगवती
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

———

३ यशदेव शल्य: **विषय और आत्म**, पृ० ९९-१००, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, १९७२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या "मैं हूँ" "मैं जानता हूँ" का निगमन-फल है?[1]

रोनाल्ड सटर ने इस लेख में दकार्ते की प्रसिद्ध दार्शनिक प्रतिज्ञा के तार्किक पक्ष पर विचार किया है। इसके लिए पहले उन्होंने हिंटिक्का और बर्नार्ड विलियम्स का मत प्रस्तुत किया है और पीछे इनका प्रत्याख्यान कर अपना मत प्रतिपादित किया है। हिंटिक्का इस प्रश्न को इस तरह देखते हैं: उनके अनुसार (१) 'अ क है' आपादित करता है कि 'कुछ है जो अ है'। यह इस धारणा पर प्रतिष्ठित है कि (२) सब एकवाची पद किसी सद्वस्तु का निर्देश करते हैं, जोकि ठीक नहीं है। उदाहरण के लिए, कथाओं में प्रयुक्त नाम किसी अस्तित्ववान् व्यक्ति का निर्देश नहीं करते। हिंटिक्का का यह भी मत है कि आधुनिक तर्कशास्त्र में यह प्रतिज्ञा भी सिद्ध नहीं है कि "विचारना अस्तित्व को आपादित करता है।"

सटर के अनुसार, बर्नार्ड विलियम्स भी (१) को अस्वीकार करते हैं। वे निम्न प्रतिज्ञा को अधिक युक्त मानते हैं—(४) 'अ क है' पूर्वकल्पित करता है कि 'कुछ है जिसका अस्तित्व है।' अर्थात् अ 'क है' का सत्य या असत्य होना यह पूर्वकल्पित करता है कि अ है। दूसरे शब्दों में, यदि अ का अस्तित्व नहीं हो तो 'अ क है' न सत्य होगा, न असत्य। विलियम्स के अनुसार, डेकार्ट ने अनुमान के इस सिद्धान्त के द्वारा ही 'जानता हूँ' से 'हूं' को अनुमित किया था। सटर के अनुसार, उपर्युक्त चार प्रतिज्ञाओं में से (३) समर्थनीय है और बाकी तीन—(१),(२) तथा (४)—समर्थनीय नहीं हैं। उनके अनुसार 'जानना' और 'अस्तित्व' के बीच एकमुखी अनिवार्य संबंध है, अर्थात् 'अ विचारता है' आपादित करता है कि 'अ है,' जबकि इसके उलट आपादित नहीं होता।

इसके बाद सटर हेनरी लिओनार्ड का हवाला देते हुए कहते हैं कि 'विचारता हूँ' पद (अन्य बहुत से पदों के समान) अस्तित्व-आपादक पद है जबकि बहुत से दूसरे विशेषणात्मक पद (एट्रीब्यूटिव्ज़) ऐसे नहीं होते। इस प्रकार, 'यदि य विचारता है, तो य अस्तित्ववान् है' विश्लेषणात्मक (एनेलिटिक) वाक्य है। इसके विपरीत 'काल्पनिक,' 'पौराणिक' आदि पद अनस्तित्व-आपादक हैं। 'अभिप्रेत,' 'अभिलषित' 'पूजित' आदि पद ऐसे हैं जो न अनिवार्यत: अस्तित्व-आपादक है और न अनिवार्यत: अनस्तित्व आपादक।

---

१ Ronald Suter—'Sum' is a Logical Consequence of 'Cogito', P.P.R., Vol. xxxii, No. 2, Dec. 1971.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके पश्चात् सटर ने संक्षेप में विश्लेषणात्मकता की क्वाइन-कृत आलोचना का प्रसंग उठाया है। उनके अनुसार कुछ पद अस्तित्त्व का, कुछ अनस्तित्त्व का और कुछ दोनों का, चाहे अनिवार्यतः नहीं, आपादन तो करते ही हैं, जैसाकि उपर्युक्त उदाहरणों से देखा जा सकता है। (इस प्रकार विश्लेषणात्मकता की युक्तता सिद्ध है।)

इस प्रकार, यदि हम जानते हैं कि 'अस्तित्त्व' पद तथा अन्य सम्बद्ध पद का प्रयोग कैसे किया जाता है, अर्थात् उनके प्रयोग के क्या नियम हैं, तो हम जान सकते हैं कि हमने किस प्रकार के विशेषणात्मक पद का प्रयोग किया है। फलतः यदि सब एकवाची पद वस्तु-निदशात्मक नहीं भी हों तो भी उपर्युक्त (१) प्रकार के कुछ वाक्य तर्कतः सत्य होते हैं—जब भी विशेषणात्मक पद अस्तित्त्व-आपादक होता है। हमने यह भी देखा है कि 'क (अ)' : '(अ क है)' : प्रकार के प्रकथन तब भी सत्य या असत्य हो सकते हैं जब '(अ)' अस्तित्त्वयुक्त वस्तु का वाचक नहीं होता। इसलिए (१) के साथ विलियम्स का पूर्वकल्पना का सिद्धान्त भी अनुपयुक्त है। उदाहरण के लिए, 'राहु काल्पनिक है' सत्य है जबकि 'सान्तावलाज़ क्रिसमिस पर उपहार देता है' असत्य है। परिणामतः 'सान्तावलाज क्रिसमिस पर उपहार नहीं देता है' वाक्य, प्रथम का निषेध होने से, सत्य है। इस प्रकार, यदि हम अवस्तु-निर्देशक पद के साथ अस्तित्त्व-आपादक पद जोड़ें तो घटित वाक्य असत्य होगा, किन्तु यदि हम अवस्तु-निर्देशक पद के साथ अनस्तित्त्व-आपादक विशेषण जोड़ते हैं तो घटित वाक्य सत्य भी हो सकता है।

अंत में हम हिंटिक्का द्वारा (३) के प्रत्याख्यान पर विचार करेंगे। इस प्रसंग में वह शेक्सपीयर के विचार-मग्न रहने वाले पात्र—डेन्मार्क के राजकुमार—का उदाहरण देता है। उसके अनुसार 'हूँ' 'जानता हूँ' का तार्किक फलन नहीं है, क्योंकि हेमलेट ने बहुत से विचार किये किन्तु तब भी उसका कभी अस्तित्त्व नहीं था। सटर के अनुसार, हिंटिक्का अपने इस प्रतिपादन के समर्थन में कोई युक्ति या व्याख्या नहीं देता। स्पष्टतः, यदि हेमलेट की विचारशीलता शेक्सपीयर के नाटक से सिद्ध है तब उतना ही उससे हेमलेट का अस्तित्त्व भी सिद्ध होगा। यहाँ सटर 'विचारा' और 'अवधारणा करना मानो विचारा' के भेद का प्रसंग अनावश्यक रूप से उठाते हैं और इससे उत्पन्न कल्पित भ्रांति का निवारण करते हैं। अतः उसकी चर्चा यहाँ व्यर्थ है।

अंत में वे देकार्ते की इस अत्यन्त महत्वपूर्ण और मौलिक प्रतिज्ञा पर उपर्युक्त प्रकार की व्याकरणपरक गवेषणा की व्यर्थता से आशंकित हो कर गेस्सेंडी की आपत्ति का उल्लेख करते हुए कहते हैं : देकार्ते ने 'मैं हूं' का आपादन 'मैं विचारता हूँ' से ही क्यों किया, 'मैं चलता हूं,' 'मैं थूकता हूं' आदि किसी भी अस्तित्त्व-आपादक विशेषता वाले वाक्यों से क्यों नहीं किया? 'विचारता हूं' में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी क्या विशेषता है ? दकार्ते ने इसका ज्ञानमीमांसात्मक उत्तर दिया : कि इन सब निर्णयों (अध्यवसायों) पर सन्देह किया जा सकता है, इनमें अपेक्षित तत्त्व-मीमांसात्मक असंदिग्धता का अभाव है।

× × ×

उपर्युक्त लेख का सारांश मैंने यहां इसलिए प्रस्तुत नहीं किया कि यह लेख कोई महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विचार प्रस्तुत करता है, बल्कि यह दिखाने के लिए कि आज आंग्ल-अमरीकी दर्शन गंभीर और महत्वपूर्ण दार्शनिक समस्याओं तक को आकारिक तर्क और व्याकरण की समस्याओं के रूप में घटा कर किस प्रकार उन पर निरर्थक चर्चा कर रहा है।

भगवती
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

व्यक्ति तथा वैयक्तिक एकत्व[१]

(सर्वप्रथम यहाँ 'पर्सन' तथा 'आइडेंटिटी' शब्दों के हिन्दी पर्यायों के संबंध में थोड़ा स्पष्टीकरण देना स्थाने होगा। 'व्यक्ति' और 'एकत्व' दोनों ही शब्द हिन्दी के सहज प्रयुक्त शब्द नहीं हैं, तो भी 'व्यक्ति' शब्द अंग्रेज़ी के 'इन्डीविडुअल' के लिए इधर रूढ़ हो गया है, किन्तु 'पर्सन' के लिए कोई उपयुक्त शब्द हिन्दी में नहीं है। 'पुरुष' शब्द एक सीमा तक उपयुक्त हो सकता है, किन्तु हिन्दी में इसके प्रयोग-प्रसंग बदल गए हैं। 'आइडेंटिटी' के लिए तो हिन्दी में कोई शब्द वैसा रूढ़ भी नहीं है। 'अभिन्नता', 'पहचान' आदि शब्द अंशतः इसके अर्थों को व्यक्त करते हैं। इसलिए यहां हमने इन अत्यन्त अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग करना ही उचित समझा। ये कम से कम परिचित से तो प्रतीत होंगे ही।)

वैयक्तिक एकत्व की समस्या के दो पक्ष हैं—पहला, स्वयं व्यक्ति द्वारा अपने एकत्व के बोध और अन्यों द्वारा उसके बोध में अन्तर की समस्या, और दूसरा, इस एकत्व का व्यक्ति में निरपेक्षतः अपने में निहित होना, अथवा इस बोध के लिए अन्य

---

१ Intsar-ul-Haque : The Person and Personal Identity, P.P.R., Vol. xxxi, No. 1, Sep. 1970.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति या व्यक्तियों की अपेक्षा होना। इन्तसार-उल्-हक् के अनुसार इस एकत्व का जो भी मनोवैज्ञानिक कारण हो, इस बोध का एक तार्किक आपादानव्यक्ति का एक अनन्य वैशिष्ट्य स्वीकार करना है।

वैयक्तिक एकत्व का बाह्य (अन्यों द्वारा) निर्धारण व्यक्ति के शारीरिक लक्षणों की विशिष्टता और शरीर की देश-कालगत एकता से होता है; इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति स्वयं इसका ग्रहण एक आन्तर बोध अथवा चेतना के द्वारा प्राप्त करता है। किन्तु हक् के अनुसार इस आन्तरबोध के लिए भी यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने को अन्यों के साथ व्यामिश्रित नहीं करे।

समस्या की इस स्थापना के बाद हक् ने इस पर जॉन लॉक के विचारों की चर्चा की है। लॉक ने **एन इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग** में इस प्रश्न पर विचार करते हुए कम से कम तीन प्रकार के एकत्व बताए हैं—निर्जीव वस्तुओं का एकत्व, सजीव वस्तुओं का एकत्व और व्यक्तियों का एकत्व। लॉक मानव-अस्तित्व में दो प्रकार के एकत्व देखते हैं—सजीव वस्तु-परक और व्यक्ति-परक। प्रथम को वे 'मनुष्य' और दूसरे को 'व्यक्ति' कहते हैं। व्यक्ति-परक एकत्व का अधिष्ठान वे चेतना (कांश्यस्नेस) में देखते हैं। 'चेतना' में वे आत्मबोध और स्मृति दोनों का समावेश करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार, व्यक्ति की अवधारणा इस बोध में निहित है कि मैं व्यक्ति हूँ, और वैयक्तिक एकत्व स्मृति से प्राप्त होता है।

लॉक का मनुष्य और व्यक्ति में भेद महत्वपूर्ण है। किसी समय विट्गेंस्टाइन का भी मत था कि व्यक्ति की प्रथम पुरुष और उत्तम पुरुष में अवधारणाएं सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार 'उसके दांत-दर्द हैं' और 'मेरे दांत-दर्द है' एक ही प्रतिज्ञप्ति-फलन (प्रोपोज़ीशनल फंक्शन) : 'य के दांत-दर्द है' : के दो मूल्य नहीं हैं। हक् के अनुसार, लॉक तथा विट्गेंस्टाइन के इस प्रतिपादन में दकार्ते के मनोभौतिक द्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

अब भौतिक वस्तुओं का एकत्व देश-काल के प्रसंग से निर्धारित किया जा सकता है और उनकी पहचान—पुनः पहचान-देश-कालिक सातत्य से की जा सकती है। किन्तु अभौतिक वस्तुओं के लिए यह संभव नहीं है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वेदनाएं या अनुभूतियां अनुभव-कर्त्ता को अव्यवहित रूप से प्रदत्त होती हैं और इसी प्रकार आत्म भी प्रदत्त होता है। इसी प्रकार यह बोध भी अव्यवहित होता है कि मैं वही हूँ जिसने ऐसा-ऐसा भोगा। हक् लॉक के इस दावे की युक्तता की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि वैयक्तिक एकत्व का अधिष्ठान स्मृति को मानें तो आंशिक स्मृति-भ्रंश और स्मृति-भ्रम रोगों जैसे तथ्यों की व्याख्या कैसे करेंगे? उदाहरणतः, मानलें कि एक वीर सैनिक आफीसर को बचपन में चोरी के अपराध में कोड़े पड़े, वह अपनी जवानी में एक वीर सैनिक बना और तब एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनरल बना दिया गया। अब मानलें कि इस जनरल को अपने यौवन-काल की स्मृति तो है पर बचपन की नहीं है, परन्तु यौवन में उसे अपने बचपन की स्मृति थी। अब, लॉक के सिद्धांत के अनुसार, यह जनरल वही व्यक्ति होगा भी और नहीं भी, जोकि लड़का था। वह वही व्यक्ति नहीं है क्योंकि वह बचपन को याद नहीं कर सकता, और वह वही व्यक्ति है क्योंकि वह यौवन को याद कर सकता है, जिसमें कि वह बचपन को याद कर सकता था।[२] लॉक के मत की अग्राह्यता इससे भी अधिक स्मृति-भ्रम रोग से प्रकट होती है जिसमें व्यक्ति काल्पनिक घटनाओं को अपने जीवन में घटित के समान याद करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्मृति वैयक्तिक एकत्व के लिए कोई निस्सन्दिग्ध आधार नहीं है।

किसी स्मृति के दोष अथवा सत्यता के निर्णय के लिए उसके शारीरिक एकत्व को पूर्वकल्पित करना आवश्यक है, जिसका अर्थ है व्यष्टिकरण (इन्डीविडुएशन) की विषयनिष्ठ कसौटियों का सहारा लेना। इस मत पर आपत्ति की जा सकती है कि स्मृति के लिए शरीर की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है, संप्रेषण की परामनोवैज्ञानिक विधियां हो सकती हैं और इनका स्मरण हो सकता है। किन्तु हक् के अनुसार, समस्या इस स्मृति की सत्यता की जाँच की है, और यह जाँच इसी प्रकार हो सकती है कि देखा जाय कि वास्तव में उस व्यक्ति के साथ वैसी घटनाएं घटित हुई थीं, और यह व्यक्ति सशरीर ही हो सकता है। व्यक्ति के अपने लिए भी एकत्व की स्मृति-मूलक कसौटी उपयुक्त नहीं है। क्योंकि यदि कोई अपने साथ घटित घटनाओं को भूल जाय, या उसे स्मृति-भ्रम हो, तो वह केवल स्मृति के आधार पर इसको नहीं जान सकता। वास्तव में स्मरण में अनुभवों के संबंध में विचार करने में यह पूर्वगृहीत है कि वह उन अनुभवों का अधिष्ठाता है। इसलिए वैयक्तिक एकत्व की अवधारणा स्मृति से मूलगामी है।

इसके पश्चात् हक् कुछ अनावश्यक चर्चाएं और आवृत्तियां करते हैं और तब दो प्रश्न उठाते हैं—१. हम आत्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में कैसे जानते हैं? और २. क्या इस शुद्ध आत्म को कोई उपयुक्त अर्थ (सेंसीबल मीनिंग) देना संभव है? प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि हम अन्यों को परामनोवैज्ञानिक माध्यमों से जान सकते हैं, किन्तु परामनोवैज्ञानिक संप्रेषण अन्य व्यक्तियों के सद्भाव को पूर्वकल्पित करते हैं। इसी प्रकार अनुरूपता-मूलक युक्ति में भी यह पूर्वकल्पित रहता है कि अन्य मनुष्य व्यक्ति है, क्योंकि अन्यथा उसकी चेष्टाएं अनुभव-व्यंजक नहीं मानी जा सकतीं। हक् के अनुसार व्यक्तियों के परस्पर संवाद के लिए

---

२ यह काल्पनिक उदाहरण हक् ने एंटोनी फ्लू के लेख—लॉक एंड दि प्राब्लम ऑफ पर्सनल आइडेंटिटी, फिलासफी १९५१ से लिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यष्टिकरण की कम-से-कम एक शर्त पूरी होनी आवश्यक है। देश-कालिक प्रसंग के बिना इन व्यक्तियों को पहचानना या उनका निर्धारण करना संभव नहीं हो सकता, न दो या अधिक व्यक्तियों में व्यामिश्र रोका जा सकता है। इसलिए ये व्यक्ति कोई सामाजिक प्रयोजन भी सिद्ध नहीं कर सकते।

इसके बाद हक् दूसरे प्रश्न—अर्थात् शुद्ध आत्म की सार्थक अवधारणा—की संभावना पर विचार करते हैं। इस प्रसंग में वे पी० एफ० स्ट्रॉसन तथा ए० जे० एयर के विचार प्रस्तुत करते हैं। स्ट्रॉसन के अनुसार, हम मूलतः विदेह शुद्ध आत्म की अवधारणा नहीं कर सकते, क्योंकि ऐसे आत्म को दूसरी बार पहचाना नहीं जा सकता, जोकि व्यक्ति की अवधारणा के लिए आवश्यक है। एक बार व्यक्ति को देश-काल-प्रसंग में निर्धारित कर लेने के बाद हम उसकी देह से वियुक्त शुद्ध आत्मा की कल्पना पहले के देश-काल के प्रसंग के आधार पर कर सकते हैं। हक् के अनुसार, विदेह आत्म की कल्पना मूलतः भी संभव है। उदाहरणतः वस्तु अथवा द्रव्य (सब्स्टांस) की आवधारणा का विश्लेषण गुणों अथवा संवेद-प्रदत्तों में करना संभव नहीं है। इनकी अवधारणा इनसे प्राक् है। किन्तु वे मानते हैं कि ऐसा विशुद्ध आत्म व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति में विचार, इच्छा, भावना, स्मृति तथा संभाषण-संवाद आदि होना आवश्यक है और ये शुद्ध आत्माओं में संभव नहीं हैं।

किन्तु, उनके अनुसार, व्यक्ति की अवधारणा का शरीर में पूर्णतः अंतर्भाव भी संभव नहीं है। इस प्रसंग में वे एयर के भौतिकतावाद पर टिप्पणी करते हैं। एयर ने अपनी पुस्तक "दि कांसेप्ट आफ ए पर्सन" में "अधिष्ठाता सहित" अथवा "विषयी-रहित" आत्म के दृष्किोण का प्रतिपादन किया है। इस दृष्किोण के अनुसार, हमारी मनोऽवस्थाएं हमारी शरीरावस्थाओं द्वारा जनित होती हैं, और किसी व्यक्ति के निर्धारण और उसे पहचानने के लिए उसकी देह का निर्धारण और पहचानना आवश्यक होता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है: "मेरे सब अनुभवों का अधिष्ठातृत्व मेरे अथवा इस शरीर में है।" यहां हक् पूछते हैं कि 'मेरे अनुभव' पद का क्या अर्थ है ? यहां वे एयर तथा स्ट्रॉसन के विवाद का संक्षिप्त विवरण देकर एयर से प्रश्न करते हैं कि हम शरीर पर निर्भर मानसिक अनुभवों के एकत्व की क्या व्याख्या कर सकते हैं ? एकत्व के इस अनुभव को भी यदि हम शरीर-निर्भर ही मानें तो इसका अर्थ है भौतिकतावाद का स्वीकार। किन्तु भौतिकतावाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि स्पष्टतः शारीरिक तथा मानसिक लक्षणों में अन्तर देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त, वे भौतिक विषय के एकत्व के लिए शारीरिक एकत्व को आवश्यक और पर्याप्त मानते हैं।

स्ट्रॉसन अपनी पुस्तक **इन्डीविडुअल्स** में व्यक्ति में मानसिक और शारीरिक दोनों एकत्वों को संयुक्त देखते हैं। उनके अनुसार 'व्यक्ति-अवधारणा मूल अवधारणा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वह केवल 'शरीर' अथवा 'मन' में अन्तर्भूत नहीं की जा सकती। व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व-बोध के लिए वे यह अनिवार्य मानते हैं कि व्यक्ति अपने को और अन्यों को व्यक्ति रूप में देखे। अर्थात् अपने को मनोऽवस्थाओं से विशेषित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अन्यों को उनसे विशेषित कर सकें।

एयर स्ट्रॉसन के इस प्रतिपादन पर आपत्ति करते हुए एक ऐसे जगत् की कल्पना करते हैं जिसमें एक बच्चा अकेला है। उनके अनुसार, यह बच्चा भी व्यक्तित्व की अवधारणा विकसित कर सकता है। इस बच्चे को एक मशीन से उद्दीपन दिये जाते हैं। हक् के अनुसार, यदि इन उद्दीपनों का स्रोत एकत्वात्मक नहीं हो, अर्थात् व्यक्ति नहीं हो, तो उस बच्चे में व्यक्तित्व की अवधारणा विकसित नहीं हो सकती। वैयक्तिक एकत्व की अनुभूति तभी होती है जब हम उद्दीपनों के प्रति संयोजित-संरचित हों। इस तरह कोई पूरी तरह अकेला व्यक्तित्व-धारणा नहीं कर सकता।

किन्तु अन्य व्यक्ति का एकत्व हम उसके शरीर के माध्यम के बिना ग्रहण नहीं कर सकते। यद्यपि शरीर-रहित आत्मा की कल्पना तर्कतः संभव है, किन्तु यह आत्मा व्यक्ति नहीं कही जा सकती। वास्तव में यह आत्मा व्यक्ति-कल्पना में से विश्लिष्ट अंश की संज्ञा है।

× × ×

ऊपर हमने लेख का सारांश प्रस्तुत किया। हक् ने अपनी ओर से इसमें कुछ विशेष नहीं कहा है, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न पर चर्चा की है। किन्तु यह चर्चा एक नितांत संकुचित सन्दर्भ में उठाई गई है।

भगवती
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृतिक तर्क-दोष से संबंधित जी० ई० मूर के मत[1]

सी० लेवी द्वारा लिखित इस लेख के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में लेवी मूर के उस अधूरे प्राक्कथन का सारांश देते हैं जो मूर ने "प्रिन्सिपिआ-एथिका"[2] के द्वितीय संस्करण के लिए लिखा था परन्तु जो बाद में अप्रकाशित ही रह गया। लेवी के मतानुसार यह प्राक्कथन १९२० या १९२१ में लिखा गया होगा। इस प्राक्कथन में मूर ने 'प्रि० ए०' में उपस्थित कई घपलों व भूलों को अनावृत किया है, सुधारा है, कई कथनों का स्पष्टीकरण किया है तथा कई नये विचार प्रस्तुत किये हैं। इस प्राक्कथन को पढ़कर पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि बहुत-सी ऐसी आपत्तियां जो २०वीं सदी के मध्य के आसपास मूर के विरुद्ध उठायी गयी थीं वे मूर ने २० वर्ष पहले ही अपने विरुद्ध उठा ली थीं व उनके आधार पर अपने सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण सुधार भी कर लिये थे।

लेख के द्वितीय खंड में सी० लेवी मूर द्वारा 'प्रि० ए०' में प्राकृतिक तर्कदोष के विरुद्ध दी गयी एक युक्ति का विवेचन करते हैं।

मूर द्वारा लिखित प्राक्कथन सारांश में निम्नलिखित हैं :

"शुभ" शब्द के कई अर्थ हैं परन्तु 'प्रि० ए०' का संबंध केवल इसके एक विशिष्ट अर्थ से ही है। यही अर्थ साधारण अर्थ है, इससे मूर अब सहमत नहीं हैं, परन्तु उनके विचार में यही एक मात्र वह अर्थ है जोकि उचित व अनुचित के प्रत्ययों से अनन्य व मूलतः महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रखता है।

मूर इस विषय पर अब निश्चित नहीं हैं कि उपर्युक्त अर्थ में "शुभ" सरल या अविश्लेष्य है। हो सकता है "उचित" सरल है व "शुभ" "उचित" द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। परन्तु मुख्य बात, मूर कहते हैं, यह है कि यदि "शुभ" अविश्लेष्य है तो यह आपादित होता है कि "शुभ" "सुखमय", "वांछित" आदि से सर्वसम नहीं हो सकता क्योंकि यह प्रत्यय विश्लेष्य है। परन्तु मूर के मत में यह समझना एक बड़ी भूल होगी कि "शुभ" इसलिए 'सुखमय' आदि से सर्वसम नहीं हैं क्योंकि वह अविश्लेष्य है।

---

१ Moore on Naturalistic Fallacy, by C. Lewy, p. 292, in G. E. Moore, Essays in Retrospect' Ed. Alice Ambrose and Morris Lazerowitz.

२ Principia Ethica.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"शुभ शुभ है और यह विषय का अंत है" 'प्रि०ए०' के इस कथन का विवेचन करते हुए मूर कहते हैं कि उनका तात्पर्य "शुभ" के विषय में वही कहना था जो बिशप बटलर ने समस्त वस्तुओं के विषय में सत्य माना था यथा "वह वही है जो यह है, कोई दूसरी वस्तु नहीं"। मूर का तात्पर्य यही था, कि शुभ शुभ है कुछ और नहीं। परन्तु अब मूर बताते हैं कि इस कथन के दो अर्थ हो सकते हैं। (अ) शुभ शुभ से भिन्न हर वस्तु से भिन्न है, या (ब) शुभ उस प्रत्येक वस्तु से भिन्न है जिसको हम "शुभ" के अतिरिक्त किसी शब्द द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। (अ) पूर्ण-रूपेण नगण्य व महत्त्वहीन है तथा उसमें यह निष्पादित नहीं होता कि "शुभ" अवि-श्लेष्य है, क्योंकि अपने से भिन्न हर वस्तु से भिन्न होने का गुण, चाहे वह गुण विश्लेष्य हो या अविश्लेष्य, अनिवार्य रूप से प्रत्येक गुण रखता है। (अ) से यह भी निष्पादित नहीं होता है कि "शुभ" "वांछित" आदि से भिन्न है क्योंकि यदि "शुभ" "वांछित" से सर्वसम है तब भी "शुभ" उन सब गुणों से भिन्न होगा जो इससे भिन्न हैं।

(ब) यदि सत्य है तो मूर के अनुसार यह निष्पादित होता है कि "शुभ" इस प्रकार के सभी गुणों, जैसे "सुखमय" आदि, से भिन्न होगा और तब यह धारणा भी निराधार नहीं होगी कि "शुभ" अविश्लेष्य है, क्योंकि जहां एक शब्द विश्लेष्य गुण की अभिव्यक्त करता है साधारणतया हम उस गुण को कभी ऐसे वाक्यांश द्वारा भी अभिव्यक्त करते हैं जो कई शब्दों से मिलकर बना है और जो उस गुण के विश्लेषण में सम्मिलित तत्त्वों को सूचित करता है। इस प्रकार यदि "शुभ" विश्लेष्य होता तो संभवत: इसे भी कभी-कभी इस प्रकार के किसी संश्लिष्ट वाक्यांश द्वारा अभिव्यक्त किया जाता—एक वाक्यांश जो मात्र "शुभ" शब्द से भिन्न होता। परन्तु मूर कहते हैं यह कहना कि "शुभ किसी ऐसे वाक्यांश द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता जिसमें इसका विश्लेषण अंतर्विष्ट है तथा यह कहना कि "शुभ" "शुभ" से भिन्न किसी शब्द द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, दो भिन्न बातें हैं। प्रथम सत्य हो सकती है परन्तु द्वितीय सत्य नहीं है। उदाहरणार्थ "वांछनीय" "शुभ" का समानार्थक है। अत: मूर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "शुभ शुभ है और कुछ नहीं" या तो पूर्णरूपेण रिक्त है या स्पष्टतया असत्य।

मूर अब भी यह स्वीकार करते हैं कि "शुभ" प्राकृतिक व तत्त्वमीमांसीय गुणों से सर्वसम नहीं है। मूर स्वीकार करते हैं कि यह गुण वास्तव में क्या है यह वे प्रि०ए० में स्पष्ट नहीं कर पाए हैं। इसका एक कारण है कि 'प्रि०ए०' में उन्होंने प्राकृतिक घटनाओं या वस्तुओं व इनके विशेष प्रकार के गुणों में घपला किया था। उदाहरणार्थ उन्होंने एक पीले धब्बे व उसके पीले रंग में भेद नहीं किया था। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि 'प्रि० ए०' में प्राकृतिक वस्तुओं के अवयवों व उनके गुणों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी घपला किया गया था। प्राक्कथन में मूर प्राकृतिक गुण की परिभाषा इस प्रकार देते हैं :

प्राकृतिक गुण वह है जिस पर विचार करना प्राकृतिक विज्ञानों या मनोविज्ञान का कार्य है या जिसको पूर्णरूपेण इस प्रकार के गुणों द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। एक तत्त्वमीमांसीय गुण वह है जोकि अनुभवातीत किसी वस्तु से वही सम्बन्ध रखता है जो एक प्राकृतिक गुण एक प्राकृतिक वस्तु से रखता है।

मूर के अनुसार यह प्रतिज्ञप्ति कि "शुभ" किसी प्राकृतिक या तत्त्वमीमांसीय गुण से सर्वसम नहीं है इस प्रतिज्ञप्ति को कि "शुभ" अविश्लेष्य है" न तो आपादित करता है और न वह उसके द्वारा आपादित है। परन्तु यदि 'शुभ' किसी प्राकृतिक गुण से सर्वसम नहीं है तो यह निष्पादित होता है कि यदि वह विश्लेष्य है तो इसके विश्लेषण में कोई एक ऐसा अविश्लेष्य प्रत्यय सम्मिलित होगा जो न प्राकृतिक है न तत्त्वमीमांसीय। इस प्रकार मूर के अनुसार नीतिशास्त्र में कोई अविश्लेष्य प्रत्यय अवश्य समाविष्ट है।

"शुभ" की अविश्लेष्यता के विषय में मूर बताते हैं 'प्रि० ए०' में उन्होंने इन तीन प्रतिज्ञप्तियों में घपला किया था—(क) "शुभ" अपने से भिन्न किसी गुण से सर्वसम नहीं है, (ख) "शुभ" किसी विश्लेष्य गुण से सर्वसम नहीं है, (ग) "शुभ" किसी प्राकृतिक या तत्त्वमीमांसीय गुण से सर्वसम नहीं है।

प्राकृतिक तर्क-दोष के सम्बन्ध में भी बताते हैं वे कि उन्होंने तीन प्रतिज्ञप्तियों में घपला किया था (१) अमुक व्यक्ति "शुभ" को "शुभ" से अन्य किसी गुण से सर्वसम मान रहा है (२) अमुक व्यक्ति "शुभ" को किसी विश्लेष्य गुण से सर्वसम मान रहा है (३) अमुक व्यक्ति "शुभ" को किसी प्राकृतिक या तत्त्वमीमांसीय गुण से सर्वसम मान रहा है।

मूर बताते हैं कि 'प्रि०ए०' में उन्होंने इन दो प्रतिज्ञप्तियों में भी घपला किया था :(अ) यह कहना कि अमुक व्यक्ति प्राकृतिक तर्कदोष कर रहा है यह कहना है कि एक विशेष प्रकार के गुण के सम्बन्ध में वह यह **मत** रखता है कि वह गुण "शुभ" से सर्वसम है और (ब) यह कहना कि अमुक व्यक्ति प्राकृतिक तर्कदोष कर रहा है यह कहना है कि वह "शुभ" व एक विशेष प्रकार के गुण में **घपला** कर रहा है। मूर के अनुसार यह संदेहपूर्ण है कि (अ) व (ब) में उल्लिखित किसी भी प्रक्रिया को **तर्कदोष** करना कहा जा सकता है, क्योंकि तर्कदोष एक विशेष प्रकार का **अनुमान** है। परन्तु मात्र दो गुणों में घपला करना या उनके संबंध में एक विशेष प्रकार का मत रखना अनुमान की प्रक्रिया नहीं है। प्राक्कथन में मूर प्राकृतिक तर्कदोष को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

"अमुक व्यक्ति प्राकृतिक तर्कदोष कर रहा है" का अर्थ है वह या तो "शुभ"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब किसी प्राकृतिक या तत्त्वमीमांसीय गुण में घपला कर रहा है या वह इसे इस प्रकार के गुण से सर्वसम मान रहा है या एक ऐसा अनुमान कर रहा है जो इस प्रकार के घपले पर आधारित है।

मूर स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार प्रयोग करने में वे "तर्कदोष" शब्द का एक विस्तृत व संभवतः अनुचित अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं।

यह था मूर द्वारा लिखित प्राक्कथन का सारांश। इसके पश्चात् लेवी मूर द्वारा 'प्रि०ए०' में दिये गए उस तर्क का विवेचन करते हैं जिसके द्वारा मूर यह प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं कि "शुभ" का अर्थ "उन वस्तुओं में से एक होना जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं" नहीं है। मूर का तर्क मोटे तौर पर यह था—

यदि 'शुभ' का अर्थ है उन वस्तुओं में से एक होना जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं तो "क शुभ है" का अर्थ होगा "क उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं।" परन्तु यह प्रश्न किया जा सकता है कि "क्या क की वांछा की वांछा शुभ है ?" तथा इस प्रश्न का अर्थ यह नहीं हो सकता कि "क्या क की वांछा की वांछा उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं ?" प्रथम प्रश्न करते समय हमारे मस्तिष्क में इतना जटिल कोई प्रश्न नहीं होता जितना कि यह प्रश्न है कि "क्या हम क की वांछा की वांछा की वांछा की वांछा करते हैं ?"

अब लेवी बताते हैं कि ये दोनों प्रश्न कि (१) क्या क, जो उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा को हम वांछा करते हैं शुभ है ?" तथा (२) "क्या कजो उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं ?" बहुअर्थी है। प्रत्येक के से कम दो अर्थ संभव हैं। (१) का अर्थ हो सकता है "क्या ऐसी बात है कि क शुभ है यदि और केवल यदि क उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं ?" जहां पर "यदि और केवल यदि" सत्यता फलनात्मक है या "क्या ऐसी बात है कि क शुभ है का अर्थ है कि क उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं ?" प्रथम का विधायक उत्तर होगा (१अ) ऐसी बात है कि क शुभ है यदि और केवल यदि वह उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं।" द्वितीय का विधायक उत्तर होगा (१ब) "ऐसी बात है कि क शुभ है का अर्थ है क उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं।" इसी प्रकार (२) का अर्थ हो सकता है" क्या ऐसी बात है कि क उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं यदि और केवल यदि क उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं" या "क्या ऐसी बात है कि क का उन वस्तुओं में से एक होना, जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं, उसका उन वस्तुओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में से एक होना है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं ?" प्रथम का विधायक उत्तर होगा (२अ) ऐसी बात है कि क उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं, यदि और केवल यदि वह उन वस्तुओं में से एक है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं। "द्वितीय का विधायक उत्तर होगा (२ब) ऐसी बात है कि क का उन वस्तुओं में से एक होना जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं क का उन वस्तुओं में से एक होना है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं।" अब लेवी बताते हैं कि (१अ) तथा (१ब) तथा (२अ) तथा (२ब) में एक मौलिक भेद है। यदि हम किसी भी अभिव्यक्ति को जो (१अ) को अभिव्यक्त करने वाले वाक्य में उपस्थित है किसी भी ऐसी अभिव्यक्ति द्वारा प्रतिस्थापित करें जिसका विस्तार समान है तो (१अ) की सत्यता-असत्यता अपरिवर्तित रहेगी, और यही बात (२अ) के संबंध में सत्य है। परन्तु यह न तो (१ब) न (२ब) के संबंध में सत्य है। प्रचलित तार्किक शब्दावली में जहां (१अ) व (२अ) को अभिव्यक्त करने वाले वाक्य वस्तु-निर्देशात्मक हैं (१ब) व (२ब) को अभिव्यक्त करने वाले वाक्य वस्तु-निर्देशात्मक नहीं हैं।

अब हम मूर के तर्क का एक अर्थ यह ले सकते हैं कि शुभ होना व उन वस्तुओं में से एक होना जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं एक नहीं है क्योंकि यदि ये एक होते तो (१ब) तथा (२ब) सर्वसम होते परन्तु विचार करने पर स्पष्ट है कि ये दोनों सर्वसम नहीं हैं।

लेवी के अनुसार इस अर्थ में मूर का तर्क अवैध है क्योंकि इस प्रकार तो हम किसी भी प्रत्यय को अविश्लेष्य सिद्ध कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम कह सकते हैं कि भ्राता होना व पुंस्सहोदर होना एक नहीं है क्योंकि यदि ये एक होते तो ये दो तर्कवाक्य कि "भ्राता होना पुंस्सहोदर होना है" तथा "पुंस्सहोदर होना न पुंस्सहोदर होना है" सर्वसम होते परन्तु स्पष्ट है कि ये दोनों सर्वसम नहीं हैं।

मूर के तर्क का दूसरा अर्थ यह किया जा सकता है कि शुभ होना व उन वस्तुओं में से एक होना जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं, एक नहीं हैं, क्योंकि यदि ये एक होते हैं तो (१अ) व (२अ) सर्वसम होते, परन्तु स्पष्ट है कि वे सर्व-सम नहीं हैं।

लेवी के अनुसार इस अर्थ में मूर का तर्क बिल्कुल वैध है क्योंकि यह अनिषेधात्मक है कि यदि शुभ होना उन वस्तुओं में से एक होना है जिनकी वांछा की हम वांछा करते हैं तो (१अ) व (२अ) सर्वसम होंगे। परन्तु (१अ) व (२अ) सर्वसम नहीं हैं और यह इस निश्चित तथ्य से निष्पादित होता है कि हम (२अ) पर संदेह बिना (१अ) पर संदेह किये संदेह कर सकते हैं—ऐसा तार्किक रूप से संभव है तथा ये दोनों तथ्य इस निश्चित तथ्य से निष्पादित होते हैं कि जहां (२अ) अनिवार्य है (१अ) आपातिक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त यह संभव नहीं है कि इस तर्क द्वारा हम किसी भी प्रत्यय को ग्रविश्लेष्य प्रमाणित कर दें। निश्चय ही यदि भ्राता होना एक पुंस्सहोदर होना है तब यह प्रतिज्ञप्ति कि 'एक जीव भ्राता है यदि ग्रौर केवल यदि वह पुंस्सहोदर है' इस प्रतिज्ञप्ति से प्रथम होगी कि "एक जीव पुंस्सहोदर है यदि ग्रौर केवल यदि वह पुंस्सहोदर है।" परन्तु ये दोनों सर्वसम हैं।

लेवी के ग्रनुसार समान तर्क द्वारा किसी भी ऐसे सिद्धान्त को, जो "शुभ" को किसी ऐसे प्रत्यय से सर्वसम मानता है जो स्वयं ग्रांशिक रूप से भी नैतिक नहीं है, खंडित किया जा सकता है।

ग्राभा चतुर्वेदी
दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

———

प्रयोजनवादी ग्रान्दोलन[1]

इस लेख में गैरी एम० ब्रॉड्स्की ने प्रयोजनवादी ग्रान्दोलन के इतिहास ग्रौर दर्शन का सूक्ष्म ग्रौर विस्तृत विवेचन किया है ग्रौर यह दिखाने का प्रयास किया है कि ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं।

प्रयोजनवादियों ग्रौर प्रयोजनवाद पर बढ़ते हुए साहित्य ने, क्वाइन ग्रौर सैल्लर्ज जैसे समकालीन चिन्तकों के दर्शन ने, ग्रौर एयर[2] एवं थेयर[3] की रचनाग्रों ने—जिन पर इस लेख में विशेष रूप से हम ग्रपना ध्यान केन्द्रित करेंगे—पर्स, जेम्स ग्रौर ड्यूई की रचनाग्रों की महत्ता ग्रौर उनकी जीवनी शक्ति को हमारे सम्मुख उद्घाटित कर दिया है ग्रौर ग्रब हमें इस बात के लिए कोई प्रमाण देने की ग्राव-श्यकता नहीं है कि दार्शनिक समाज ने उनके विचारों को भलीभांति समझ-बूझकर ग्रात्मसात् कर लिया है। किन्तु एयर ने जहां ग्रपनी पुस्तक में केवल पर्स ग्रौर जेम्स को ही विचार का बिन्दु बनाया है वहां थेयर ने ग्रपनी पुस्तक में सभी छोटे-बड़े प्रयोजनवादियों के मतों का समाविष्ट करने का भागीरथ प्रयास किया है ग्रौर ब्रॉड्स्की के ग्रनुसार उन्होंने सभी विचारकों के चिन्तन का संक्षिप्त, यथार्थ ग्रौर सूझ-पूर्ण विवरण एवं विवेचन प्रस्तुत किया है।

---

१ गेरी एम० ब्रॉड्स्की, "दी प्रेग्मैटिक मूवमैन्ट," दी रिव्यू ग्रॉव मैटाफिजिक्स खण्ड २५ नं० २ (दिसम्बर, १९७१) पृ० २६२-२९१।

२ ए० जे० एयर, दी ग्रॉरिजिन्स ग्रॉव प्रेग्मॅटिज्म (सैन फ्रान्सिस्को: फ्रीमैन, कूपर एण्ड कम्पनी, १९६८)।

३ एच.एस. थेयर, मीनिंग एण्ड एक्शन (न्यूयार्क: दी बाब्स मैरिल कम्पनी इंक १९६८)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एयर ने प्रयोजनवाद को गत्यात्मक दर्शन कहकर इसे प्राचीन और अर्वाचीन दार्शनिक सम्प्रदायों से पृथक् किया है। उनके मत में केवल पर्स के ही नहीं अपितु जेम्स, ड्यूई और उनके अनुगामियों के दर्शन को भी गत्यात्मक कहा जा सकता है। प्लेटो, देकार्ते आदि दार्शनिक मनुष्य को संसार का शुद्ध द्रष्टा मात्र बना देते हैं, मानो शुद्ध चेतना सनातन सत्यों का अवलोकन कर रही हो। किन्तु प्रयोजनवादी मनुष्य को जगत् के साथ-साथ चलने वाला, उसके अनुरूप अपने को ढालने वाला और उसे अपने अनुरूप ढालने वाले के रूप में चित्रित करते हैं और यह मानव की गरिमा और उसकी सृजनात्मक चेतना की स्पष्ट स्वीकृति है।

यद्यपि एयर पर्स के विज्ञान, चिह्न (साइन्स) और कोटियों के सिद्धान्त के और जेम्स के मौलिक अनुभववाद के बारे में बहुत कुछ कहते हैं किन्तु वे इन विषयों के आपसी सम्बन्ध को बताने के लिए वास्तव में कोई प्रयत्न नहीं करता। साथ ही एयर यह तो बताते हैं कि जेम्स, पर्स और ड्यूई प्रयोजनवाद के बारे में भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी एवं असंगत धारणाएं प्रस्तुत करते हैं किन्तु वे यह बताना भूल जाते हैं कि अन्ततः प्रयोजनवाद दार्शनिकीकरण की एक ही शैली, पद्धति या प्रकार है जोकि सभी प्रयोजनवादी दार्शनिकों में समानरूप से विद्यमान है, फिर चाहे उनके सिद्धान्त परस्पर विरोधी ही क्यों न प्रतीत होते हों। जेम्स के दर्शन के अपने प्रतिपादन एवं विवेचन में एयर इसी मत की पुष्टि करते हैं और इसलिए ब्रॉड्स्की ने इस ख़तरे की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। अपनी समस्त असंगतियों के बावजूद ये सभी प्रयोजनवादी एक ही वैचारिक आन्दोलन की सृष्टि करते हैं। यह प्रयोजनवाद जहाँ एक ओर बहुत से परम्परावादी दर्शनों की आलोचना प्रस्तुत करता है वहां दूसरी ओर यह कतिपय विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति भी करता है। थेयर यद्यपि इस बात से इन्कार कर देते हैं कि उनकी पुस्तक इस वैचारिक क्रान्ति का 'निर्णायक' इतिहास है किन्तु ब्राड्स्की के मत में यह बरसों तक इस आन्दोलन का निर्णायक इतिहास रहेगी।

थेयर की पुस्तक में प्रयोजनवाद का विशद विवेचन हुआ है और वहां उसने उन तीन घटक तत्त्वों की छानबीन की है जो विभिन्न प्रयोजनवादियों को एक ही आन्दोलन में शामिल कर देते हैं।

(१) प्रयोजनवाद उस एक अव्यवस्थित किन्तु विस्तृत समस्या के प्रतिक्रिया-स्वरूप उद्भूत हुआ है जो देकार्ते के समय से दर्शन के क्षेत्र पर छायी रही है—ज्ञान समस्या, वह विरोध जोकि सत् की अवधारणा और धीरे-धीरे की बदलते हुए नैतिक मूल्यों के प्रतिमान के बीच रहा है।

(२) बुद्धि की उपेक्षा या जगत् का निराकरण या मानवीय विश्वास को अस्वीकार करने के स्थान पर प्रयोजनवाद विज्ञान, तकनीकी और नैतिक आदर्शों को एक ही समंजस व्याख्या में लाने का प्रयास करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) प्रयोजनवाद अन्वेषण या परिपृच्छा का गत्यात्मक सिद्धान्त है।

ब्रॉड्स्की के मत में एयर की सबसे बड़ी भूल यह है कि उसने नैतिक और अधिनैतिक प्रश्नों के प्रयोजनवादी निरूपण की सर्वथा उपेक्षा करदी है और इसीलिए उसने ड्यूई को न तो मुख्य प्रयोजनवादी माना है और न ही एक अच्छा दार्शनिक माना है, अपितु, उसे पपीनी और शिलर की भाँति इस आन्दोलन का प्रचारक माना है। (पृ-३४) थेयर हमारा ध्यान प्रयोजनवाद में मूल्यों और मूल्यों सम्बन्धी निर्णयों के महत्त्व की ओर आकृष्ट करते हैं और इसीलिए वे एयर द्वारा की गई भारी भूल को सुधार देते हैं।

एयर का मत है कि प्रयोजनवादी स्वयं को एक ऐसे जिज्ञासु अन्वेषक के रूप में रखते हैं जो नित्य परिवर्तनशील जगत् के अनुरूप अपने को ढालने में प्रयत्नरत रहता है और जो उसके विकास और उन्नयन में सहायता देता है। थेयर ने प्रयोजनवाद को एक आन्दोलन के रूप में समझने और प्रस्तुत करने का प्रयास किया है (पृ–३) जोकि ब्रॉड्स्की के अनुसार उनकी भारी भूल है। हमें प्रयोजनवाद के इतिहास को भी मात्र इतिवृत्त न बनाकर उसे सर्जनात्मक रूप से प्रयुक्त करना चाहिये और उससे प्रयोजनवादी दर्शन का पुनः निर्माण करना चाहिये।

थेयर का कहना है कि प्रयोजनवाद के इतिहास के अध्ययन के लिए किया गया हमारा प्रयत्न निष्फल नहीं जाता, किन्तु ब्रॉड्स्की के अनुसार थेयर ने अपनी पुस्तक में इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया है कि इस इतिहास का अध्ययन हमें क्या दार्शनिक सीख देता है। जबकि थेयर से यह अपेक्षा थी कि वह इस प्रश्न का कोई संभव और समुचित उत्तर देगा, दुर्भाग्यवश वह ऐसा करने में सफल नहीं हुआ है। फिर भी कुछ परिकल्पनाएं हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं जिनमें से निम्न पर हम ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं :—

(१) प्रयोजनवाद ने उत्तरोत्तर एकोन्मुख प्रगति की है जिसमें कि बाद के प्रतिपादन उस आन्दोलन के पहले के विचारों से अधिक परिष्कृत, सम्यक्, उपयुक्त और व्यापक हैं।

(२) प्रयोजनवादी आन्दोलन दो अधिकांशतः भिन्न और आपस में असंगत दार्शनिक योजनाओं का स्पष्टतया सूक्ष्म और अस्थायी संयोग है—अर्थात् एक ओर तो पर्स और ड्यूई के प्रयोजनवाद का और दूसरी ओर जेम्स, शिलर एवं कुछ फ्रेंच और इटालियन प्रयोजनवादियों का। इन भिन्न एवं असंगत विचारों की एक ही आन्दोलन के अन्तर्गत इसलिए चर्चा की जाती है क्योंकि ये दोनों दार्शनिक समस्याओं का हल एक समान ढंग से ही करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु इस ऐतिहासिक एकता के होते हुए भी दोनों में गहन दार्शनिक अन्तर को नहीं भुलाया जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) इस प्रयोजनवादी आन्दोलन के अनेक उप-आन्दोलन और सहयोगी धाराएं हैं और उनमें से महत्त्वपूर्ण वे हैं जो जेम्स के दर्शन से संबंधित हैं।

उक्त वर्णित तीन परिकल्पनाओं में से प्रथम परिकल्पना ही दार्शनिक दृष्टि-कोण से आकर्षक और महत्त्व की है और शायद थेयर इसी के पक्ष में हैं। किन्तु ब्रॉड्स्की के मतानुसार थेयर ने तीनों परिकल्पनाओं के पक्ष में समुचित व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है और न उन्होंने कोई उपयुक्त तर्क प्रस्तुत किये हैं। इसलिए हम इन्हें नज़रअन्दाज़ कर सकते हैं। तब भी ब्रॉड्स्की का कहना है कि प्रथम तीनों परिकल्पनाएं यद्यपि किसी सीमा तक कार्य करती हैं किन्तु अन्त में सभी प्रयोजन-वादियों के दर्शन को विस्तृत और सूक्ष्म रूप से समझने के प्रयास में असफल हो जाती हैं।

प्रयोजनवाद के इतिहास लेखक के समक्ष पहली कठिनाई तो इस बात से उपस्थित होती है कि प्रयोजनवादियों ने एकसमान शब्दावली का न तो प्रतिपादन किया है और न ही उसका उपयोग। दूसरे, यदि इस प्रयोजनवाद के दर्शन को इसके इतिहास के माध्यम से समझना चाहें तो इसमें हमें सफलता नहीं मिलेगी, क्योंकि तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि यह एक विशिष्ट दर्शन होने के बजाय विचारों का एक संग्रह मात्र है (थेयर इसी मत को मानते हैं)। इस मत के अनुसार प्रयोजनवाद या तो दर्शन नहीं रहेगा या बहुत कम दर्शन रह जायगा। थेयर शायद इसी मत को मानते हुए लिखते हैं कि "प्रयोजनवाद प्रारम्भ से ही न तो दर्शन की किसी योजना के रूप में, न किसी सम्प्रदाय के रूप में और न ही किसी नयी परम्परा के रूप में विकसित हुआ था।" (पृ० ३४८) प्रयोजनवाद का भविष्य विचारों के एक अर्थगर्भित समूह के रूप में ही है किसी सम्प्रदाय के रूप में नहीं। किन्तु थेयर अन्ततः इस विकल्प को स्वीकार नहीं करते और वे अन्ततः प्रयोजनवाद का एक ऐसा रूप चुनते हैं जिसमें उसके इतिहास और दर्शन को अलग-अलग रखा जा सके, और अपनी पुस्तक के अन्तिम एक तिहाई भाग में वे इसके दर्शन की चर्चा करते हैं। साथ ही थेयर इस आन्दोलन को उससे अधिक एकता और समंजसता प्रदान करना चाहते हैं जितनी वस्तुतः उसमें है। ब्रॉड्स्की के मतानुसार यहां भी थेयर गलती पर हैं।

थेयर कहते हैं कि ड्यूई पर्स और जेम्स के प्रमुख विचारों को ही पुनः सूत्रबद्ध करता है। किन्तु ब्रॉड्स्की का कहना है कि ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि पर्स और जेम्स की तत्त्वमीमांसा, योजनाएं और उनके अर्थ और विधि के सिद्धान्त भी भिन्न-भिन्न हैं। पर्स जबकि सामान्यों को सत् मानते हैं जेम्स नाममात्रवादी हैं, एक बुद्धिवादी है तो दूसरा बुद्धिवाद का विरोधी है, पहला कठोरस्वभाव है तो दूसरा कोमलस्वभाव यद्यपि यह पहले ही कहा जा चुका है कि ड्यूई जेम्स की अपेक्षा पर्स के अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकट है किन्तु तो भी साथ ही साथ यह भी सही है कि ड्यूई को पर्स और जेम्स दोनों ने ही अपने-अपने ढंग से प्रभावित किया है। इतना होते हुए भी ड्यूई के विचारों को न तो उनकी (पर्स और जेम्स की) सम्प्रत्यायात्मक योजनाओं में रखा जा सकता और न ही यह कहा जा सकता है कि ड्यूई में आकर वही विचार अपनी चरमावस्था को प्राप्त हुआ है जो पर्स और जेम्स के दर्शनों में मौजूद था और विकसित हो रहा था। थेयर ने ड्यूई को तार्किक पर्स और मानवतावादी जेम्स का संश्लेषण कहा है, किन्तु इस प्रकार का हेगेलीय संश्लेषण इस स्थान पर उचित नहीं है। अनेकों महत्त्वपूर्ण स्थलों पर उनके दर्शनों में मौलिक और स्पष्ट अन्तर है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रयोजनवाद के इतिहास—लेखक का इस प्रकार का अधिक सरलीकरण दर्शन को विकृत कर देता है और तब हम विभिन्न दर्शनों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न करने को बाध्य हो जाते हैं, जिसे दार्शनिक स्तर पर कभी भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। ब्रॉड्स्की ने बहुत विस्तार में जाकर थेयर के इस मत को चुनौती दी है और उन्होंने इस प्रकार के कार्य को अनुचित बताया है। पर्स, जेम्स और ड्यूई सभी के सिद्धान्त प्रयोजनवादी होते हुए भी उनमें मौलिकता है और ये विचार एवं सिद्धान्त कोई एक सीधी रेखा में विकसित नहीं हुए हैं अपितु उनमें बहुत से महत्त्वपूर्ण उतार-चढ़ाव हैं जोकि बहुत आकर्ष हैं, और इन्हीं के द्वारा ये तीनों दार्शनिक प्रयोजनवाद के क्षेत्र में अग्रणी बने हुए हैं।

जेम्स द्वारा की गई एक भारी भूल की ओर भी ब्रॉड्स्की ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि जेम्स ने यूरोप के प्रयोजनवादियों को प्रयोजनवादी आन्दोलन में शामिल करके ग़लती की क्योंकि वे इसकी विषयीनिष्ठ और भावनावादी व्याख्या प्रस्तुत कर रहे थे और इस तरह जेम्स ने अपने सैकड़ों आलोचक उत्पन्न कर लिए जिन्होंने उसके विभिन्न सिद्धान्तों की कटु आलोचना की। उसकी पुस्तक "दि विल टू बिलीव" को अधिकांशतः ऐसे ही आलोचकों की कोप-दृष्टि का भाजन होना पड़ा।

ब्रॉड्स्की का कहना है कि प्रयोजनवादी आन्दोलन के उक्त स्वरूप की अपेक्षा वे उसकी ऐसी व्याख्या चुनते हैं जो पर्स, जेम्स और ड्यूई में सम्य पर ज़ोर देती है और यूरोप के उन प्रयोजनवादियों को बाह्य या सीमांतीय व्यक्ति मानती है जिन्हें जेम्स के प्रयासों के फलस्वरूप इसमें स्थान दे दिया गया था।

अतः हमें इस प्रयोजनवादी आन्दोलन के इतिहास और दर्शन को पृथक्-पृथक् समझना चहिये और इसके इतिहास को इस तरह लिखा जाना चाहिए जिससे समकालीन दार्शनिक चिन्तन और उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता मिल सके। यदि हम इसके इतिहास के प्रति वफादार होना चाहते हैं तो हमें जेम्स के अनुरूप ही यह मानना होगा कि प्रयोजनवाद का कोई सैद्धान्तिक दुराग्रह नहीं है अपितु यह तो केवल एक विधि है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रॉड्स्की इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि थेयर ने अनेकों अन्य भूलों के अतिरिक्त यह मानकर भी भारी भूल की है कि इस आन्दोलन के इतिहास से हमें इसके दर्शन को समझने में सहायता मिलती है। वस्तुतः प्रयोजनवादी आन्दोलन के इतिहास और दर्शन में परस्पर विरोध है। इसके इतिहास में कोई स्पष्ट और सीधी धारा नहीं है और असल में यह तो केवल विभिन्न प्रयोजनवादों का इतिवृत्त मात्र है। यदि हम इसके इतिहास के प्रति निष्ठावान् होना चाहते हैं तो ऐसा हम इसके दर्शन के स्तर पर नहीं कर सकते। इसके विपरीत यदि कोई इसके इतिहास का उपयोग इसके दर्शन के लिए करना चाहे तो उसे एक तो बहुत अधिक सरलीकरण के लिए तैयार होना होगा और दूसरे शायद उसे इसकी विषयवस्तु में भी बहुत तोड़-मरोड़ करनी पड़ेगी। इन दो विकल्पों के बीच एक मध्यम मार्ग और है, कि हम इसके इतिहास का उपयोग इसके दर्शन के पुनर्निर्माण के प्रारम्भिक बिन्दु के रूप में करें या इसके दर्शन के प्रतिपादन के लिए करें। यदि हम इसके इतिहास का इस तरह से उपयोग करें तो इससे प्रयोजनवादी विषयवस्तुओं, अन्तर्दृष्टियों और युक्तियों को स्पष्ट रूप से समझने में बड़ी सहायता मिलेगी।

रमेशचन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" ऐसा कोई विचार संभव नहीं है जिसमें शब्द का अनुवेध न हो। शब्द के ही सहारे बुद्धि-प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसी कारण विचार-पद्धतियाँ एवं दृष्टियाँ भाषा की अपेक्षा रखती हैं। किसी भी देश में स्वतन्त्र चिन्तन का विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसके निवासी अपनी मातृ-भाषा में अपना चिन्तन एवं लेखन नहीं करें। भारत की सभी भाषाएं समान परम्परा के अन्तःसूत्र से बँधी हैं और उनका पूर्ण विकास हिन्दी के विकास का अविरोधी ही नहीं है अपितु हिन्दी के उत्कर्ष से ही उनकी परस्पर-सम्बद्धता अभिषिक्त होती है। अतः स्वतन्त्र चिन्तन के विकास एवं भारत की अखण्ड एकता के लिए हिन्दी के विकास में सहयोग देना सभी भारतीयों का कर्त्तव्य है।

राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, ए. २३, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-४ के लिये श्री यशदेव शल्य द्वारा प्रकाशित तथा संपादित, एवं अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स, घी वालों का रास्ता, जयपुर से मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
66163

दर्शन-समीक्षा

संपादक :

यशदेव शल्य

वर्ष : २ दिसम्बर, १९७२ अंक : २

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

CC-0: In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

66163
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन-समीक्षा

षाण्मासिक

वर्ष : २ दिसम्बर, १९७२ अंक : २

सम्पादक
यशदेव शल्य

परामर्शदाता :
चांदमल, दयाकृष्ण, नन्दकिशोर देवराज
राजेन्द्रप्रसाद, रूपरेखा वर्मा

विषय-सूची

१. धर्म-दर्शन	बसन्तकुमार लाल	१६६
२. डेविड ह्यूम का दर्शन	एस० भारद्वाज बी० के० भारद्वाज	१६३
३. डेकार्ट	यशदेव शल्य	२२१
लेख–सारांश		
कंटेंपोरेरी इंडियन फिलासफी से चार लेख	भगवती	२४५
ज्ञान का सामाजिक परिवेश	रमेशचन्द्र शर्मा	२६३
पुस्तक समीक्षा		
विषय और आत्म–ले० यशदेव शल्य	राजेन्द्र पांडेय	२६६
सम्मतियाँ		२७३
शुद्धि पत्र		२७५

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय
ग्रन्थ-योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

वार्षिक शुल्क : साधारण : १२.००
संस्थाओं के लिए : २०.००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म-दर्शन*

बसन्तकुमार लाल

धर्म-दर्शन के विवेचन में दो प्रश्नों पर विचार अनिवार्य है, (क) धर्म क्या है ? तथा (ख) दर्शन क्या है ? पुस्तक में प्रथम प्रश्न पर विचार पहले हुआ है, किन्तु दूसरे प्रश्न पर पहले विचार करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि इससे पहले प्रश्न के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है। वैसे, लेखक का स्पष्ट मत है कि दर्शनशास्त्र तथा धर्मदर्शन की प्रमुख धाराएँ प्रायः साथ ही प्रवाहित होती रही हैं। दोनों का उद्देश्य विश्व एवं सत्ता के सम्बन्ध में ऐसा ज्ञानोपार्जन है जिसके अनुरूप जीवन को ढाला जा सकता है। सार्थक दर्शन तथा यथार्थ धर्म में अन्तर नहीं है, बौद्धिक जीवन धार्मिक जीवन है तथा धार्मिक जीवन मूलतः बौद्धिक जीवन ही है।

इस निष्कर्ष की स्थापना की चेष्टा में पुस्तक दर्शन की मुख्य समस्याओं में उलझ जाती है। दार्शनिक दृष्टिकोण और दर्शन की समस्याओं के निरूपण के आधार पर धर्म के स्वरूप तथा धर्म-दर्शन की समस्याओं पर विचार होता है। तो, पुस्तक की जिज्ञासा तात्त्विक भी है और धार्मिक भी। पहले हम तात्त्विक विचारों का उल्लेख करेंगे।

प्रारम्भिक तत्त्व तथा विधि

तात्त्विक विचार के प्रारम्भिक प्रश्न हैं—विचार के मूल तत्त्व क्या हैं तथा विचार की प्रगति की विधि क्या है ? एक दृष्टि से दोनों प्रश्नों में आन्तरिक सम्बन्ध है, क्योंकि विधि की खोज प्रारम्भिक 'तत्त्व' की उपलब्धि पर ही आधृत है।

प्रारम्भिक तत्त्व का प्रश्न महत्त्वपूर्ण इस कारण भी है कि किसी पूर्वमान्यता पर आधृत दर्शन संकुचित तथा उस मान्यता के दोष से दूषित हो जाता है। इसी कारण सन्त आगस्टीन तथा डेकार्ट ने **संशय-विधि** का मार्ग अपनाया था। पैटर्सन इस विधि से प्रभावित हैं, किन्तु उनके मत में इस विधि का स्पष्टीकरण आवश्यक है, क्योंकि इस विधि को प्रायः ग़लत ढंग से समझा जाता है।

---

*Robert Lee Patterson, *A Philosophy of Religion*. Durham, Duke University Press, 1970.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस विधि के विरुद्ध सामान्य आपत्ति है कि 'सार्वभौम-संशय' असम्भव है और अमनोवैज्ञानिक भी। किन्तु, ऐसी आपत्ति इस विधि के स्वरूप को नहीं समझने के कारण ही उठायी जाती है। इस विधि के उपयुक्त प्रयोग का अर्थ हर अस्तित्व अथवा हर ज्ञान पर सन्देह करना नहीं अपितु यह देखना है कि क्या सार्वभौम संशय सम्भव है? संशय का लक्ष्य उस तत्त्व की खोज है जिसे संशय की कोई आँधी डिगा न सके।

संशय-विधि का अर्थ शून्य से प्रारम्भ करना नहीं है। इस विधि के प्रयोग में मस्तिष्क से सभी अनुभव-तत्त्वों का बहिष्कार आवश्यक नहीं है। यदि मन में कोई भाव या विचार रहे ही नहीं तो संशय का विषय ही लुप्त हो जायगा। इस विधि का महत्त्व और इसके उचित प्रयोग की यथार्थता इतने से ही सिद्ध हो जाती है कि इसी प्रकार की संदेह-प्रणाली से सन्देह-कर्त्ता अथवा विचारक अथवा आत्म के अस्तित्व की चेतना होती है। पैटर्सन डेकार्ट की संशय-विधि को बड़ा महत्त्व देते हैं, यहाँ तक कि उनका प्रायः निश्चित निष्कर्ष है कि हर ज्ञान का प्रारम्भिक आधार है 'आत्म-अस्तित्व की चेतना'। अनुभूति का अर्थ ही है—यह अनुभूति कि 'मुझे अनुभूति है'। आत्म-अस्तित्व संशय के परे है। आत्म-अस्तित्व का ज्ञान अनुमानजन्य नहीं, यह तो हर अनुभूति में अन्तर्निहित चेतना है।

इस स्थल पर एक आपत्ति उठायी जा सकती है, कहा जा सकता है कि कोई आत्म-अस्तित्व की चेतना के साथ जन्म नहीं लेता। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अहं-बोध (इगो-सेन्स) वास्तविकता तथा भौतिक जगत् से सम्पर्क के फलस्वरूप ही प्रकट होता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आत्म-अस्तित्व की चेतना मौलिक नहीं, जन्मजात नहीं, बल्कि परोक्ष है, क्योंकि यह कुछ उपादानों के अनुभव के फलस्वरूप ही विकसित होती है?

लेखक इस आपत्ति का समाधान बड़े ही सरल ढंग से करते हैं। इस चेतना का प्रादुर्भाव कैसे हुआ—यह महत्त्वपूर्ण नहीं। प्रश्न यह है कि आत्म-अस्तित्व पर संदेह किया जा सकता है या नहीं? स्पष्ट है, यदि आत्म-अस्तित्व पर संदेह किया गया तो सभी ज्ञान, साक्षात् हो या परोक्ष, अनुभवजन्य हो या अनुमान-जन्य, असम्भव हो जायंगे। आत्म-अस्तित्व के निषेध के विचार में भी आत्म-अस्तित्व निहित है।

अब, दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है—आत्म-अस्तित्व की चेतना में किस विषय या किन विषयों की अनुभूति होती है? इस चेतना के अंशभूत मूलतत्त्व क्या हैं? कुछ लोगों का विचार है कि आत्म की अनुभूति तो हमें होती है, उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। हमें यह ज्ञात हो जाता है कि 'आत्म है', किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि वह क्या है। लेखक को यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। यदि हमें आत्म-अस्तित्व का ज्ञान है तो आत्म-स्वरूप का भी कुछ ज्ञान अवश्य है। ह्यूम ने आत्म-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान की सम्भावना का खण्डन किया, क्योंकि अनुभव में उन्हें आत्म-अस्तित्व का कोई आधार नहीं मिलता। किन्तु, वे भूल जाते हैं कि आत्म-अस्तित्व की आलोचना भी आलोचक ह्यूम को माने बिना सम्भव नहीं। सी० डी० ब्रॉड ने कहा कि 'अनुभव की आवृत्ति' के फलस्वरूप हम आत्म तथा विषय का अन्तर कर लेते हैं, किन्तु, 'अनुभव की आवृत्ति' के विश्लेषण में ब्रॉड प्रागनुभविक तथा संप्रत्ययात्मक तत्त्वों में उलझ जाते हैं। फलतः आत्म-भाव पुनः तात्त्विक तथा सत्तामूलक कठिनाइयों से घिर जाता है। ब्रॉड को स्वीकार करना पड़ता है कि आत्म कोई तत्त्व (इगो) नहीं बल्कि मानसिक स्थितियों की शृंखला-मात्र है। लेखक के मत में इससे मूल समस्या का निराकरण नहीं होता। यदि आत्म को मानसिक स्थितियों का क्रम मान लिया जाय तो फिर मूल प्रश्न रह ही जाता है: इन स्थितियों अथवा इस क्रम की अनुभूति का आधार क्या है? यदि यह अनुभूति मुझे ही होती है तो क्या इसे आत्म-अनुभूति नहीं कहेंगे? यदि ऐसा नहीं कहते तो एक विचित्र निष्कर्ष निकलता है: 'मुझे अनुभूति है कि 'आत्म' है, किन्तु यह अनुभूति नहीं होती कि 'मैं आत्म हूँ'।'

इस कठिनाई से निकलने का एक सरल मार्ग पैटर्सन को मिल जाता है, जो डेकार्ट का समर्थक भी है और लोक-संज्ञान के अनुरूप भी। आत्म-स्वरूप की विवेचना के लिए हम यह सोचें कि आत्म-निरीक्षण अथवा अन्तर्निरीक्षण से हमें क्या ज्ञात होता है? इतना तो स्पष्ट है कि ज्ञान, भावना, कर्म आदि शून्य में नहीं होते, उनके लिए हमें ज्ञाता, भोक्ता अथवा कर्त्ता को मानना पड़ता है। उनके स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं, शंकाएँ उठ सकती हैं, किन्तु उन्हें स्वीकार किये बिना अन्तर्निरीक्षण भी सम्भव नहीं। तो अन्तर्निरीक्षण से आत्म का ज्ञान ज्ञाता, भोक्ता, कर्त्ता आदि के रूप में होता है। इस स्थल पर आपत्ति उठायी जा सकती है कि इस प्रकार का ज्ञान, ज्ञान के स्वरूप से संगत नहीं है। ज्ञान में अनिवार्यतः ज्ञाता तथा ज्ञेय का द्वैत रहता है। इसी मूल कारण के फलस्वरूप आत्म-ज्ञान को असम्भव कहा जाता है। पैटर्सन के मत में अन्तर्निरीक्षण की क्रिया की सम्भावना ही इस आपत्ति का खण्डन कर देती है। आत्म-अनुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत का विलयन हो जाता है, इसी कारण तो आत्म-अनुभूति को **विशिष्ट ज्ञान** कहा गया है। **मैक्टैगार्ट** ने तो स्पष्ट दिखलाया है कि आत्म-अस्तित्व का निषेध ही आत्म-व्याघातक है।

चिन्तन के मूल तत्त्व

आत्म-अस्तित्व की अनिवार्यता स्वीकार करते ही दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि आत्मचिंतक के रूप में ज्ञात होता है तो चिन्तन के मूल तत्त्व क्या हैं? अथवा, हम पूछ सकते हैं कि आत्म-निरीक्षण में हमें कौन से अनिवार्य तत्त्व प्राप्त होते हैं? आत्म की अनुभूति एक ऐसे विषयी के रूप में होती है जो एक विशिष्ट वातावरण में विषयों से घिरा है और जिसका स्वरूप इन विषयों के प्रति उसकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से निर्धारित होता है। इन क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के उपकरणों की व्याख्या से चिन्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मूल विषयों का स्पष्टीकरण हो जाता है। इनकी जानकारी मूलतः अन्तर्निरीक्षण से होती है, या फिर अन्तर्निरीक्षण से प्राप्त तत्त्वों पर और चिन्तन करने से।

गुण :

प्रथमतः **गुण** की व्याख्या की गई है। गुणों के साधारण उदाहरण के रूप में आह्लाद, दुःख, आशा आदि आन्तरिक स्थितियों की अनुभूति का उल्लेख किया जा सकता है। गुणों में मात्रा-भेद भी होता है, किन्तु कुछ गुणों में मात्रा-भेद नहीं भी होता है। प्रसन्नता में अधिक या कम का अन्तर हो सकता है, गोलाई में नहीं। गुणों की इन विशिष्टताओं को ध्यान में रखते हुए इनके स्वरूप को समझने की चेष्टा की जा सकती है।

मैक्टैगार्ट का कहना है कि गुण की परिभाषा नहीं दी जा सकती। गुण को अपरिभाष्य कहने का तात्पर्य है कि गुण की व्याख्या ऐसे तत्त्वों के द्वारा नहीं हो सकती जो गुण नहीं हैं। किन्तु मैक्टैगार्ट स्वयं इस बात को भूल जाते हैं और गुण की व्याख्या में विभिन्न प्रकार के गुणों का विवरण देते हैं। उनके विवरण में सरल गुण, मिश्रित गुण, अभावात्मक गुण, सम्बन्धसूचक गुण आदि विभिन्न प्रकार के गुणों का उल्लेख है। लेखक मैक्टैगार्ट के इन गुणों का विशद विवेचन करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन गुणों को भिन्न-भिन्न कोटि का गुण मानना युक्तिसंगत नहीं है। उनके मत में गुणों की व्याख्या में चिन्तन से परे जाने की आवश्यकता नहीं है। तब यह है कि कुछ गुण चिन्तन के आन्तरिक गुण हैं तथा कुछ गुण (जैसे इन्द्रिय गुण) बाह्य हैं।

द्रव्य :

अन्तर्निरीक्षण में हमें आत्म के गुणों की अनुभूति होती है तथा उन गुणों को धारण करने वाले आधार—आत्म—की भी। एक के बिना दूसरे की अनुभूति असंभव है। अनुभूत गुण द्रव्य में अन्तर्निहित हैं। साधारणतः 'द्रव्य' शब्द उस शाश्वत तत्त्व को सूचित करता है जो परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता, जो घटित नहीं होता। लेखक को द्रव्य तथा घटना का यह अन्तर उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। जलप्रपात के उदाहरण में कहा नहीं जा सकता कि जलप्रपात का शाश्वत तत्त्व क्या है और उसके परिवर्तित तत्त्व क्या हैं? तो क्या द्रव्य वही है जो घटित होता है? लेखक के अनुसार यह भी ठीक नहीं। द्रव्य तथा घटना सर्वथा भिन्न नहीं, किन्तु पूर्णतया अभिन्न भी नहीं। घटना में सापेक्षता अनिवार्य है, द्रव्य एक अर्थ में निरपेक्ष तत्त्व माना जा सकता है।

लेखक के अनुसार ऐसी कठिनाइयां इस कारण उपस्थित होती हैं क्योंकि द्रव्य को गुणों से पृथक् एक अलग तत्त्व के रूप में सोचा जाता है। इस प्रकार से सोचने का ढंग ही विचित्र है, क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हम यह जानना चाहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं कि द्रव्य में जो **गुण** हैं उनके अतिरिक्त और क्या गुण हैं। स्पष्टतः यह प्रश्न बेतुका है। तब यह अवश्य है कि जिस अर्थ में गुण द्रव्य में है उस अर्थ में द्रव्य विश्व में नहीं। गुणों के रहने से द्रव्य का स्वरूप निर्धारित होता है, गुण द्रव्य को विशेषित करते हैं। उस प्रकार से द्रव्य विश्व को विशेषित नहीं करता।

अतः लेखक का कहना है कि द्रव्य विशेषित होता है, किसी अन्य को विशेषित नहीं करता, यह अन्य से सम्बन्धित होता है किन्तु स्वयं सम्बन्ध स्थापित नहीं करता, यह स्वयं कोई घटना नहीं किन्तु घटनाओं से सम्बन्धित है। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि लेखक भौतिक तत्त्व को अनौपाधिक रूप से द्रव्य की संज्ञा दे देते हैं। लेखक का निष्कर्ष विज्ञानवाद का समर्थक है, क्योंकि उनके अनुसार द्रव्य की सत्ता आत्म से सम्बन्धित है। आत्म और उसकी अनुभूति की व्याख्या में ही द्रव्य की समस्या उपस्थित हो जाती है। सच पूछा जाय तो वास्तविक द्रव्य, द्रव्यत्व का स्पष्टतम उदाहरण, **आत्म** ही है, क्योंकि आत्म ही घटनाओं का चरम आधार है।

अब दूसरी समस्या उपस्थित हो जाती है, 'शरीर' को द्रव्य कहा जा सकता है या नहीं ? यदि काम को भी द्रव्य माना जाय तो नई उलझनें समक्ष आ जाती हैं। क्या आत्म तथा काम दो पृथक् द्रव्य हैं ? यदि हैं, तो उनमें सम्बन्ध कैसे सम्भव है ? पाश्चात्य दर्शन की परम्परा सदा इन दोनों को दो पृथक् द्रव्यों के रूप में मानती रही है। किन्तु प्लेटो से लेकर डेकार्ट तक प्रधानता प्रायः आत्म को ही दी गई है। डेकार्ट ने तो एक दृष्टि से दोनों का एकीकरण भी कर दिया था। इस उलझन की विशद व्याख्या किये बिना इतना तो माना जा सकता है कि आत्म-द्रव्य को प्रधानता दी गई है, और इसे सरलतम, अविभाज्य, विभु-रूप में स्वीकारा गया है।

किन्तु लेखक को आत्म द्रव्य की इस व्याख्या में अपूर्णता दिखाई देती है। यहाँ 'बनावट' तथा 'स्वरूप' पर ध्यान दिया गया है, अवधि पर नहीं। यदि आत्म को सरलतम तथा अविभाज्य भी माना जाय तो इससे आत्म का द्रव्यत्व सिद्ध नहीं होता, **अनन्तता** सिद्ध होती है। आत्म का द्रव्यत्व सिद्ध करने के लिए आत्म के आत्म-चेतन-रूप की प्राथमिकता स्वीकार करनी होगी। आत्म को 'स्व' की साक्षात् अनुभूति होती है—परिवर्तित अनुभवों में भी अपने अभेद तथा एकात्मता की अनुभूति होती है। इसी कारण लेखक आत्म को एक नित्य 'विषयी' के रूप में स्वीकार करते हैं।

अवस्था :

अन्तर्निरीक्षण में आत्म किसी चिद्‌बिन्दु के रूप में प्रकट नहीं होता बल्कि कुछ अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। अवस्था से लेखक का तात्पर्य उन रूपों से है जिनमें आत्म के गुण प्रकट होते हैं। जैसे हम चिन्तावस्था, दुःख की अवस्था, संशय की अवस्था आदि की बात करते हैं। किन्तु अवस्था को आन्तरिक अनुभव का तथ्य नहीं कहा जा सकता। 'तथ्य' शब्द के प्रयोग में सत्यता-असत्यता का प्रश्न अनिवार्यतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निहित है, 'अवस्था' शब्द के प्रयोग में ऐसी बात नहीं। यह कहा जा सकता है कि 'यह तथ्य है कि तीन दिन पहले अमुक व्यक्ति को पागलपन का दौरा आया था', किन्तु यदि हम कहें कि 'तीन दिन पहले बीमार पड़ना अमुक व्यक्ति की अवस्था थी' तो यह अयुक्त भाषा-प्रयोग होगा। पुनः, एक अवस्था के अन्तर्गत अन्य अवस्थाएं भी रह सकती हैं, बीमारी की अवस्था में संकटावस्था भी रह सकती है। किन्तु, तथ्य के साथ ऐसा नहीं होता। इन भेदों का ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि अन्तर्निरीक्षण में आत्म की अवस्थाओं का ज्ञान होता है।

सम्बन्ध :

गुण के समान सम्बन्ध की भी परिभाषा नहीं दी जा सकती और न इसका सरल भागों में विश्लेषण किया जा सकता है। सम्बन्ध की यथार्थता सम्बन्ध के उदाहरणों के द्वारा ही सिद्ध हो जाती है। इसके उदाहरण आत्म-तत्त्वों में भी उपलब्ध हैं। आत्म की अवस्थाओं में क्रम होता है, भावनाओं में प्रखरता का अन्तर होता है। इनका ज्ञान सम्बन्ध के ज्ञान पर ही निर्भर करता है। इनके अतिरिक्त अन्य उदाहरणों के द्वारा भी सम्बन्ध की यथार्थता की पुष्टि होती है। सम्बन्ध **एक-एक** का हो सकता है, जैसे क=ख, तथा **एक-अनेक** का भी हो सकता है, जैसे क को ख, ग, घ आदि की चेतना है। उसी प्रकार सम्बन्ध विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, जैसे सममित, असममित तथा न-सममित सम्बन्ध, संचारी, असंचारी सम्बन्ध आदि।

मैक्टैगार्ट ने सम्बन्धों को परावर्ती, (रीफ्लेक्सिव) अपरावर्ती तथा न-परावर्ती सम्बन्धों में बांटा है। उदाहरणतः यदि सम्बन्ध का कोई ऐसा उदाहरण हो जो अपने-आप से सम्बन्धित नहीं हो सकता तो उसे अपरावर्ती कहा गया है। न-परावर्ती सम्बन्ध में ऐसा हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। उदाहरणतः श्लाघा का उदाहरण लिया जा सकता है। अन्य के प्रति मेरी ऐसी भावना हो सकती है एवं आत्म-श्लाघा भी सम्भव है। परावर्ती सम्बन्ध का अर्थ है किसी पद का अपने से सम्बन्ध। मैक्टैगार्ट ने परावर्ती सम्बन्ध का उदाहरण अभेद-सम्बन्ध (रिलेशन ऑव आइडेंटिटी) दिया है। अभेद दो प्रकार के होते हैं—गुणात्मक तथा संख्यात्मक। गुणात्मक अभेद में परावर्ती सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। संख्यात्मक अभेद को परावर्ती मानने में भी कठिनाइयाँ हैं, किन्तु लेखक के मत में एक विशेष अर्थ में इसे परावर्ती माना जा सकता है, किन्तु तब इसे आत्म की अनुभूति से सम्बन्धित करना अनिवार्य है। दो अनुभवों का संख्यात्मक अभेद तभी मान्य होगा जब किसी व्यक्ति की अनुभूति इसकी पुष्टि करेगी।

इसके अतिरिक्त लेखक सरल-सम्बन्ध, मिश्र-सम्बन्ध आदि की भी विवेचना करते हैं तथा उनसे सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाह्य तथा आन्तरिक सम्बन्ध की समस्या की भी विवेचना की गई है। लेखक का निष्कर्ष डॉ० इविंग के विचारों से प्रभावित प्रतीत होता है। डॉ० इविंग के द्वारा दिये गए आन्तरिक सम्बन्ध के दस अर्थों का स्पष्टीकरण किया गया है, किन्तु उनमें चार पर विशेष ध्यान दिया गया है: (क) सम्बन्ध के आन्तरिक होने का अर्थ है कि सम्बन्ध के न रहने पर सम्बन्धित अपरिवर्तित नहीं रह सकता। (ख) यदि दो पदों में ऐसा सम्बन्ध है कि उस सम्बन्ध के ज्ञान और एक पद के किसी लक्षण के ज्ञान के आधार पर दूसरे पद के किसी निश्चित लक्षण के विषय में अनुमान किया जा सके तो वह सम्बन्ध आन्तरिक सम्बन्ध है। (ग) कार्य-कारण निर्भरता–सम्बन्ध भी आन्तरिक सम्बन्ध है। (घ) तार्किक निर्भरता का सम्बन्ध भी आन्तरिक सम्बन्ध का उदाहरण है। लेखक का निष्कर्ष है कि इन सभी अर्थों में कुछ सम्बन्ध आन्तरिक हैं, किन्तु ऐसे भी सम्बन्ध हैं जिन्हें आन्तरिक नहीं कहा जा सकता।

क्रिया :

अन्तर्निरीक्षण में आत्म की क्रियात्मकता की चेतना होती है। किन्तु, क्रियात्मकता की परिणति क्रिया में है। क्रिया निर्णय का फलित रूप है। निर्णय कभी चिन्तन के फलस्वरूप होता है और कभी एकाएक। ध्यान भी एक क्रिया ही है। ध्यान की क्रिया से तो चेतनावस्था मुक्त हो ही नहीं सकती। 'क्रिया' शब्द के इन विभिन्न उदाहरणों को देख कर स्पष्ट हो जाता है कि लेखक इस शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में कर रहे हैं। साधारणतः क्रिया को मानसिक निर्णय की परिणति के रूप में समझा जाता है। किन्तु लेखक का अर्थ इससे अधिक विस्तृत है, लेखक के अर्थ में क्रिया का यह साधारण अर्थ भी समाविष्ट है। उनके अनुसार, जो ध्यान के केन्द्र तथा प्रवाह को प्रभावित तथा परिवर्तित करे वही क्रिया है।

कारण-भाव :

क्रिया के स्वरूप के विवेचन में क्रिया एवं क्रियात्व (एक्ट एण्ड एक्टिविटी) में अन्तर किया गया है। यदि 'ध्यान' क्रिया वातावरण में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं कर पाती तो यह कार्यकारिता है, क्रिया नहीं। क्रिया किसी निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए की जाती है, फलतः कार्य के फलस्वरूप वातावरण में परिवर्तन अनिवार्य है। इस अन्तर का कारण-भाव के लिए विशेष महत्त्व है, क्योंकि इस भाव के मूल में आत्म की क्रियाशीलता की अनुभूति है। आत्म-अनुभूति में आत्म एक चेतन द्रव्य के रूप में ज्ञात होता है। सम्भव है कि आत्म-अनुभूति आत्म की क्रियाशीलता की अनुभूति हो, इस अनुभूति में यह भी चेतना रहती है कि आत्म की क्रियाशीलता वातावरण में परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है। यही कारण-भाव की चेतना है। इसी अर्थ में प्लेटो ने आत्म की गति को चरम कारण कहा था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य-कारण सम्बन्ध का यह क्रिया-सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं है। साधारणतः इस सिद्धान्त की यथार्थता मानसिक जगत् में ही प्रतीत होती है। यदि इसका भौतिक जगत् के कारण-कार्य-सम्बन्ध की व्याख्या में उपयोग किया जाय तो हमारा दृष्टि-कोण मानवत्वारोपी बन जायगा। फलतः कारण-भाव की समझ के लिए कारण-कार्य-सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना आवश्यक प्रतीत होती है।

कारण-भाव के क्रिया-सिद्धान्त के अतिरिक्त नियमितता–सिद्धान्त (रेगुलेटरी थ्योरी) तथा आपादन सिद्धान्त (एंटेलमेंट थ्योरी) को महत्त्व दिया गया है। नियमितता सिद्धांत के गुण-दोषों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह लोक-संज्ञान (कामन सेंस) के अनुकूल प्रतीत होता है, किन्तु इस सिद्धांत से एक ओर तो तथ्यों का अवबोध सुगम नहीं होता और दूसरी ओर इससे केवल नियमितता स्थापित होती है, कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं। यदि पासा फेंकने पर हर बार छः ही आता है तो यह कहना यथेष्ठ नहीं कि पासा फेंकन तथा छः में नियमित सम्बन्ध है, यहां हमें मानना पड़ता है कि बार-बार छः आने का कोई कारण अवश्य है। इसी कमी को दूर करने की चेष्टा में आपादन सिद्धान्त का प्रादुर्भाव होता है। इसके अनुसार कारण तथा कार्य के मध्य एक आन्तरिक तथा अनिवार्य सम्बन्ध माना गया है। कारण-कार्य-सम्बन्ध की व्याख्या में यह नियमितता-सिद्धान्त से अधिक बौद्धिक प्रतीत होता है, किन्तु 'अनिवार्य तथा आन्तरिक' सम्बन्ध का भाव अस्पष्ट तथा रहस्यमय ही प्रतीत होता है। क्रिया-सिद्धान्त को भी पूर्ण मान्यता देने में कठिनाई प्रतीत होती है क्योंकि यह स्वयं इच्छा-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त पर आधृत है, और इच्छा-स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त भी विवादास्पद है।

इस प्रकार तीनों सिद्धान्तों में कुछ न कुछ त्रुटि है। लेखक के मत में इस विवेचन का सम्भावित निष्कर्ष हो सकता है कि साधारण अनुभव-तथ्यों की व्याख्या में आपादन-सिद्धान्त अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है तथा चरम कारण की खोज में क्रिया-सिद्धान्त को अधिक मान्यता देना उचित है।

विचार के नियम :

साधारणतः अनन्यता-नियम, व्याघात-नियम तथा मध्याभाव नियम को मूल विचार-नियम माना जाता है। इन्हें 'चिन्तन के विषय' के अन्तर्गत रखने का विशेष कारण है। साधारणतः इन नियमों को केवल विचार-प्रणाली का नियम माना जाता है, किन्तु इन नियमों की यथार्थता आत्म-**अस्तित्व** तथा बाह्य-**अस्तित्व** दोनों में सिद्ध होती है। उदाहरणतः जब हम कहते हैं कि क ख तथा नहीं–ख दोनों नहीं हो सकता, तब इसका केवल यह अर्थ नहीं कि ऐसा विचार-जगत् में सम्भव नहीं, बल्कि इस नियम का यह भी अर्थ है कि यदि क में 'ख' गुण विद्यमान है तो क में ख के व्याघातक गुण नहीं रह सकते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधि की समस्या

आत्म के मूल तत्वों के विवेचन के बाद विश्व के स्वरूप पर विचार आवश्यक है। लेखक का स्पष्ट मत है कि अज्ञेयवाद चिन्तन के मार्ग में व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकता। पूर्ण संदेहवाद भी आत्म-व्याघातक है। संदेहवादी को भी अपनी प्रतिज्ञप्ति की यथार्थता स्वीकार करनी पड़ती है। संदेहवाद की हर उक्ति संशयवाद का खण्डन है और ज्ञान की सम्भावना की स्वीकृति है। संदेहवादी कह सकते हैं कि उनकी मूल प्रतिज्ञप्ति दूसरे स्तर की प्रतिज्ञप्ति है, जिसका प्रयोग तथ्य तथा सत्ता-सम्बन्धी उक्तियों पर किया जाता है। इस प्रकार वे आत्म-व्याघातकता के आरोप से बचने की चेष्टा करते हैं। किन्तु इस दृष्टि से तो 'सभी वाक्य सन्देहात्मक हैं' वाक्य का प्रयोग अन्य वाक्यों पर हो सकता है, अपने-आप पर नहीं। तब प्रश्न होता है कि इस वाक्य की सत्यता कैसे सिद्ध होती है? आगमनात्मक विधि से तो यह सिद्ध नहीं होता। तो क्या यह वाक्य अनुभवातीत है? इस प्रकार संशयवादी दृष्टिकोण और भी अधिक उलझ जाता है।

अज्ञेयवाद तथा संदेहवाद की कमज़ोरियों पर प्रकाश डालने से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान असम्भव नहीं है। किन्तु, ज्ञान की सम्भावना में सत्यता-असत्यता का प्रश्न निहित है।

'सत्यता' शब्द का निहितार्थ क्या है? इस शब्द के इतने विभिन्न अर्थ दिये गए हैं और इनके सम्बन्ध में इतने सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं कि इस शब्द के मूल अर्थ पर ही ध्यान देना उचित है। यह मूल अर्थ सामान्यतः साधारण दृष्टिकोण से भी स्वीकार्य है तथा इसका दार्शनिक आधार भी है। इस साधारण अर्थ में यदि कोई प्रस्तावना तथ्य को सूचित करती है तो वह सत्य है। लेखक सत्य के अनुरूपता-सिद्धान्त का समर्थन करते हैं तथा अपने निष्कर्ष की स्थापना के निमित्त सत्य के अन्य सिद्धान्तों की परीक्षा करते हैं।

सत्य के व्यावहारिकतावादी सिद्धान्त के अनुसार किसी भाव की सत्यता उसकी उपयोगिता में निहित है, इस मत को मान्यता नहीं दी जा सकती। एक तो, उपयोगिता से सत्यता–असत्यता निर्धारित नहीं होती है। सम्भव है कि किसी विशेष परिस्थिति में कोई पूर्णतया असत्य भाव उपयोगी सिद्ध हो अथवा कोई सत्य विचार किसी परिस्थिति में पूर्णतया अनुपयोगी सिद्ध हो। और फिर, उपयोगिता का सम्बन्ध व्यक्ति से है, सम्भव है कि जो एक के लिए उपयोगी है अन्य के लिए उपयोगी न हो। तो क्या सत्य का आधार व्यक्ति है? क्या सत्य वैयक्तिक है? इस प्रकार इस सिद्धान्त की परीक्षा कर यह दिखलाया जा सकता है कि इसमें यदि कुछ यथार्थता है तो केवल उन्हीं स्थलों पर जिनमें वह तदनुरूपता-सिद्धान्त का समर्थक है।

सत्य के सत्यापन-सिद्धान्त को भी बीसवीं सदी में मान्यता मिली है। यह सिद्धान्त (वेरीफिकेशन थ्योरी) अर्थ-सिद्धान्त के रूप में विकसित हुआ और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें सत्यापन की सम्भावना को अर्थ का आधार माना गया। प्रस्तावनाओं की सत्यता-असत्यता का आधार भी सत्यापन ही बन गया। किन्तु, जिस गति से इस सिद्धान्त का विकास हुआ उसी गति से इसकी आलोचना भी हुई। लेखक इस सिद्धान्त के विरुद्ध उठाई गई आपत्तियों का उल्लेख करते हैं। लेखक स्वीकार करते हैं कि कभी-कभी सत्यापन की क्रिया से सत्यता-असत्यता स्थापित होती है। किन्तु उनका कहना है कि इस सिद्धान्त के समर्थक भूल जाते हैं कि सत्यापन की क्रिया से वाक्यों की सत्यता **प्रमाणित** हो सकती है, किन्तु यह क्रिया वाक्यों का अर्थ नहीं है। 'खेत में घोड़ा है'–इस वाक्य की सत्यता सत्यापन-क्रिया से प्रमाणित हो सकती है, किन्तु यदि यह क्रिया न भी हो, यदि इसकी परीक्षा न भी की जाय, तो भी यह वाक्य अर्थहीन नहीं हो जाता।

सत्यापन-सिद्धान्त के इन्हीं दोषों के कारण बाद के दार्शनिकों ने 'अर्थ-भाव' के स्थान पर 'व्यवहार' पर ध्यान दिया। उनके अनुसार अर्थ की खोज ही अयुक्त है, क्योंकि शब्द तो चिह्न-रूप हैं जिनका उपयोग हम अपनी सुविधा के लिए करते हैं। किसी शब्द-चिह्न से क्या सूचित होता है यह ज़ानने के लिए यह देखना आवश्यक है कि उस शब्द का प्रयोग या व्यवहार किस प्रकार होता है। किन्तु लेखक का मत है कि इस नवीन दर्शन में शब्दों के व्यवहार, उपयोग आदि की समस्या ही प्रधान हो जाती है, अतः इससे भी सत्यता-असत्यता के प्रश्न पर कोई नूतन प्रकाश नहीं पड़ता। सच पूछा जाय तो, यह कहना कि किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोगों अथवा व्यवहारों में निहित है, कोई नवीन या गम्भीर बात नहीं, अपितु एक सर्व-मान्य सत्य की पुनरावृत्ति है। लेखक के मत में भाषा अथवा भाषा-प्रयोग को इतना महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं कि हमारा मस्तिष्क, जो भाषा का स्रष्टा है, भाषा का दास बन जाय।

सत्य के सामंजस्यता-सिद्धान्त में अनेक दोष हैं। प्रथमतः यह स्वीकारना कठिन है कि सामंजस्य सत्य का मापदंड है। सामंजस्य किसी नवीन अनुभव को सत्य या असत्य सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि सामंजस्य-सम्बन्ध विश्वासों के बीच हो सकता है, विश्वास तथा तथ्यात्मक अनुभव के बीच नहीं। इस सिद्धान्त के समर्थक तो सामंजस्य को सत्य की परिभाषा बना देते हैं। उनका यह भी कहना है कि सामं-जस्य में मात्रा का अन्तर भी हो सकता है जिसके फलस्वरूप कोई भाव अधिक सत्य होता है कोई कम। इस परिभाषा में एक स्पष्ट दोष तो यह है कि यह असत्यता की सम्भावना को प्रायः समाप्त ही कर देता है। हर भाव में थोड़ा सामंजस्य रहता ही है, और इस कारण हर भाव में सत्य की कुछ मात्रा रहेगी ही। पुनः, किसी भाव में सत्य की मात्रा बहुत अधिक नहीं हो सकती क्योंकि सामंजस्य की जांच की क्रिया ही स्पष्ट नहीं। पुनः, यदि इस सिद्धान्त को आधार माना जाय तो इसी आधार पर सामंजस्य-सिद्धांत स्वयं असत्य सिद्ध हो जाता है क्योंकि इस सिद्धांत का सामंजस्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध करना असम्भव है। लेखक का कहना है कि इसमें अनवस्था दोष भी है। दो भावों के सामंजस्य की परीक्षा के लिए एक अन्य निर्णय की आवश्यकता होगी। इस निर्णय और उन भावों का सामंजस्य एक तीसरे निर्णय पर निर्भर करेगा, और इस प्रकार अनवस्था दोष स्पष्ट हो जाता है।

एक अन्य मत के अनुसार, सत्य तथ्य का पर्यायवाची माना जाता है। लेखक इस मत को भी मान्यता नहीं देते। इन दो पदों के सामान्य प्रयोगों से ही स्पष्ट है कि दोनों को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। पुनः, हर सत्य या असत्य कथन का कुछ अर्थ होता है। 'तथ्य' एवं 'अर्थ' को भी पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। किसी कथन का अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो सकता है किन्तु, उसमें निहित तथ्य से हम अनभिज्ञ रह सकते हैं। उदाहरणतः, यदि कहा जाय "कि दिवंगत आत्मा की अन्तिम इच्छा अमुक थी" तो इसका अर्थ तो स्पष्ट है, किन्तु इसमें निहित तथ्य की स्थापना नहीं हो सकती।

अतः निष्कर्ष यही होता है कि सत्य कथन में जो सूचित होता है वह तथ्य है। असत्य कथन में अर्थ है किन्तु, तदनुरूप तथ्य नहीं है। अतः सत्य को वाक्य एवं तथ्य की अनुरूपता कह सकते हैं। इस प्रकार लेखक सत्य के अनुरूपता-सिद्धान्त (कोरेस्पोंडेंस थ्योरी) का ही समर्थन करते हैं।

अब यह कहा जा सकता है कि दर्शन विश्व का अध्ययन कर सकता है क्योंकि तथ्यों के सम्बन्ध में सत्य कथन किये जा सकते हैं। किन्तु, इस अध्ययन की विधि क्या होगी ?

अनुभववादी अनुभव को प्रधानता देते हैं। किन्तु, उनमें भी मतभेद है। संकीर्ण अनुभववाद इन्द्रिय-अनुभव को ही सर्वोपरि मानता है। किन्तु यह अमान्य है, क्योंकि आत्म-ज्ञान, जो हर ज्ञान का आधार है, इन्द्रिय अनुभव से प्राप्त नहीं होता। कुछ अनुभववादी कहते हैं कि आत्म-ज्ञान अन्तर्निरीक्षण पर आधृत है और अन्तर्निरीक्षण एक प्रकार का आन्तरिक इन्द्रिय-अनुभव है। किन्तु, यदि अन्तर्निरीक्षण को इन्द्रिय-अनुभव माना जाय तो सभी अनुभव—नैतिक अथवा धार्मिक अनुभव एवं सौन्दर्यानुभूति भी—विषयीगत हो जायंगे तथा अनुभवों में जो विषयनिष्ठता है, उसकी व्याख्या नहीं हो पाएगी।

इस बात की व्याख्या एक दूसरे ढंग से भी हो सकती है। यदि विश्व का दार्शनिक अध्ययन अनिवार्यतः अनुभव पर ही आधृत रहे तो इसका अर्थ हो जाता है कि दर्शन की विधि 'आगमनात्मक साधारणीकरण' है। किन्तु, इसके विरुद्ध दो आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। एक, आगमनात्मक विधि, विशेषतः अपनी प्रारम्भिक प्रक्रिया में, उदाहरणों की संख्या अथवा गणनात्मक प्रणाली पर आधृत है। किन्तु, इस प्रकार की गणनात्मक प्रणाली विश्व के स्वरूप के अध्ययन की विधि नहीं हो सकती। पुनः, यह भी निश्चित है कि आगमनात्मक विधि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अनिवार्यतः कुछ प्रागनुभविक तथ्य रहते ही हैं। आगमन के मूल सूत्र में ही यह स्पष्ट हो जाता है। कुछ उदाहरणों के ज्ञान के आधार पर जब हम सब का अनुमान करते हैं तो यह अनुमान हमारे इस पूर्व विश्वास पर निर्भर करता है कि ऐसे उदाहरणों में कुछ के अनुभव के आधार पर सब का अनुमान सम्भव है। इस प्रकार आनुभविक विधि में भी प्रागनुभविक तत्त्वों को स्वीकारना अनिवार्य हो जाता है। फलतः, लेखक मैक्टैगार्ट के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि विश्व के दार्शनिक अध्ययन की विधि प्रागनुभविक विधि ही हो सकती है।

किन्तु, पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में इस विधि के समर्थक प्रायः बुद्धिवादी ही रहे हैं। बुद्धिवादियों की मान्यता रही है कि विश्व का स्वरूप बौद्धिक है। तो अब प्रश्न यह है कि किस स्तर तक तथा किस अर्थ में विश्व को बौद्धिक कहा जा सकता है?

बौद्धिक विश्व की अवधारणा

इस अवधारणा के स्पष्टीकरण में दो प्रश्नों पर विचार अनिवार्य है: 'बौद्धिक विश्व' का तात्पर्य क्या है? तथा 'क्या विश्व को बौद्धिक माना जा सकता है?' स्पष्ट है, दूसरे प्रश्न का उत्तर पूर्णतया पहले प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करता है।

साधारणतः नियम, व्यवस्था, सामंजस्य आदि से ही बौद्धिकता की पहचान होती है। नियमितता (रेगुलेरिटी) बौद्धिकता का एक स्पष्ट उदाहरण है। कांट ने नियमितता का आधार मन को माना। उनकी 'कौपरनीकीय क्रान्ति' में विषयीभाव (सब्जेक्टिविटी) बौद्धिकता के स्रोत के रूप में उभरी है। उनके अनुसार मन. अपने ढंग से दिक् एवं काल के रूपों के द्वारा और फिर मानसिक कोटियों के द्वारा आनुभविक विषयों में व्यवस्था स्थापित करता है। विभिन्न मनों के अनुभव-जगत् की समानता का आधार इन भावों अथवा कोटियों की सार्वभौमता है। एक जापानी बौद्ध सम्प्रदाय होसो ने अपने ढंग से इसी प्रकार का मत प्रतिपादित किया है। कांट के बाद के निरपेक्ष विज्ञानवादी दर्शन ने विश्व की बौद्धिकता सिद्ध करने के लिए एक "परम मन" की कल्पना की और उसे ही परम सत्ता बना दिया। हेगेल जैसे दार्शनिकों ने दिखलाने का प्रयत्न किया कि विश्व का स्वरूप ही बौद्धिक है तथा बौद्धिक विधि की अनिवार्य परिणति 'परम मन' में है। यही कारण है कि शुद्ध बौद्धिक मीमांसा से विश्व के स्वरूप का स्पष्ट विश्लेषण हो जाता है। कांट तथा निरपेक्ष विज्ञानवादियों में अन्तर यही है कि कांट के अनुसार विश्व की बौद्धिकता का आधार **सीमित मन** का बौद्धिक रूप है जबकि विज्ञानवादियों के अनुसार यह आधार **असीम मन** का बौद्धिक रूप है।

प्लेटो ने विश्व की बौद्धिकता सर्वथा भिन्न ढंग से स्थिर की थी। उनके अनुसार विश्व की वास्तविकता प्रत्ययों (आइडियाज़) के जगत् में है, परिवर्तनशील अनुभव-जगत् में नहीं। दृश्य-जगत् उसी भाव-जगत् की अपूर्ण प्रतिलिपि मात्र है। प्रत्यय-जगत् का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूप अनिवार्यतः बौद्धिक है। प्रत्यय-जगत् को शृंखलाबद्ध कर प्लेटो भी एक-एक परम शुभ के प्रत्यय (आइडिया ऑफ दि गुड) तक पहुँच जाते हैं, जिसे वे ईश्वर की संज्ञा दे देते हैं। प्लेटो के मत के गुण-दोषों की विवेचना किये बिना यह तो कहा जा ही सकता है कि बाद के बुद्धिवादी दार्शनिक भी प्लेटो से प्रभावित हो विश्व की बौद्धिकता को दर्शन की मान्यता के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। फलतः यह जानना आवश्यक हो जाता है कि बुद्धिवादी दर्शन के दावे में कितनी यथार्थता है।

बुद्धिवाद का दावा

बुद्धिवाद विश्व की बौद्धिकता के पक्ष में नियम, व्यवस्था, संगति, सामंजस्य, समन्वय, एकता आदि का उदाहरण देता है। विरोधी पक्ष की ओर से अव्यवस्था, असंगति तथा अशुभ की समस्याएँ उठाई जाती हैं। प्रश्न है, कौन सा पक्ष अधिक सबल है?

लेखक के मत में इस प्रश्न पर विशद् विचार मैक्टैगार्ट ने किया है। अपने 'स्टडीज़ इन हेगेलियन डायलेक्टिक' के पाँचवे अध्याय (खण्ड १६०–१६७) में उन्होंने तीन पूर्वकल्पनाओं की परीक्षा की है—(क) विश्व पूर्णतया अबौद्धिक है (ख) विश्व में बौद्धिक तथा अबौद्धिक दोनों तत्त्वों का समावेश है, तथा (ग) विश्व एक आकस्मिक तथा अन्धे नियम का परिणाम है जिसके लिए बौद्धिकता-अबौद्धिकता का प्रश्न ही निरर्थक है। इन तीनों सम्भावनाओं की परीक्षा करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बुद्धिवाद के दावे की यथार्थता या अयथार्थता सिद्ध करने के लिए दो समस्याओं का सुलझाना आवश्यक है। साधारणतः विश्व की बौद्धिकता के पक्ष या विपक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं वे सभी **'विशेषों'** के अनुभव के आधार पर ही दिये जाते हैं। किन्तु, केवल विशेष के आधार पर इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। बौद्धिकता का भाव ही एक सामान्य है। तो क्या 'विशेष' के अनुभव के आधार पर 'सामान्य' का ज्ञान सम्भव है? सामान्य से सम्बन्धित कुछ अन्य समस्याएँ भी हैं। बुद्धिवाद हमें इन सभी समस्याओं में उलझा देता है। और फिर, बौद्धिकता तथा अबौद्धिकता की समस्या अनिवार्यतः मूल्यों की समस्या से जुड़ी है। यदि हम 'व्यवस्था' अथवा 'शुभ' अथवा 'नियमितता' का हवाला देते हैं तो इससे कुछ 'मूल्यों' का ही निर्माण होता है। सच पूछा जाय तो मूल्य दोनों स्तरों में विद्यमान हैं। विश्व के अबौद्धिक तत्त्वों पर ज़ोर देने वाले भी कुछ मूल्यों के आधार पर ही अपना निष्कर्ष देते हैं।

तो, मूल्य एक ऐसा भाव है जो दोनों पक्षों में समान रूप से विद्यमान है। अब, यह कहा जा सकता है कि विश्व का स्वरूप 'मूल्यों' से ही निर्धारित होता है, कम से कम विश्व के स्वरूप के विश्लेषण का आधार तो मूल्य हैं ही। अब यदि बुद्धिवाद के दावे में कुछ बल है तो इन मूल्यों के चरम आधार के रूप में एक 'परम शुभ मन' को मानना आवश्यक हो जाता है। किन्तु, इस निष्कर्ष की स्थापना के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले बुद्धिवाद के लिए भी यह आवश्यक है कि वह 'विश्व में मूल्यों का स्थान' की विवेचना कर ले। उसे एक ओर तो यह सिद्ध करना है कि विश्व का स्वरूप मूल्यों से निर्धारित होता है और दूसरी ओर यह दिखलाना है कि विश्व का यह मूल्य-रूप अशुभ तथा अबौद्धिक तत्त्वों की उपस्थिति से खण्डित नहीं होता।

फलतः लेखक के समक्ष अब दो समस्याएँ उपस्थित हो जाती हैं—सामान्य की समस्या तथा मूल्य की समस्या।

सामान्य

साधारण अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुछ वस्तुओं में कुछ लक्षणों की समानता पायी जाती है तथा कुछ बातों में अन्तर भी। 'समानता' तथा 'अन्तर' की क्या व्याख्या हो सकती है? क्या ये भी वस्तुओं के **विशेष** लक्षण हैं या इन्हें 'सामान्य' कहा जा सकता है? इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिये गये हैं।

(क) एक उत्तर **नाममात्रवाद** (नोमिनलिज्म) का है। इसके अनुसार सभी लक्षण विशेष ही हैं। गुण या सम्बन्ध-सूचक शब्द नाममात्र हैं, वे किसी सामन्य गुण अथवा सामान्य सम्बन्ध का बोध नहीं करते। समानता का सम्बन्ध भी नाममात्र होने के कारण विश्लेष्य नहीं है। किन्तु समानता, सम्बन्ध आदि को केवल नाममात्र कह देने से इन गुणों की व्याख्या नहीं हो पाती। इस मत का यही दोष है।

(ख) **अवधारणावाद** (कांसेप्चुअलिज्म) भी नाममात्रवाद के समान मानता है कि विश्व में विशेष ही हैं। किन्तु इसके अनुसार मस्तिष्क में अवधारणा निर्माण करने की शक्ति है। मस्तिष्क भावों का विश्लेषण कर सकता है, लक्षणों को अन्य लक्षणों से पृथक् कर सोच सकता है। उदाहरणतः यह सेब, गुलाब, रक्त आदि के भावों से लाल के भाव को पृथक् कर लाल की अवधारणा बना सकता है।

(ग) एक तीसरे मत के अनुसार ये सभी लक्षण सामान्य हैं। सामान्य वास्तविक एवं वस्तुनिष्ठ हैं। मस्तिष्क उनका निर्माण नहीं करता, बस उन्हें ढूंढ लेता है। तब यह अवश्य है कि सामान्य का अस्तित्व विशेष से अलग नहीं। इस मत को **सीमित वास्तववाद** (रेस्ट्रिक्टेड रियलिज्म) कहा जा सकता है।

(घ) कुछ विचारक सामान्य को विशेष से अलग एक विशिष्ट सत्ता दे देते हैं। एक दृष्टि से विशेष ही सामान्य पर आधृत है। यदि विशेष से सामान्य को अलग कर लिया जाय तो विशेष अस्तित्वरहित हो जायगा। इसी कारण कहा गया है कि सामान्य सत्तावान् है (सब्सिस्ट्स) और विशेष अस्तित्ववान् (एग्जिस्ट्स)। इस मत को **असीमित वास्तववाद** (अन्रेस्ट्रिक्टिड रियलिज्म) के नाम से पुकारा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ङ) असीमित वास्तववाद का अतिवादी रूप, प्लेटो के दर्शन में मिलता है। प्लेटो ने विशेष में भी सामान्य की ही सत्ता देखी। उनके अनुसार वास्तविक सत्ता सामान्य की ही है, जिसे विशेष अपूर्ण तथा सीमित ढंग से प्रतिबिम्बित करता है।

लेखक इन सिद्धान्तों के गुण-दोषों की विवेचना करते हुए दिखलाते हैं कि दोनों ओर का अतिवाद अयुक्त है। सामान्य को परम सत्ता की स्थिति दे देना अथवा सामान्य की सत्ता का पूर्ण निषेध, दोनों विचार का अतिक्रमण करते हैं। लेखक के मत में असीमित वस्तुवाद (संख्या घ) के पक्ष में सर्वाधिक साक्ष्य हैं। सामान्य की यथार्थता तथा वास्तविकता स्वीकार करना अनिवार्य है और इसके लिए सामान्य को, प्लेटो के समान, एक अलौकिक स्थान देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सामान्य तो साधारण आनुभविक जीवन का अंग है। लेखक को सत्तावान् तथा अस्तित्ववान् का अन्तर बड़ा सुविधाजनक प्रतीत होता है। विशेष में सत्ता है, किन्तु सामान्य स्वयं सत्ता है। अब, सामान्य को सत्तावान् मानने से दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है—क्या सामान्य काल में है? यों तो काल का प्रश्न एक अलग प्रश्न है, किन्तु एक दृष्टि से सामान्य को काल के परे माना जा सकता है। यों, प्लेटो के अनुसार, सामान्य परिवर्तित नहीं होते, वे नित्य हैं। किन्तु उनकी युक्तियां एक विशेष मान्यता पर आधृत हैं। अतः उनकी युक्तियों का सहारा लिए विना इतना तो कहा जा ही सकता है कि सामान्य का मौलिक स्वरूप विशेषों के सम्बन्धों से निर्धारित नहीं होता। उस अर्थ में सामान्य को 'काल के परे' कहा जा सकता है।

सामान्य के उदाहरण के रूप में गुण तथा सम्बन्ध के अतिरिक्त क्रिया तथा संख्या का भी उल्लेख हुआ है। 'क्रिया' शब्द के अर्थ में प्रायः व्यामिश्र हो ही जाता है, किन्तु सामान्य के अन्तर्गत जिस क्रिया का उल्लेख आया है वह 'ऐच्छिक क्रिया' है—ऐसी क्रिया है जिसके फलस्वरूप वातावरण में नवीन गति उत्पन्न हो सके। इसे सामान्य का एक पृथक् उदाहरण मानने का कारण बस इतना ही है कि इसे न गुण कहा जा सकता है और न सम्बन्ध, इसी कारण संख्या को भी सामान्य का एक उदाहरण माना गया है। एक, दो, तीन—सभी सामान्य हैं, जैसे प्रत्येक विशेष युगल दो का उदाहरण है।

सामान्य के सम्बन्ध में एक और तथ्य द्रष्टव्य है। सामान्य का ज्ञान विशेष के अनुभवों से भिन्न है। सामान्य का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होता, फिर भी हर विशेष के ज्ञान के साथ सामान्य का ज्ञान भी होता है। अतः इस ज्ञान को प्रागनुभविक कहा गया है।

मूल्यों का जगत्

सामान्य की एक विशेष उपजाति है मूल्य। अतः यदि सामान्य की वास्तविकता स्वीकार्य है तो मूल्यों की वास्तविकता का निषेध अयुक्त होगा। किन्तु,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस स्थल पर एक शंका की जा सकती है। हमें मूल्यों की अवगति अन्य सामान्यों के समान नहीं होती। अन्य सामान्यों की अवगति में तो इन्द्रियाँ भी सहायक होती हैं, मूल्यों के साथ ऐसा नहीं होता।

किन्तु, इस शंका के समाधान में तीन बातों पर प्रकाश डाला जा सकता है : (क) कुछ मूल्यों की अवगति में इन्द्रियां सहायक होती हैं, जैसे सौन्दर्यानुभूति में। (ख) यह कठिनाई या तो इस मान्यता पर आधृत है कि इन्द्रिय-अनुभव ही चेतन क्रिया का एकमात्र साधन है अथवा इस मान्यता पर कि केवल इन्द्रिय-अनुभव से ही साक्षात् ज्ञान सम्भव है। दोनों मान्यताएँ अमान्य हैं। (ग) यह कहना भी ठीक नहीं कि मूल्यों के अतिरिक्त अन्य सभी सामान्यों की अवगति में इन्द्रियां सहायक हैं। तार्किक सामान्य, वाक्यों के बीच सामञ्जस्य तथा आपादान-सम्बन्ध आदि का ज्ञान इन्द्रियों पर निर्भर नहीं करता।

अतः यह कहा जा सकता है कि मूल्यों की अवगति भी प्रायः अन्य सामान्यों की अवगति जैसी ही है। मूल्यों के उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि मूल्यों के दो विशिष्ट प्रकार हैं—**सद्गुण** तथा **सौन्दर्य**। सद्गुण का अर्थ **नैतिक शुभ** है। नैतिक शुभ के अन्तर्गत उन **भावनाओं** को भी रखा जा सकता है जो नैतिक शुभ के पोषक हैं। सौन्दर्य के सम्बन्ध में इतनी निश्चितता नहीं। सुन्दर दृश्य, गगन-चुम्बी पर्वत आदि को भी सुन्दर कहा जाता है, संगीत, काव्य, चित्र आदि को भी सुन्दर कहा जाता है तथा स्त्री-पुरुष के प्रभावशाली व्यक्तित्व को भी। यदि कहा जाय कि इन सभी उदाहरणों की समानता सौन्दर्य है तो फिर सौन्दर्य-प्रत्यय अस्पष्ट ही रह जाता है, क्योंकि ये सभी उदाहरण एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। अतः लेखक सौन्दर्य के विभिन्न-रूप मान लेते हैं। इससे उन्हें कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती क्योंकि इससे उनके निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

साधारणतः सुख को मूल्य का एक विशेष उदाहरण कहा जाता है। जिन अनुभवों से सुख-प्राप्ति हो उन्हें शुभ अथवा मूल्यवान् माना जाता है तथा दुख, कष्ट आदि उत्पन्न करने वाले अनुभवों को विमूल्य (डिस्वेल्यू) की कोटि में रखा जाता है। लेखक के अनुसार सुख के कुछ उदाहरण ही इस मत का खण्डन कर देते हैं। उनका कहना है कि 'शुद्ध सुख' तथा 'मिश्र सुख' में भेद किया जा सकता है। शुद्ध सुख नैतिक शुभ का उदाहरण नहीं, क्योंकि उसके साथ नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता : जैसे, शतरंज खेलने का सुख। इसे अपने ढंग से शुभ भी माना जा सकता है। मिश्र सुख का सम्बन्ध सुख-प्राप्ति के साधन से भी है—उन उचित-अनुचित कर्मों से भी है जिनके द्वारा सुख मिलता है। यदि वे कर्म भी उचित हैं तो वह सुख वांछनीय है, अन्यथा नहीं। अतः यहां केवल सुख मूल्य नहीं रहा, सुख-प्राप्ति के साधन का भी महत्त्व हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साधारणतः सत्य तथा धार्मिक मूल्य को भी आन्तर मूल्यों के अन्तर्गत रखा जाता है। किन्तु सत्य को आंतर मानने में कठिनाई प्रतीत होती है क्योंकि सत्य का सम्बन्ध तथ्यों से भी है। अतः सत्य भाव तथा तथ्य की अनुरूपता के अर्थ में समझा जा सकता है। इस तदनुरूपता का ज्ञान कदाचित् साधन-मूल्य (इन्स्ट्रू-मेंटल वेल्यू) का उदाहरण माना जा सकता है क्योंकि इससे हमें कार्य-निर्देश प्राप्त होता है। उसी प्रकार धार्मिक मूल्यों को भी आन्तर कहना उपयुक्त नहीं। धार्मिक मूल्यों के अन्तर्गत ऐसे कोई मूल्य नहीं आते जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं। उदाहरणतः धार्मिक उपासना, आराधना या वन्दना को धार्मिक मूल्य का शुद्ध उदाहरण माना जा सकता है। किन्तु, इसके विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि यह श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, भक्ति आदि का सम्मिश्रण है और ये सारी भावनाएँ मानव के साधारण जीवन में भी विशिष्ट स्थान रखती हैं। शायद यह कहा जा सकता है कि इन भावनाओं का धार्मिक रूप साधारण रूप से भिन्न तथा अधिक भावमय है। किन्तु, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि इससे धार्मिक मूल्यों की विशिष्टता सिद्ध नहीं होती।

मूल्यों के विश्लेषण के आधार पर यह दिखलाया गया है कि मूल्यों के अंगभूत तत्त्व तो प्रागनुभविक हैं किन्तु मूल्यों का ज्ञान अनुभव से ही होता है। लेखक मूल्यों को विषयीगत नहीं मानते। यदि मूल्यों को विषयीगत माना जाय तो मूल्यों का अर्थ मूल्यीकरण अथवा मूल्यन हो जाता है। किन्तु, मूल्यन मूल्यों को विषयी से सम्बन्धित करना है, स्वयं मूल्य नहीं। पुनः, मूल्यों को विषयीगत मानने पर मूल्यों के स्वरूप का एक आवश्यक तत्त्व—उनका सामाजिक आधार—ही नष्ट हो जाता है। उस अवस्था में तो मूल्य व्यक्ति की रुचि अथवा पसन्द पर निर्भर करेंगे। इन दोषों के अतिरिक्त मूल्यों को विषयीगत मानने में एक अन्य कठिनाई है। यदि मूल्य विषयीगत हैं तो मूल्य का आधार व्यक्ति ही हो जाता है। उस दशा में दायित्व के भाव की व्याख्या नहीं हो सकती।

इन कठिनाइयों के समाधान की चेष्टा में एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ जिसे विषयीनिष्ठ-वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त (सब्जेक्टिव-ऑब्जेक्टिव थ्योरी) कहा जा सकता है। एक प्रकार से यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष के सापेक्षता-सिद्धान्त का एक रूप है। प्रत्यक्ष के इस सिद्धान्त के अनुसार दृश्य-वस्तु का रूप दृष्टिकोण पर आधृत है। एक ही वस्तु को यदि विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाय तो विभिन्न लक्षण प्राप्त होंगे। उसी प्रकार मूल्य भी दृष्टिकोण पर ही आधृत है। दृष्टिकोणों पर आधृत रहने के कारण ये विषयीगत हैं एवं अन्य दृष्टिकोणों की सम्भावना के कारण ये विषयगत हैं। किन्तु, लेखक के मत में यह सिद्धान्त भी मूल्यों को अन्ततः विषयीगत ही बना देता है। इस सिद्धान्त में भी विषयी से पृथक् मूल्यों की यथार्थता नहीं मानी गई है। दृष्टिकोण बदलते रहते हैं, मूल्य दृष्टिकोण पर आधृत हैं, अतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानना पड़ता है कि हर दृष्टिकोण के साथ मूल्य परिवर्तित होते रहेंगे। इस प्रकार का मूल्य वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता।

मूल्यों के स्वरूप के सम्बन्ध में इतने मतभेद और विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों के रहने के फलस्वरूप आधुनिक काल में कुछ ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ जिनके अनुसार मूल्यों के वैयक्तिक अथवा वस्तुनिष्ठ होने का प्रश्न ही नहीं उठता। विशेषतः इन सिद्धान्तों का उपयोग नैतिकता के विश्लेषण के संदर्भ में हुआ। ऐसे एक सिद्धान्त के अनुसार नैतिक निर्णय निर्देशात्मक हैं—यह विशेष प्रकार का कार्य या विशेष ढंग का जीवन यापन करने का निश्चय है। ऐसे ही एक अन्य सिद्धान्त के अनुसार नैतिक निर्णय आवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं। जिस प्रकार अनायास हँसी या उच्छ्वास के सत्य-असत्य होने का प्रश्न नहीं उठता उसी प्रकार इन निर्णयों के भी सत्य-असत्य होने का प्रश्न नहीं उठता। नैतिक निर्णय ज्ञानात्मक कथन नहीं, आवेगात्मक उक्तियाँ हैं।

यदि नैतिक वाक्यों को निर्देशात्मक माना जाय तो प्रश्न होता है, निर्देश देने वाला कौन है? यह भी पूछा जा सकता है कि इसे निर्देश क्यों माना जाय, क्या मजबूरी या कौन सा दायित्व-भाव इस निर्देश को पवित्रता दे देता है? इस मत के समर्थकों के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। उसी प्रकार नैतिक निर्णय को आवेगात्मक उक्तियाँ कहने में भी कठिनाई है। हर आवेगात्मक अभिव्यक्ति का आधार कोई पूर्वमान्यता अथवा विश्वास होता है। उसी मान्यता या विश्वास को छोड़ने पर भावनाएं जागती हैं। उसी प्रकार मूल्यों के पूर्व ज्ञान पर ही मूल्य सम्बन्धी भावनात्मक अभिव्यक्तियां होती हैं।

इन सभी सिद्धान्तों की विवेचना एवं परीक्षा करते हुए लेखक वस्तुनिष्ठ मूल्यों की यथार्थता स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सामान्य को तीन वर्गों में बाटा जा सकता है—मूल्य, विमूल्य तथा तटस्थ सामान्य (वेल्यू, डिस्वेल्यू एण्ड न्यूट्रेल यूनीवर्सल)। सामान्य वस्तुनिष्ठ हैं, अर्थात इन तीनों की वस्तुनिष्ठता भी सिद्ध है। लेखक के अनुसार विश्व इन तीनों मण्डलों का सम्मिश्रण है, इसी कारण विश्व की प्रवृत्ति मूल्यात्मक प्रतीत होती है।

विश्व का मूल्यात्मक अभिविन्यास

यदि मूल्य मन की कल्पना नहीं और यदि वे विषयगत हैं तो विश्व में आत्म की वास्तविकता के साथ मूल्यों की वास्तविकता भी स्वीकारनी होगी। लेखक के मत में आत्म का मूल्यों के साथ कर्तृत्व-सम्बन्ध है और स्पष्टतः यह सम्बन्ध आन्तरिक है। विश्व का स्वरूप इसी सम्बन्ध के द्वारा निर्धारित होता है। मूल्यहीन विश्व की कल्पना विश्व को तटस्थ नहीं, अर्थहीन बना देती है। यही कारण है कि विश्व शुभ-अशुभ दोनों हो सकता है, विश्व में मूल्य एवं विमूल्य के अनुरूप शुभ-अशुभ दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। मूल्य आकर्षित करते हैं, विमूल्य विकर्षित करते हैं, और इन्हीं सम्बन्धों के अनुरूप विश्व के स्वरूप को समझा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो क्या विश्व को मूल्यात्मक कहने का अर्थ है कि विश्व में मूल्य है ? क्या ऐसा कथन किया जा सकता है ? मूल्य तो विश्व के घटक तत्त्वों से सम्बन्धित है–आत्म से अथवा अन्य वस्तुओं से सम्बन्धित है। क्या सम्पूर्ण विश्व के सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है ? मैक्टेगार्ट के अनुसार यह कहना उतना ही अयुक्त है जितना यह कहना कि "सारा शहर पियक्कड़ है"। यदि यह ठीक भी हो कि शहर के अधिकांश लोग शराब के नशे में डूबे रहें तो भी क्या सम्पूर्ण शहर को पियक्कड़ कहा जा सकता है ? उसी प्रकार जब मूल्यों का सम्बन्ध मनुष्यों से है तो सम्पूर्ण विश्व को मूल्यात्मक कहना ठीक नहीं। मेक्टेगार्ट के इस विचार के पीछे एक अन्य विचार भी है। उनके मत में मूल्यों का प्रश्न चेतन जीव के सम्बन्धों के साथ ही उठता है, अतः विश्व, जिसमें अचेतन तत्त्व भी हैं, मूल्य-रूप नहीं हो सकता।

लेखक मैक्टेगार्ट के इस मत से सहमत नहीं। उनके अनुसार मूल्य विषयगत हैं और वे वस्तुओं में भी रह सकते हैं। उदाहरणतः सौन्दर्य ऐन्द्रिय-विषय में रहता है, गणितज्ञ गणित में सौन्दर्य देखता है। उसी प्रकार समन्वय, संगठन, व्यवस्था आदि की पहचान भी मूल्य की पहचान है.। विश्व इन्हीं मूल्यों का संगठन है। विश्व के सभी विशेषों में भी आन्तरिक सम्बन्ध है, जिसकी अवगति साक्षात् या परोक्ष ढंग से हो सकती है। लेखक के मत में विश्व की व्यवस्था का विश्लेषण **आत्म, मूल्य** तथा **अमूल्य** में हो सकता है। इस प्रकार विश्व का स्वरूप बौद्धिक भी है और मूल्यात्मक भी। इस निष्कर्ष की पुष्टि एक अन्य ढंग से भी हो जाती है। चेतन जीव की सीमाएं अथवा अचेतन तत्त्वों का सीमित रूप—ये सभी विश्व की कमी या सीमा के रूप में समझे जा सकते हैं। इसी कारण तो सृष्टि की प्रक्रिया के लक्ष्य अथवा आत्म के चरम आदर्श की बात की जाती है। इसी कारण यह विश्वास उत्पन्न होता है कि हमारा साधारण जीवन हमारे अस्तित्व तथा जीवन का आदर्श नहीं बल्कि जीवन का आदर्श सर्वोच्च मूल्य है।

अन्य मन का ज्ञान

लेखक के मत में अन्य मन के ज्ञान की समस्या भौतिक पदार्थों के ज्ञान की समस्या से भिन्न है। भौतिक पदार्थों के अस्तित्व पर ही शंका की जाती है, अन्य मन के साथ ऐसी बात नहीं है। अन्य मन के अस्तित्व को स्वीकारने में प्रत्ययवादी दर्शन को भी झिझक नहीं। यहां मूल समस्या है—अन्य मन का **ज्ञान** कैसे होता है ? क्या अन्य मन की साक्षात् अनुभूति होती है ? क्या यह ज्ञान अनुमानजन्य है ?

सामान्यतः लोकसाधारण बुद्धि (कामन-सेंस) यह मान लेती है कि हमें भौतिक पदार्थों तथा अन्य मन की अवगति साक्षात् ज्ञान के रूप में होती है। हमें अन्य मन का एवं उसके व्यवहारों का अनुभव होता है। किन्तु, लोकसाधारण बुद्धि के इस विश्वास को दार्शनिक मान्यता देने में कठिनाई है। भ्रान्ति या भ्रम की व्याख्या लोकसाधारण बुद्धि के समर्थकों के पास नहीं। उसी प्रकार हमें अन्य मन के चिन्तन या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारों की साक्षात् अनुभूति नहीं होती क्योंकि हर मन का चिन्तन उसके वैयक्तिक जगत् का व्यापार है। इस प्रकार दार्शनिक समस्या उठ खड़ी होती है—यदि लोक-साधारण बुद्धि की बातें मान्य नहीं तो अन्य मन का ज्ञान होता कैसे है ?

लेखक के मत में यह ज्ञान अनुमानजन्य ही है। किन्तु इस निष्कर्ष की स्थापना में एक कठिनाई है। कुछ विचारक अनुमान की क्रिया या अन्य शुद्ध बौद्धिक प्रणाली को उतना महत्त्व नहीं देते, क्योंकि उनके अनुसार इन विधियों से बहुधा ग़लत ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अतः उनका कहना है कि अन्य मन का ज्ञान एक प्रकार की आन्तर अनुभूति है। आंतर-प्रत्यक्ष (इन्ट्यूशन) दोषाक्षम होता है, भौतिक विधियों के समान दोषक्षम नहीं। किन्तु लेखक के मत में आंतर-प्रत्यक्ष सिद्धान्त समस्या को सुलझाने के स्थान पर उलझनों को और बढ़ा देता है। इसके समर्थकों से कई प्रश्न पूछे जा सकते हैं—इस निष्कर्ष का आधार क्या है ? क्या उदाहरण अन्य मन की आंतर अनुभूति के दिये जा सकते हैं ? आंतर-प्रत्यक्ष से ज्ञात सत्य स्वतःसिद्ध होते हैं—तो क्या अन्य मन का ज्ञान स्वतःसिद्ध है ? आंतर-प्रत्यक्ष में अन्य मन किस रूप में जाना जाता है—निरवयवी या अवयवी रूप में ? स्पष्ट है, इन प्रश्नों का उत्तर सम्भव नहीं। अतः आंतर-प्रत्यक्ष सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी जा सकती। कुछ अन्य विचारकों का कहना है कि हमें मन के अस्तित्व का तो साक्षात् ज्ञान हो जाता है, मन के रूप अथवा व्यापार अथवा मन की क्रियाओं का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। लेखक को यह भी अयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि अपने स्वरूप, व्यापार, क्रियाओं आदि से पृथक् मन का अस्तित्व ही नहीं है।

सच पूछा जाय तो हमें अन्य मन की साक्षात् अनुभूति नहीं होती, बल्कि कुछ रूप, व्यापार व्यवहार आदि की अनुभूति होती है। हम कुछ मुद्राओं तथा व्यवहारों को देखते हैं और उसके आधार पर 'अन्य मन' का अनुमान करते हैं। अतः अन्य मन का ज्ञान अनुमानजन्य ही है। इस अनुमान का आधार अन्य मन की क्रियाओं की अभिव्यक्तियां हैं जिनका हमें साक्षात् अनुभव होता है।

बाह्य जगत् का ज्ञान

साधारणतः बाह्य जगत् के ज्ञान का आधार प्रत्यक्ष को माना जाता है। प्रत्यक्ष का साधारण अर्थ ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष से सम्बन्धित समस्याएँ सदा से दार्शनिक विचारक का ध्यान आकर्षित करती रही हैं। फलतः इन समस्याओं के विवेचन के बिना बाह्य जगत् के ज्ञान की समस्या का समाधान भी सम्भव नहीं। इनमें कुछ प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—क्या हम वस्तु के वास्तविक रूप का प्रत्यक्ष करते हैं ? यदि हां, तो भ्रम क्यों होता है, यदि नहीं, तो प्रत्यक्ष से क्या ज्ञात होता है ? कैसे किसी भाग या अंश को देखकर उसके पूर्ण रूप का ज्ञान हो जाता है ? क्या प्रत्यक्ष में केवल गुणों या लक्षणों का ज्ञान होता है या उन गुणों के आधार-तत्त्व का भी ? प्रत्यक्ष तथा संवेदन में क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह तो माना जा सकता है कि प्रत्यक्ष अथवा संवेदन में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण प्रत्यक्ष-ज्ञान साक्षात् तथा तात्कालिक होता है। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान ही साक्षात् ज्ञान है और अन्य सभी ज्ञान परोक्ष। साक्षात् एवं परोक्ष ज्ञान का अन्तर एक अर्थ में अस्पष्ट ही है, क्योंकि इस अन्तर का एक आधार काल भी है। इसी कारण कुछ प्रत्ययवादी इन्द्रियानुभूति को भी पूर्णतया साक्षात् नहीं मानते। उसके अनुसार इन्द्रियानुभूति से वस्तुज्ञान की उपलब्धि के बीच मानसिक निर्णय की विधि कार्य करती है। निर्णय अनुमान नहीं, यह इन्द्रियानुभूति को व्यवस्थित करता है। यदि यह ठीक है तो प्रश्न होगा कि क्या प्रत्यक्ष एवं निर्णय के संयोग से बाह्य जगत् का ज्ञान होता है? बाह्य जगत् के ज्ञान के सम्बन्ध में इस प्रश्न को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। फलतः पाश्चात्य दर्शन की परम्परा में इस प्रश्न के अनेक उत्तर हैं। उनकी विवेचना के आधार पर ही कुछ नूतन निष्कर्ष स्थापित किये जा सकते हैं।

लोकबुद्धिपरक वास्तववाद :

इस सिद्धान्त के अनुसार बाह्य जगत् अथवा भौतिक पदार्थों का ज्ञान किसी अनुमान से प्राप्त नहीं होता, साक्षात् अनुभूति से प्राप्त होता है। साधारणतः इस निष्कर्ष पर संशय नहीं होता। इसके अनुसार वस्तु के प्रत्यक्ष के पहले कोई अन्य प्रदत्त नहीं होता, हम वस्तु का उसके वास्तविक रूप में प्रत्यक्ष करते हैं। इस सिद्धान्त का खण्डन प्रत्यक्ष की विभिन्न विसंगतियों के द्वारा ही हो जाता है। एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न दर्शकों को भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देती हैं तथा एक ही दर्शक को विभिन्न समयों में भिन्न दिखाई देती है। उसी प्रकार भ्रम अथवा भ्रान्ति भी प्रत्यक्ष की विसंगति है। यदि प्रत्यक्ष से वस्तु के वास्तविक रूप का ज्ञान होता तो प्रत्यक्ष में विसंगतियों का प्रश्न नहीं होता।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक और आपत्ति उठाई जाती है। यदि हम प्रत्यक्ष से वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान पाते हैं और उन्हें उसी रूप में जानते हैं जिस रूप में वे हैं, तो इसका अर्थ है कि इन्द्रिय-संवेदना से लेकर अवगति तक जो क्रियाएं हुई उनका कोई प्रभाव वस्तु के ज्ञान पर नहीं पड़ा। तो, इन क्रियाओं की सार्थकता क्या है? एक अन्य कठिनाई भी है। बहुधा हमें प्रत्यक्ष होता है वस्तु के किसी भाग का और हमें अवगति होती है सम्पूर्ण वस्तु की। यदि लोकबुद्धिपरक वास्तववाद सही है तो ऐसे उदाहरणों में हमें केवल उस भाग की अवगति होनी चाहिये जिसका प्रत्यक्ष हुआ है, पूर्ण वस्तु की नहीं। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि लोकबुद्धिपरक वास्तववाद के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान की समस्या सुलझ नहीं सकती।

साक्षात् वास्तववाद के संशोधित रूप :

लोकबुद्धिपरक वास्तववाद के दोषों को ध्यान में रखते हुए वास्तववादी दार्शनिकों ने वास्तववाद का संशोधन किया। एक संशोधन प्रत्यक्ष क्षेत्र में प्रगति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं सत्ता के अन्तर के आधार पर किया गया। रसेल ने कुछ इसी प्रकार का मत दिया है। जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो वह दिखाई देती है विशेष रूप में। इस प्रकार वस्तु को विशेष नहीं कहा जा सकता, उसे विशेष जाति कह सकते हैं, जो भिन्न-भिन्न दर्शकों को विभिन्न तथा विशेष रूपों में दिखाई देती है। इस सिद्धान्त में वस्तु तथा उसकी प्रतीति दोनों की वस्तुनिष्ठता अथवा वास्तविकता मानी गई है। किन्तु इस मत में कुछ तर्किक कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं। प्रथमतः, यदि हमें प्रतीति का प्रत्यक्ष होता है तो वस्तु की सत्ता स्वीकार करने का आधार नहीं रहता। पुनः, इस मत के अनुसार वस्तु को 'प्रतीतियों का संघात' मानना पड़ेगा, किन्तु तब वस्तु के वस्तु-रूप का निषेध हो जायगा। और, प्रत्यक्ष के कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जिनकी व्याख्या इस मत के द्वारा नहीं हो सकती, जैसे बम के फटने का प्रत्यक्ष, तारे के टूटने का प्रत्यक्ष आदि।

इस मत के दोषों की जड़ में बस इतनी ही बात है कि यह अपनी व्याख्या में 'मन' का कोई स्थान देना नहीं चाहता—शायद इस डर से कि 'मन' को महत्त्व देने से वास्तववाद का महत्त्व कम हो जायगा। कुछ वास्तववादी 'मन' के प्रति इतने अनुदार नहीं है। अतः वास्तववाद के दो अन्य रूप भी मिलते हैं जिन्हें बहुविध न्यस्तता सिद्धान्त (थ्योरी ऑव मल्टीपल इन्टीयरेन्स) तथा प्रतीति का बहुविध सम्बन्ध सिद्धान्त (मल्टीपल रिलेशन थ्योरी ऑव अपीयरिंग) कहा जा सकता है।

बहुविध न्यस्तता-सिद्धान्त एक प्रकार से वस्तुनिष्ठ सापेक्षता सिद्धान्त ही है। इसके अनुसार प्रत्यक्ष में द्वयात्मक सम्बन्ध नहीं त्रयात्मक सम्बन्ध है। अतः यह कहना उपयुक्त नहीं कि 'कलाल है', बल्कि यह कहना ठीक है कि 'अमुक दृष्टि से कलाल है'। तब यह है कि एक दृष्टिकोण से प्राप्त प्रत्यक्ष-ज्ञान की यथार्थता बस उसी दृष्टिकोण से है। इस मत के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि एक दोष से बचने की चेष्टा में यह अन्य उलझनों में उलझ जाता है। यदि प्रत्यक्ष की यथार्थता दृष्टिकोणों पर निर्भर करती है तो फिर वस्तु क्या है अथवा वस्तु-रूप के ज्ञान का आधार क्या है? क्या दृष्टिकोणों की संसृष्टि है? यदि "हां" कहा जाय तो वास्तववाद नष्ट हो जाता है और वस्तु का ज्ञान विषयीगत हो जाता है।

इस सिद्धान्त का परिवर्तित रूप प्रतीति का बहुविध सम्बन्ध सिद्धान्त है। इसके अनुसार भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु की प्रतीति भिन्न होती है, किन्तु इसके अनुसार किसी एक विशिष्ट दृष्टिकोण से वस्तु के वास्तविक रूप का प्रत्यक्ष होता है। एक सिक्का भिन्न-भिन्न दूरियों पर भिन्न आकार का दिखाई देता है किन्तु किसी विशेष दृष्टिकोण से उसके वास्तविक आकार—उसकी गोलाई—का भी प्रत्यक्ष होता है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह किसी विशेष दृष्टिकोण को अकारण ही आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे देता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और यह स्पष्ट नहीं कर पाता कि क्यों किसी विशेष दृष्टिकोण से प्राप्त ज्ञान को वास्तविक मान लिया जाय !

ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद

लेखक के मत में ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद प्रत्यक्ष का प्रतिनिधित्ववादी सिद्धान्त ही है जिसे कभी-कभी संवेदपरक सिद्धान्त (सेंसम थ्योरी) भी कहा जाता है। इस मत के विरोधी इस सिद्धान्त को प्रत्ययवाद का समर्थक मानते हैं, किन्तु लेखक के अनुसार यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष-सम्बन्धी समस्याओं की बौद्धिक विवेचना पर आधृत है। इसके अनुसार भौतिक पदार्थों की सत्ता है, किन्तु उनकी साक्षात् अनुभूति नहीं होती। साक्षात् अनुभूति होती है संवेद-प्रदत्त (सेंस-डाटा) की, जैसे लाल, चौकोर आदि।

इस सिद्धान्त का एक गुण तो यह है कि यह भ्रम की व्याख्या सुगमता से कर देता है। जब मैं पानी में एक छड़ी देखता हूँ तो मुझे सीधी छड़ी की साक्षात् अनुभूति नहीं होती, मुड़ी छड़ी की होती है। अब इस सिद्धान्त के समर्थकों से पूछा जा सकता है कि छड़ी सीधी है—इस ज्ञान का क्या आधार है। सच पूछा जाय तो इस सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्ति ही यही उठायी जाती है कि यह भ्रम की व्याख्या तो कर देता है, भौतिक विषय के ज्ञान की व्याख्या नहीं कर पाता। यदि प्रत्यक्ष से हमें इन्द्रिय-प्रदत्त का ज्ञान होता है तो भौतिक वस्तु का ज्ञान कैसे होता है? इस प्रश्न का समाधान किया गया है। इस मत के समर्थकों का कहना है कि इन्द्रिय-प्रदत्त के साक्षात् ज्ञान के आधार पर भौतिक पदार्थों का अनुमान नहीं किया जाता। सच पूछा जाय तो भौतिक पदार्थों के अस्तित्व में तो हमारा सहज विश्वास है। हमारी सम्पूर्ण प्रत्यक्ष-प्रक्रियां (प्रदत्त का प्रत्यक्ष भी) उसी सहज विश्वास पर आधृत है। अनुमान की सहायता इस विश्वास के औचित्य-समर्थन के लिए ली जाती है।

अब, पूछा जा सकता है कि इस सहज विश्वास का आधार क्या है? यदि साक्षात् या अनुमान-जन्य कोई ज्ञान इस विश्वास का आधार नहीं तो यह विश्वास उत्पन्न कैसे होता है? लेखक के मत में इस कठिनाई के समाधान की चेष्टा में ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद का सिद्धान्त परिवर्तित हो जाता है। या तो इसे पूर्णतया प्रत्ययवाद की ओर झुकना पड़ता है, अथवा डॉ० इविंग के समान, आंतर-प्रत्यक्ष की बात कर बीच का रास्ता अपनाना पड़ता है। यदि संवेद-प्रदत्त को पूर्णतया मन पर निर्भर मान लिया जाय तो भौतिक विषयों के अस्तित्व पर विश्वास की प्रत्ययवादी व्याख्या मिल सकती है। कहा जा सकता है कि भौतिक पदार्थ मन की प्रतिमाओं (इमेजिज़) के द्वारा निर्मित भाव ही हैं और यही आधार है उनके अस्तित्व में विश्वास का। दूसरा मार्ग आंतर-प्रत्यक्ष का है। कहा जा सकता है कि भौतिक पदार्थों के अस्तित्व का ज्ञान हमें आंतर-प्रत्यक्ष से होता है, प्रत्यक्ष इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास की युक्तता अथवा तर्कसंगतता स्थापित कर देता है। किन्तु, इनमें से किसी मार्ग को अपनाने का अर्थ है कि ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद का अपनी सीमा के परे चले जाना।

इस प्रकार लेखक भौतिक पदार्थ के ज्ञान की समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं देते, केवल सभी सम्भावनाओं को प्रकाश में ला देते हैं।

संवेद-प्रदत्त तथा सामान्य :

कुछ समीक्षात्मक वास्तववादी संवेद-प्रदत्त को भी सामान्य के रूप में समझने की चेष्टा करते हैं। ये प्रदत्त के विशेष रूप का निषेध नहीं करते, यह भी मानते हैं कि प्रदत्त-विशेष में उसके कुछ लक्षण निहित हैं। पर वे यह भी मानते हैं कि प्रदत्त में सामान्य-बोध भी है, और ये सामान्य प्रदत्त में समाविष्ट गुण नहीं हैं। उनके अनुसार इन सामान्यों को मान कर भ्रम की सुगम व्याख्या की जा सकती है। बहुविध न्यस्तता-सिद्धान्त से भी इस बात की पुष्टि होती है। कहा जा सकता है कि एक दृष्टि से वस्तु की एक प्रतीति होती है, उस दृष्टि से वही प्रतीति वास्तविक है, अन्य प्रतीतियां भ्रामक हैं। बहुविध न्यस्तता-सिद्धान्त की इस व्याख्या में त्रयात्मक सम्बन्ध की पूर्ण व्याख्या नहीं हो पाती। यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि प्रदत्त तथा विषयी एवं प्रदत्त तथा वस्तु में किस प्रकार का सम्बन्ध है। अतः लेखक पुनः साक्षात् वास्तववाद, इन्द्रियपरक सिद्धान्त आदि की विवेचना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कम से कम भ्रम की व्याख्या के लिए प्रदत्त का सामान्य-रूप स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। यदि प्रदत्त विशेष है तो वह जिस दृष्टि से प्रदत्त है उस दृष्टि से वास्तविक है। अतः इस दृष्टि से भ्रम की व्याख्या असम्भव हो जाती है। किन्तु यदि हम यह मानें कि साक्षात् प्रत्यक्ष में प्रदत्त के साथ कुछ ऐसे सामान्य का प्रत्यक्ष भी होता है जो प्रदत्त में समाविष्ट लक्षण नहीं, तो भ्रम की व्याख्या का एक साधन मिल जाता है और फिर प्रदत्त-विशेषों की समानता अथवा भिन्नता भी **सामान्य** ही है। अतः इन्द्रिय-प्रदत्त की व्याख्या में **सामान्य** के लिए स्थान निकल आता है।

पटना विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेविड ह्यूम का दर्शन

एस० भारद्वाज
बी० के० भारद्वाज

इस लेख का आधार डेविड ह्यूम के दर्शन विषयक वी. सी. चैप्पेल द्वारा सम्पादित समीक्षात्मक निबन्धों का एक संग्रह[1] है।

इस पुस्तक में प्रो० चैप्पेल ने पाँच पृष्ठों का प्राक्कथन लिखा है। इसमें उन्होंने ह्यूम के दर्शन में समकालीन अभिरुचि के दो मुख्य हेतु बताये हैं। उन्होंने बताया है कि ह्यूम के जीवन तथा दार्शनिक विचारों से जितने सुपरिचित हम आज हैं उतने सुपरिचित हम पहले कभी भी नहीं थे। इसका श्रेय इस बात को जाता है कि आज ह्यूम के विषय में बहुत बड़ी मात्रा में श्रेष्ठ साहित्य उपलब्ध है। ह्यूम के जीवन तथा दर्शन के सम्बन्ध में सन् १६२५ के बाद जितने और जिस श्रेष्ठ कोटि के साहित्य का सृजन हुआ है वह उससे पहले सम्भव नहीं हो पाया था।

ह्यूम में अभिरुचि का दूसरा कारण है समकालीन दर्शन पर ह्यूम का जीवन्त प्रभाव। सन् १६३० से चल रही ब्रिटेन और अमरीका की प्रमुख विश्लेषणात्मक दार्शनिक परम्परा में यह प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। ह्यूम के दर्शन की तरह आज का दर्शन भी विश्लेषणोन्मुखी है। उसमें जीवन तथा सृष्टि के विषय में बड़ी-बड़ी महत्वाकांक्षी कल्पनाओं के प्रति अविश्वास, कठोर तथ्यों के प्रति अपरिमित श्रद्धा, युक्त और सजग तर्क तथा दार्शनिक दावों में असीम नम्रताएँ, सब गुण उसी तरह हैं जिस तरह वे ह्यूम के दर्शन में पाये जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि ह्यूम के दर्शन और समकालीन दर्शन में कोई अन्तर ही नहीं है, बहुत है। समकालीन दार्शनिकों का ह्यूम के दार्शनिक विचारों से गहरा मतभेद है। जिस प्रकार रसेल और मूअर में, कार्नेप और राइल में, क्वाईन और ऑस्टिन में, तथा पूर्व-विट्गिस्टाईन और उत्तर-विट्गिस्टाईन में गहरा मतभेद है उसी प्रकार ह्यूम तथा समकालीन दार्शनिकों में गहरा मतभेद है। परन्तु यह भी सच है कि ह्यूम तथा समकालीन दार्शनिक, दोनों ही, एक ही विश्लेषणात्मक परम्परा में आते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत पुस्तक में कुल मिलाकर इक्कीस उच्च कोटि के निबन्ध हैं। हम इन सभी पर, एक-एक करके, कुछ कहना चाहेंगे। इस ढंग से हिन्दी के पाठक को यह जानने में बहुत सुविधा होगी कि प्रस्तुत पुस्तक में किस लेखक ने क्या कहा है। कोई लेख पहले कहाँ प्रकाशित हुआ है अथवा पहले प्रकाशित हुआ ही नहीं, इस सम्बन्ध में भी आवश्यक जानकारी प्रबन्धों की संलग्न सूची में दे दी गई है।

(१) दर्शन और जीवनी : डेविड ह्यूम का पक्ष :

ई० सी० मास्सनेर ने अपने इस लेख में ह्यूम पर लगाये गए दो लांछनों का निराकरण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने बताया है कि अट्ठारहवीं शताब्दी में ही उनके समकालीन विचारकों ने ह्यूम की बौद्धिक और नैतिक ईमानदारी पर सन्देह प्रकट करना शुरू कर दिया था। इन लोगों में डॉ० जॉन ब्राऊन, डॉ० विलियम वरवर्टन तथा डॉ० जेम्ज़ बीट्टी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उदाहरणतः डॉ० वरवर्टन को ही लीजिए। उन्होंने ह्यूम के प्रकाशक एण्डर्यु मिल्लर को एक पत्र में यों लिखा—"आपने अक्सर मुझे इस आदमी के नैतिक गुणों के बारे में बताया है। चाहे मैं कितना ही कम जानता होऊं, इस आदमी में शायद ही कोई नैतिक गुण हो। तथापि मैं इतना ज़रूर कहना चाहता हूँ कि कुछ बुराइयाँ तो मन की होती हैं और कुछ शरीर की। और मैं सोचता हूँ कि इस आदमी से बढ़कर कोई बुरा आदमी दुनियाँ में नहीं देखा जो इससे ज्यादा ढिठाई के साथ समाज में शरारत करने पर तुला हो।"[२] उन्नीसवीं शताब्दी में, ह्यूम की बौद्धिक और नैतिक ईमानदारी में संदेह करने वालों में जॉन स्टुआर्ट मिल तथा टी० एस० हक्सले—ये दो नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रोफेसर जान एच० रेंडाल जूनियर ने ह्यूम के बारे में लिखते हुए उन पर यह लांछन लगाया कि ह्यूम सच्चे मानों में दार्शनिक नहीं था। उसने जो कुछ भी लिखा वह या तो पैसा कमाने के लिए लिखा अथवा साहित्यिक यश-प्राप्ति के लिए लिखा। इन लांछनों के बावजूद, प्रो० रेंडाल ने यह भी कहा है कि इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं कि ह्यूम एक सर्वोच्च ब्रिटिश दार्शनिक थे।

यहाँ एक विरोधाभास है। एक ओर तो ह्यूम को दम्भी, पण्डितम्मन्य व्यक्ति कहा जा रहा है और दूसरी ओर उसे सर्वोच्च कोटि का दार्शनिक कहा जा रहा है। मास्सनेर ने इसी विरोधाभास का निराकरण करते हुए ह्यूम पर लगाये गए लांछनों का निराकरण करने का प्रयत्न किया है। ह्यूम के पक्ष के समर्थन के लिए उन्होंने विशेष रूप से ह्यूम की आत्म-कथा और उनकी जीवनी से सम्बन्धित अन्य सामग्री को आधार माना है। अन्त में, उन्होंने यह बताया है कि ह्यूम वास्तव में एक निष्ठावान् सत्यान्वेषी दार्शनिक थे। इस लेख में निर्दिष्ट मत की उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर सशक्त संपुष्टि हो पाई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) ह्यूम के बारे में कुछ ग़लतफ़हमियाँ[3] :

इस लेख में टी० ई० जेस्सेप ने ह्यूम के बारे में कुछेक ग़लतफ़हमियों को दूर करने का प्रयत्न किया है। दार्शनिकों ने ह्यूम को प्रायः ज्ञान-मीमांसक के रूप में ही देखा है। यह इसलिए हुआ क्योंकि इन दार्शनिकों ने ह्यूम की ट्रीटीज़ के पहले भाग पर ज्यादा ज़ोर दिया है और साथ ही इस भाग को दूसरे भागों से अलग करके पढ़ा है। इसी प्रकार उन्होंने प्रथम एन्क्वायरी पर अधिक ज़ोर दिया है और इसे द्वितीय एन्क्वायरी से पृथक् करके पढ़ा है। फलस्वरूप ह्यूम के दर्शन के विषय में अनेकानेक भ्रामक धारणाओं का प्रचार हुआ है। परन्तु ये दार्शनिक इस बात को भूल जाते हैं कि ह्यूम ने स्वयं अपनी द्वितीय एन्क्वायरी को "अपनी सभी रचनाओं—ऐतिहासिक, दार्शनिक, अथवा साहित्यिक—में सबसे श्रेष्ठ और अतुलनीय (रचना) बताया है" और अपने-आपको मुख्यतः सदसद्-विवेचक और नीतिज्ञ माना है। एक सदसद्विवेचक के नाते उन्होंने जीवन को बहुत ही संजीदगी से देखा और अपने दार्शनिक चिन्तन में सचाई को हमेशा कायम रखा। 'प्रिन्सिपल्ज़ ऑफ मॉरल्ज़' में न्याय तथा जनहितैषिता का विवेचन, 'पॉलिटिकल डिस्कोर्सिज़' में एक अच्छी सरकार के विषय पर चिन्तन तथा 'हिस्ट्री' में दिये गये नैतिक निर्णय—ये सब ह्यूम की जीवन के प्रति सच्चाई और संजीदगी के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यह बात ह्यूम के प्रसिद्ध व्याख्याकार नार्मन केम्पस्मिथ ने भी कही है। वे तो यहाँ तक कहते हैं (और उनका कथन उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर जेस्सेप को पूर्णतया मान्य है) कि 'ट्रीटीज़ का पहला भाग इसके दूसरे और तीसरे भागों को लिखने के बाद लिखा गया था। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि ह्यूम एक सच्चे दार्शनिक के नाते नैतिकता तथा धर्म के प्रश्नों में बहुत अधिक रुचि रखते थे। इस तथ्य को भुला देने के फलस्वरूप ह्यूम के व्यक्तित्व तथा दर्शन को प्रायः ग़लत समझा गया है और उन्हें धन-लाभ तथा यश-लाभ के चक्कर में पड़ा हुआ दम्भी दार्शनिक कहा गया है। इतना ही नहीं, बल्कि यदि हम ह्यूम के दर्शन में उनकी नैतिक अभिरुचि की प्राथमिकता को ध्यान में रखें तो उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में पाई जाने वाली अनेक असंगतियों का भी (उदाहरणतः ट्रीटीज़ में आत्म विषयक असंगतियों का) निवारण सम्भव हो जाता है।

ह्यूम की ट्रीटीज़ तथा एन्क्वायरीज़ में कुछ तो ज्ञान-मीमांसा है और बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हैं, यह बात हमें स्पष्ट रूप से ध्यान में रखनी चाहिए। क्योंकि ह्यूम ने जहाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है उसे ज्ञान-मीमांसकीय विश्लेषण मान लेना भूल होगी। इस प्रकार की भूल भी ह्यूम के बारे में भ्रामक धारणाओं की उर्वर स्रोत बनी रही है। उदाहरणतः, प्रायः ऐसा कहा गया है कि ह्यूम ने कारण-कार्य-शृंखला के तथ्य को नहीं माना। वास्तव में यह सच नहीं है। जेस्सोप के अनुसार ह्यूम ने कारण-कार्य-शृंखला के तथ्य को पूर्णरूप से स्वीकार किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो उन्होंने स्वीकार नहीं किया वह यह है कि इस कारण-कार्य-शृंखला के तथ्य की तर्कतः बुद्धिगम्य व्याख्या सम्भव है। अतः अपनी दार्शनिक रचनाओं में इन्होंने इस कारण-कार्य-अनुमान की मानसिक प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखा। इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को ज्ञान-मीमांसकीय विश्लेषण समझ लेना ग़ल्ती होगी।

इसमें सन्देह नहीं कि ह्यूम एक अनुभववादी दार्शनिक थे। किन्तु उनकी विशेषता यह थी कि वे मानव-प्रकृति को अपने दार्शनिक विश्लेषण का आधार मानते थे। वे मानव-प्रकृति से ही अपना दार्शनिक विश्लेषण शुरू करते थे। केवल इतना ही नहीं, वे मानव-प्रकृति को अपने दार्शनिक निष्कर्षों की सचाई की कसौटी अथवा मानदण्ड भी मानते थे। जो दार्शनिक सिद्धान्त मानव-प्रकृति के विरुद्ध जाता था, अथवा इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता था, वह उन्हें मान्य नहीं था। उनकी दृष्टि से सभी दार्शनिक मूलतः मनुष्य ही तो हैं, अतः वे अपनी मानवता को किसी भी तरह छोड़ नहीं सकते। और जब कभी वे अपनी मानवता को छोड़ने अथवा भुलाने की दुश्चेष्टा करते भी हैं तो वे अपने-आपको मूर्ख ही सिद्ध करते हैं। यही ह्यूम के अनुभववादी दर्शन की मौलिक विशेषता है कि उन्होंने मानव-प्रकृति को दर्शन का मूलभूत आधार और किसी भी दार्शनिक सच्चाई का एकमात्र मानदण्ड माना है। इसे हम उनके दर्शन का मूलमन्त्र भी कह सकते हैं। उन्होंने अपने दार्शनिक विश्लेषण में इस मूलमंत्र को कभी नहीं भुलाया।

अपने अनुभववाद की इसी विशेषता के कारण ट्रीटीज़ के पहले भाग में ह्यूम का कहना है कि हमारे इन्द्रियग्रहण से स्वतन्त्र भौतिक सृष्टि की सत्ता है और इसमें सभी चीज़ें कारण-कार्य नियमों के अधीन हैं। वे कारण-कार्य-नियमों को केवल भौतिक सृष्टि के ही अंग नहीं मानते हैं बल्कि मानस्-जगत् में भी पूर्णतया लागू मानते हैं। जेस्सोप के मत में, ह्यूम के बारे में ये सब मनघड़न्त कल्पनाएँ नहीं हैं अपितु ट्रीटीज़ में पाये जाने वाले सिद्धान्त हैं।

बात यह है कि मानव-प्रकृति को देखते हुए न तो हम बाह्य जगत् की सत्ता को झुठला सकते हैं और न आन्तर जगत् की सत्ता को ही मानने से इन्कार कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त, कारण-कार्य नियमों को अस्वीकार करने में भी हमारी भूल होगी। वास्तव में ये सब तथ्य हमारे आधारभूत विश्वासों और मानव-दृष्टिकोण को ही प्रकट करते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारी मानव-प्रकृति इन्हीं विश्वासों तथा दृष्टिकोण के माध्यम से प्रकट होती है। हम बने हुए ही ऐसे हैं कि हमें बाह्य और आन्तर जगत् की सत्ता तथा कारण-कार्य-नियमों में विश्वास करना ही होता है। इन विश्वासों को हम बुद्धिगम्य बना सकें अथवा नहीं, जीवन के इन तथ्यों को हम झुठला नहीं सकते। यही बात ह्यूम ने अपने इस वाक्य में कही है कि "बुद्धि सदैव प्रकृति की गुलाम बन कर रहेगी।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यूम के इसी अनुभववाद को हम उनकी (१) नीति-मीमांसा और (२) ज्ञान-मीमांसा में भी देखते हैं। (१) ट्रीटीज़ के तीसरे भाग में उनका अनुभववाद नीति-शास्त्र को तत्त्वज्ञान तथा धर्म से स्वतन्त्र मानने में प्रकट होता है। फलत: वे नैतिक निर्णयों को न तो तत्त्वज्ञान पर आश्रित मानते हैं और न यह मानते हैं कि मनुष्य को अपने नैतिक निर्णयों पर आचरण करने के लिए ईश्वरादि किसी तत्त्व की सत्ता में विश्वास रखने की ज़रूरत है। इस दिशा में ह्यूम ने अपने पूर्ववर्त्ती विचारक शेफ़्ट्सबरी की दो दार्शनिक मान्यताओं को विशेष रूप से अपनाया। एक मान्यता तो यह है कि नैतिक जीवन पूर्णत: स्वतन्त्र और स्वाधारित है और दूसरा यह कि नैतिक-ज्ञान का स्वरूप वस्तु-ज्ञान के बजाय सौन्दर्य-ज्ञान के अधिक अनुरूप है। (२) ट्रीटीज़ के पहले भाग में ह्यूम का अनुभववाद विशेष रूप से वाह्य और आन्तर जगत् की सत्ता में तथा कारण-कार्य नियमों में उनके पूर्ण विश्वास में प्रकट होता है। उनका कहना है कि अपनी मानव-प्रकृति के कारण ही हम इन दो चीज़ों में विश्वास रखते हैं चाहे हम इन्हें तर्कत: बुद्धिगम्य बनाने में असमर्थ ही क्यों न हों।

स्पष्ट है कि ह्यूम न तो सृष्टि की सत्ता के विषय में सन्देह करते हैं और न कारण-कार्य नियमों के बारे में ही सन्देह करते हैं। कम-से-कम इस दृष्टि से वे सन्देहवादी दार्शनिक नहीं हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि वे इन दो चीजों के विषय में सन्देह नहीं कर रहे हैं तो वे अपने दर्शन में क्या कर रहे हैं? इस प्रश्न के उत्तर में जेस्सोप का कहना है कि ह्यूम सृष्टि की सत्ता और कारण-कार्य नियमों में हमारे विश्वासों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं, ज्ञान-मीमांसकीय विश्लेषण नहीं। इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए वे मनोविज्ञान के साहचर्य अथवा एसोसिएशन के सामान्य नियम का प्रयोग करते हैं। इस नियम के अपने प्रयोग के विषय में वे ट्रीटीज़ के 'एब्स्ट्रेक्ट' में लिखते हैं: "यदि कोई चीज (ट्रीटीज़ के) लेखक को यशस्वी आविष्कारक की प्रतिष्ठा के लिए अधिकृत करती है तो वह है उसका एसोसिएशन के नियम का व्यापक प्रयोग, जो उसके दार्शनिक विश्लेषण में प्राय: ही देखने को मिलता है।"

साहचर्य के मनोवैज्ञानिक नियम के अतिरिक्त ह्यूम ने विश्वास के अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का अपने दार्शनिक विश्लेषण में बहुत प्रयोग किया है। 'विश्वास' को उन्होंने इन्द्रिय-ग्रहण और मनोकल्पना की 'विशदता' अथवा 'सजीवता' की मनोवैज्ञानिक शब्दावली में परिभाषित किया है।

विश्वास विषयक अपने सिद्धान्त और साहचर्य के तीन नियमों—सादृश्य, सन्निकर्ष तथा कारण-कार्य—की सहायता से ह्यूम ने कारण-कार्य नियमों में हमारे विश्वास का मनोवैनिक विश्लेषण पेश किया है। उस विश्लेषण को यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है, केवल इतना ही कहना काफ़ी है कि ह्यूम की दृष्टि से कारण-कार्य अनुमान की प्रक्रिया स्वरूपतया मनोवैज्ञानिक है, उसका कोई तार्किक आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है; वह स्वयं कारण-कार्य-शृंखला का एक उदाहरण है। उनके शब्दों में—(कारण-कार्य-शृंखला में) "जो अनिवार्यता का सम्बन्ध दिखाई देता है वह स्वयं हमारी अनुमान की मानसिक प्रक्रिया पर आधारित है, हमारी अनुमान की प्रक्रिया उस पर आधारित नहीं है।" (ट्रीटीज़ भाग III, परिच्छेद ६)।

इसी प्रकार बाह्य भौतिक जगत् की सत्ता में हमारे विश्वास का ह्यूम ने जो विश्लेषण दिया है वह भी पूर्णतः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है; ज्ञान-मीमांसकीय विश्लेषण नहीं। जब भी हम इस तथ्य को भूल जाते हैं तभी हमारे मन में ह्यूम के बारे में ग़लतफ़हमियाँ पैदा होती हैं।

संक्षेप में, जेस्सोप का मत यह है कि ह्यूम ने बाह्य जगत् के बारे में हमारे ज्ञान का जो विवरण दिया है वह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होने के नाते आत्मपरक विवरण ही कहा जायगा, यद्यपि उन्होंने बाह्य जगत् की तथ्यपरक स्वतंत्र सत्ता को पूर्णतया माना है। स्पष्ट है कि आत्मपरक और तथ्यपरक इन दो पक्षों में परस्पर विरोध है। तथापि ह्यूम इस विरोध को छिपाते नहीं हैं बल्कि स्वयं इसे अधिक-से-अधिक प्रकाश में लाते हैं, यहाँ तक कि वे ट्रीटीज़ के पहले भाग का अन्त इस बात पर करते हैं कि इन दो पक्षों के पारस्परिक विरोध का निराकरण करना सम्भव नहीं है। यही बात ह्यूम के सन्देहवाद को प्रकट करती है।

(३) डेविड ह्यूम : उनका पिर्होवाद और पिर्होवाद के विरोध में उनके तर्क :

रिचर्ड एच० पापकिन ने इस लेख में ह्यूम के पिर्होई संशयवाद का ठीक-ठीक स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। यह बताया गया है कि ह्यूम ने स्वयं अतिवादी पिर्होवाद का खण्डन किया है और अपने संशयवाद को उन्होंने स्वयं एक-मात्र युक्तिसंगत पिर्होई दृष्टिकोण माना है।

वास्तव में ह्यूम ने जहाँ-जहाँ पिर्होई दार्शनिकों के अतिपूर्ण संशयवादी मत पर विचार किया है वहाँ उन्होंने बड़े ही स्पष्ट रूप से यह भी कहा है कि युक्ति और तर्क के आधार पर पिर्होई संशयवाद का खण्डन नहीं किया जा सकता। तथापि, पिर्होई संशयवाद एक ऐसा मत है कि इसे हम मान भी नहीं सकते। दूसरे शब्दों में, स्थिति कुछ इस प्रकार है कि इस मत को न तो हम मान ही सकते हैं और न इस मत का तर्क के आधार पर खण्डन ही कर सकते हैं। खण्डन इसलिए नहीं कर सकते क्योंकि यह मत पैने दार्शनिक विश्लेषण और अकाट्य तर्क पर आधारित है, मान इसलिए नहीं सकते कि हमारी मानव-प्रकृति हमें इसे स्वीकार करने से और जीवन का आधार बनाने से रोकती है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना वांछनीय है कि डेविड ह्यूम पिर्होवाद से क्या समझते हैं? इस संबंध में यदि हम ह्यूम की रचनाओं को ध्यान से पढ़ें तो पिर्होवाद-संबंधी उनकी धारणा स्पष्ट हो जाती है। ह्यूम की दृष्टि में पिर्होई संशयवादियों का मत यह है कि मनुष्य अपने निर्णयों और अपनी धारणाओं के लिए बौद्धिक, तार्किक तथा निश्चया-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मक आधार पेश करने में बिल्कुल असमर्थ है। इस असमर्थता का कारण यह है कि जब हम मानवीय ज्ञान के स्वरूप और आधारों का ज्ञानमीमांसकीय विश्लेषण करते हैं तो हमें पता चलता है कि हमारे निर्णयों और हमारी धारणाओं का कोई तार्किक, बौद्धिक अथवा निश्चयात्मक आधार है ही नहीं। और न ही ज्ञान और नीति इत्यादि के क्षेत्रों में हमारे किसी दो या दो से अधिक निर्णयों अथवा धारणाओं में विरोध होने की स्थिति में हमारे पास कोई ऐसा अकाट्य मानदण्ड ही है जिससे यह तय किया जा सके कि दो प्रतिद्वन्द्वी निर्णयों में से कौन-सा निर्णय सच्चा है, अथवा दो में से किस एक निर्णय को हम अधिक महत्त्व देकर अपना सकते हैं।

इस मत की पुष्टि के लिए पिर्होई दार्शनिक दो तरह के तर्क देते हैं। एक तो साधारण तरह का तर्क है किन्तु दूसरा दार्शनिक किस्म का है। साधारण तर्क में जो दलीलें अथवा प्रमाण दिये गए हैं वे लगभग इस प्रकार हैं : उदाहरणतः विषयों के बारे में ऐन्द्रिय ग्रहण से जो जानकारी प्राप्त की जाती है उसमें बहुधा भ्रम, विरोध अथवा असंगति का पाया जाना, मानव-बुद्धि की स्वाभाविक कमज़ोरियाँ, विचारकों में लगभग किसी भी विषय के बारे में आपस में गहरे मतभेद, बाह्य तथा आंतर परिस्थितियों के कारण हमारे निर्णयों की परिवर्तनशीलता इत्यादि—इस प्रकार की दलीलें दी जाती हैं।

साधारण तरह के तर्क से दार्शनिक किस्म का तर्क अधिक महत्त्व का है। इस किस्म के तर्क में दी गई दलीलें लगभग इस प्रकार हैं : तथ्यों के क्षेत्र में हमारे बौद्धिक और तथ्याधारित निर्णयों में परस्पर विरोध पाया जाता है तथा, इस प्रकार किसी एक निर्णय को किसी दूसरे निर्णय की तुलना में चुनने के लिए हमारे पास कोई भी बौद्धिक आधार नहीं रह जाता। नैतिक निर्णयों के सिलसिले में तो स्थिति कुछ और भी कठिन हो जाती है, क्योंकि इस प्रकार के निर्णयों में कितने ही मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं। गणित भी इस कठिनाई से अछूता नहीं। गणित के क्षेत्र में हमारे ज्ञान की अनिश्चयात्मकता इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी तार्किक नियम और उस पर आधारित अनुमान की सत्यता पर सन्देह कर सकता है। इसके अतिरिक्त, हमारी तार्किक शक्ति भी तो सीमित ही है। गणित की कोई समस्या हल करते हुए किसी भी समय वह शिथिल पड़ सकती है और हम ग़लत अनुमान को भी ठीक समझने लगते हैं।

इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए, और साथ ही यह बताने के लिए कि ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से पिर्होई सन्देहवाद का तर्क के आधार पर खण्डन नहीं किया जा सकता, डेविड ह्यूम ने हमारे तर्काधारित ज्ञान और हमारे इन्द्रियग्रहण-जन्य तथा सहजबुद्धि-सुलभ विश्वासों में पाये जाने वाले अनेकानेक परस्पर विरोधों का विवरण दिया है। इस प्रकार के चार उदाहरण ये हैं : (१) साधारणतया हम बाह्य विषयों की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास रखते हैं। परन्तु हमारी तार्किक बुद्धि इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास को मानने के लिए तैयार नहीं है और इस बात को मानने पर मजबूर कर देती है कि हमारे संवेद-विषयों की सत्ता हमारे से स्वतंत्र नहीं है।

(२) दूसरा विरोध इस बात में है कि एक ओर तो बाह्य भौतिक जगत् की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास किया जाता है और दूसरी ओर बाह्य विषयों के वर्ण तथा शीत, ऊष्ण आदि आनुषंगिक गुणों को इन्द्रियग्रहण द्वारा मनस्पटल पर छोड़े गए संस्कार मात्र कहा जाता है। परन्तु जिस तर्क के आधार पर विषयों के आनुषंगिक गुणों को बाह्य सत्ता देने से इन्कार किया जाता है वही तर्क हमें उन विषयों के मूल गुणों को भी बाह्य सत्ता न देने के लिए मजबूर करता है। वास्तव में, आनुषंगिक और मूल गुणों को ज्ञानमीमांसा के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न नहीं बताया जा सकता। इसके अतिरिक्त, ह्यूम के मतानुसार, बाह्य विषयों के प्राथमिक गुणों-संबंधी हमारा ज्ञान वास्तव में उन विषयों के आनुषंगिक गुणों-सम्बन्धी हमारे ज्ञान का एक विशेष रूप अथवा गठन ही है। अब यदि इस बात को मान लिया जाय तो निष्कर्ष यह निकलता है कि बाह्य विषयों के सभी विशेष गुण ऐन्द्रिय गुण द्वारा मन पर छोड़े गए संस्कारों से पृथक् कुछ भी नहीं हैं। और इस प्रकार किसी विषय को बाह्य भौतिक पदार्थ की संज्ञा देना केवल अर्थहीन शब्दजाल ही है। इस तरह के तर्क के सामने बाह्य भौतिक जगत् की सत्ता में अपने सहजबुद्धि-सुलभ विश्वास को हम कैसे कायम रख सकते हैं ?

(३) तीसरा विरोध है आत्म सम्बन्धी हमारे तर्काधारित और लोकधारणा-मूलक विश्वासों में। साधारणतया हम आत्म की बाह्य जगत् से स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। परन्तु, यदि हम तार्किक, ज्ञानमीमांसकीय विश्लेषण के आधार पर आत्म-तत्त्व की सत्ता को सिद्ध करना चाहें तो यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है कि आत्मतत्त्व जैसी किसी चीज़ की सत्ता में विश्वास रखना एक बौद्धिक भूल के अलावा कुछ नहीं है।

(४) चौथा और अंतिम उदाहरण गणित के क्षेत्र से है। गणित के कितने ही निष्कर्ष लोक-बुद्धिसुलभ विश्वासों के विरोध में आते हैं। देशकाल के अनन्त विभाजन के सम्बन्ध में गणित में दिये गए अनेक प्रमाण, चाहे वे गणित और तर्क की दृष्टि से पूर्णतया स्वीकार्य हों, विरोधाभास उत्पन्न करते हैं, और इस प्रकार लोक-बुद्धिसुलभ विश्वासों के विरोध में हैं।

उपर्युक्त सभी तर्क, ह्यूम की दृष्टि से, इस बात को सिद्ध करते हैं कि पिर्होई संशयवाद का केवल बुद्धि और तर्क के आधार पर खण्डन नहीं किया जा सकता; क्योंकि इस प्रकार का संशयवाद हमारे तथ्यपरक नैतिक तथा गणित सम्बन्धी विश्वासों के आधारों के ज्ञानमीमांसकीय विश्लेषण का तार्किक परिणाम है।

तथापि पिर्होई संशयवाद को हमारी मानव-प्रकृति सच मानने और इसे जीवन का आधार मानने से बिल्कुल इन्कार करती है। ह्यूम के कथनानुसार, इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार के संशयवाद का हम तर्क के आधार पर भले ही खण्डन न कर सकें किन्तु कोई भी बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं करेगा; क्योंकि इस प्रकार के संशयवाद का न तो कोई उत्तर है और न यह विश्वास ही पैदा करता है। (ट्रीटीज़, पृष्ठ सं० १८७)।

इस प्रकार डेविड ह्यूम ने तर्क के आधार पर नहीं बल्कि मानव-प्रकृति के आधार पर पिर्होई संशयवाद का खण्डन किया है। उनके मतानुसार तर्क और बौद्धिक विश्लेषण चाहे हमें संशयवाद की दिशा में क्यों न ले जांय किन्तु मानव-प्रकृति हमें संशयवाद की दिशा में जाने से रोकती है। सामान्य जीवन में दिन-प्रति-दिन के (१) तथ्यपरक, (२) नैतिक, और (३) बौद्धिक मामलों में हमें अनिवार्य रूप से अनेकानेक निर्णय लेने ही होते हैं। यह सम्भव है, और वास्तव में देखने में भी आता है कि, इन नियमों की पुष्टि के लिए हमारे पास पर्याप्त साक्ष्य हो अथवा नहीं हो, हम उसकी इतनी परवाह नहीं करते कि किसी भी प्रस्तुत परिस्थिति में हम ये निर्णय लें ही नहीं। उदाहरणतः बाह्य विषयों की सत्ता में हमारे विश्वास को ही लीजिए। हमने ऊपर बताया है कि हमारा यह विश्वास तर्क और बौद्धिक विश्लेषण पर आधारित नहीं है। इस विश्वास का आधार है हमारी मानव-प्रकृति, हमारी स्वाभाविक व्यावहारशीलता और अभ्यास। हमारे अभ्यास और व्यवहार के आधार पर हमें मानना ही पड़ता है कि बाह्य भौतिक जगत् को सत्ता असंदिग्ध है।

हमारे नैतिक निर्णयों में भी यही स्थिति है। हमारे नैतिक निर्णय तर्क अथवा बौद्धिक विश्लेषण पर आधारित न होकर, हमें क्या अच्छा लगता है और क्या बुरा लगता है, इस प्रकार के मनोभाव पर आधारित होते हैं। हमारी मानव-प्रकृति और हमारी दिन-प्रति-दिन की परिस्थितियाँ हमें नैतिक निर्णय लेने के लिए बाध्य करती हैं, यद्यपि तर्क और बौद्धिक विश्लेषण हमें संशयवाद की ओर ले जाते हैं। यही स्थिति हमारे गणित के ज्ञान के बारे में भी है। यद्यपि गणित के कितने ही निष्कर्ष हमारे लोकधारणामूलक विश्वासों के विरोध में आते हैं तथापि अपनी मानव-प्रकृति के कारण हम संशयवाद की दिशा में न जाकर अपने लोक-बुद्धिसुलभ विश्वासों के अनुसार ही जीवन में व्यवहार करते हैं।

इतना ही नहीं, हमारी मानव-प्रकृति हमें कई-एक प्रकार के अतिलौकिक और तात्त्विक (मेटाफिज़िकल) नियमों की सता में भी विश्वास करने के लिए बाध्य करती है, चाहे हम इन चीज़ों की सत्ता के लिए कोई प्रमाण नहीं दे सकते। ह्यूम के कथनानुसार, हम अपनी मानव-प्रकृति के आधार पर, तर्क और बौद्धिक विश्लेषण के विरुद्ध, न केवल शरीर और मनस् की सत्ता में ही विश्वास करते हैं बल्कि ईश्वर की सत्ता में भी विश्वास करते हैं, और संशयवाद की दिमा में नहीं जाते। ह्यूम के शब्दों में, जिस प्रकार हमारी मूल और नैसर्गिक प्रकृतियां हमें बाह्य भौतिक जगत् की सत्ता में सन्देह अथवा अविश्वास करने से रोकती हैं उसी प्रकार वे हमें मनस्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा आत्म की सत्ता में भी अविश्वास करने से रोकती हैं। चाहे ह्यूम एक तर्क-संगत विचारक और अटल अधार्मिक दार्शनिक थे तथापि उन्होंने इस बात को कभी नहीं झुठलाया कि ईश्वर की सत्ता में हमारे विश्वास स्वाभाविक हैं। भले ही हम अपने इस विश्वास के लिए तर्क अथवा बौद्धिक विश्लेषण का आधार न दे सकें तथापि हमारी मानव-प्रकृति हमें इस विश्वास को बनाये रखने के लिए मजबूर करती है। ह्यूम के कथनानुसार, ईश्वर की सत्ता में विश्वास हमारी अज्ञात किन्तु चेतन शक्ति में विश्वास रखने की सहज प्रकृति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मात्र है।

ह्यूम के मतानुसार, जिस प्रकार हम बाह्य भौतिक जगत् इत्यादि की सत्ता में विश्वास रखने के लिए अपनी प्रकृति से बाध्य होते हैं उसी प्रकार दार्शनिक विश्लेषण करना भी हमारी प्रकृति का ही एक धर्म है। पिर्होई संशयवादी दार्शनिक भी जीवन और नीति-सम्बन्धी विश्लेषण किये बिना नहीं रह सकता। और, वास्तविकता यह है कि दार्शनिक विश्लेषण करना हमें अच्छा और सुखद भी लगता है।

ऊपर जिन्हें हमने मानव-प्रकृति की बाध्यताएं कहा है, ह्यूम के मतानुसार वे बाध्यताएं वास्तव में हमें जीवन में नष्ट होने से बचाती हैं। यदि ये न होतीं तो हम कब के नष्ट हो चुके होते। इस दुनियां में जीने के लिए भौतिक सृष्टि, आत्म, और सम्भवतः ईश्वरादि की सत्ता में विश्वास रखना हमारे लिए अनिवार्य है। कर्मनिष्ठ होने के लिए हम किस चीज़ में विश्वास करते हैं, यह प्रश्न हमारे तार्किक अथवा बौद्धिक विश्लेषण का नहीं है। ह्यूम के मतानुसार, पिर्होई संशयवाद की सबसे बड़ी बुराई यह है कि यदि कोई व्यक्ति इसमें विश्वास रखे तो वह उस व्यक्ति को ही विनष्ट कर देता है। इस प्रकार के संशयवाद में विश्वास रखना आत्मघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

पिर्होई संशयवाद की ह्यूम द्वारा दी गई इस आलोचना को रिचर्ड पोपकिन ने मानव-प्रकृति-आधारित आलोचना कहा है। संक्षेप में इस आलोचना का ध्येय यह रहा है कि पिर्होई संदेहवाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसे हम अपनी मानव-प्रकृति के आधार पर किसी भी हालत में स्वीकार नहीं कर सकते। यह सिद्धान्त हमारी प्रकृति के बिलकुल प्रतिकूल है। ह्यूम की इस आलोचना का दार्शनिक महत्त्व यह है कि उनका अपना संशयवाद, उनके मतानुसार, पूर्ण रूप से मानव-प्रकृति के अनुकूल है। जहां तक मानवज्ञान के सैद्धान्तिक आधारों का सम्बन्ध है, वे मानव-ज्ञान के पिर्होई विश्लेषण को स्वीकार करते हैं किन्तु वे इस विश्लेषण को जीवन का वास्तविक आधार नहीं बनाते क्योंकि उनकी दृष्टि में हमारी प्रकृति इस विश्लेषण को जीवन का आधार कभी भी बनने नहीं देगी। ह्यूम के मतानुसार, हमारे विश्वासों के लिए बौद्धिक और तार्किक साक्ष्य के प्रश्न उन विश्वासों की मनोवैज्ञानिकता के प्रश्नों से अलग हैं। कोई भी व्यक्ति किसी बात में क्यों विश्वास करता है, इसके कितने ही मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। इन मनोवैज्ञानिक कारणों का उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन विश्वासों के पक्ष में उपलब्ध अथवा अनुपलब्ध, अनुकूल अथवा प्रतिकूल साक्ष्य से कोई भी सरोकार नहीं हो, यह पूर्णतया सम्भव है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति किसी बात में क्यों संदेह करता है, इसके भी कितने ही मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं। ह्यूम के मतानुसार, कोई भी व्यक्ति तब विश्वास करता है जब उसे ऐसा करना पड़ता है और इसी प्रकार वह तभी सन्देह करता है जब वह सन्देह करने के लिए बाध्य होता है, चाहे ज्ञानमीमांसकीय स्तर पर विश्वास अथवा सन्देह करने के लिए कोई साक्ष्य उपलब्ध हो अथवा न हो।

अपने उपर्युक्त तर्कों के आधार पर रिचर्ड पापकिन का कहना है कि अपने दार्शनिक विश्लेषण में ह्यूम ने पिर्होई संशयवाद को मनोविज्ञान की दृष्टि से स्वीकार करना असम्भव बताया है। ऐसा करते हुए उन्होंने सुलझे हुए (मिटिगेटेड) संशयवाद के सिद्धान्त की स्थापना की है और कहा है कि इस प्रकार का संशयवाद ही हमारी मानव-प्रकृति के अनुकूल है। सच्चा संशयवादी वह है जो विश्वासवादी भी है और संशयवादी भी, जो अपने दार्शनिक विश्लेषण को सैद्धान्तिक स्तर तक सीमित रखता है और अपने दर्शन को सामान्य जीवन के सिद्धान्तों पर आधारित करता है। इस प्रकार का संशयवादी नम्र, आत्मविश्वासी और सजग होगा। वह अपने विश्वासों में यथोचित रूप से संशववादी रहेगा और सदा ही इस बात को ध्यान में रखेगा कि जीवन में किसी भी विश्वास के लिए कोई भी तार्किक अथवा बौद्धिक आधार कम-से-कम मर्त्य मनुष्य को उपलब्ध नहीं है।

(४) ह्यूम का अन्तःकरण की क्रियाशीलता-सम्बन्धी सिद्धान्त[५] :

रावर्ट पाल वोल्फ़ ने अपने इस लेख में ह्यूम के ज्ञान-मीमांसा सम्बन्धी विश्लेषण को एक नये ढंग से देखने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि ह्यूम अपनी ज्ञानमीमांसा में इस बात को मानकर चले थे कि केवल अर्न्तवस्तु के आधार पर ही सारे आनुभविक ज्ञान की व्याख्या की जा सकती है। परन्तु, मीमांसा करते हुए वे इस निष्कर्ष पर जा पहुँचे कि आनुभविक ज्ञान के विश्लेषण से सम्बद्ध सभी समस्याओं का समाधान अर्न्तवस्तु के आधार पर नहीं बल्कि अन्तःकरण की क्रिया-शीलता के आधार पर ही हो सकता है। वोल्फ़ के मतानुसार, ह्यूम की इसी खोज को आगे चलकर कांट ने अपनी ज्ञानमीमांसा का आधार बनाया, और यही खोज आज (सन् १९६० में) भी शब्दार्थपरक व्यवहार तथा मनोवृत्तिक शब्दावली के विश्लेषण का केन्द्र बनी हुई है।

यहां यह बात ध्यान रखने योग्य है कि अन्तःकरण की क्रियाशीलता का ह्यूम का सिद्धान्त उनकी दार्शनिक रचनाओं के आधार पर निर्मित किया जा सकता है, वह वहां प्रस्तुत नहीं है, जैसे ह्यूम का विश्वास-सम्बन्धी सिद्धान्त उनकी रचनाओं में प्रस्तुत है। ह्यूम के अन्तःकरण की क्रियाशीलता के सिद्धांत की रूपरेखा समझने के लिए हमें ह्यूम के दो और सिद्धांतों को एक तरफ अलग करके रख देना होगा। ये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो सिद्धान्त हैं—(१) मनोवैज्ञानिक साहचर्यवाद और (२) संस्कारानुरूप अवधारणा का सिद्धान्त। राबर्ट वोल्फ़ ने अपनी व्याख्या में यही किया है। उनकी यह व्याख्या, अर्थात् ह्यूम का अन्तःकरण की क्रियाशीलता का सिद्धान्त, राबर्ट वोल्फ़ का ह्यूम के ज्ञानमीमांसकीय विश्लेषण को देखने का एक ढंग है। अतः यह व्याख्या ग़लत भी हो सकती है। तथापि, वोल्फ़ के मतानुसार, यदि हम इस व्याख्या को अपना लें तो हम ह्यूम के ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी सिद्धान्त को बेहतर ढंग से समझ सकते हैं और इस प्रकार ह्यूम के दर्शन में जो दोष देखे जाते हैं उनका निराकरण हो सकता है।

संक्षेप में, वोल्फ़ द्वारा प्रस्तावित व्याख्या इस प्रकार है—मनुष्य के अन्तःकरण के थोड़े से धर्म हैं। इन धर्मों को प्रवृत्तियां कह सकते हैं। जब-जब ऐन्द्रिय ग्रहण होता है तो उस स्थिति में अन्तःकरण के ये सक्रिय धर्म प्रवृत्तियां कहलाते हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण अन्तःकरण में अवधारणा के आधार पर अनुभूत संस्कार दूसरे पूर्वानुभूत संस्कारों को उद्दीप्त करते हैं। इस प्रकार अन्तःकरण में एक तरह के संस्कारों को दूसरी तरह के संस्कारों के साथ युगपद् रूप में अनुभव करने की हमारी आदता-सी बन जाती है। कारण-कार्य-संबंधी हमारे ज्ञान में विश्लेषण के आधार पर माने गए घटक (उदाहरणतः 'अनिवार्य संबंध' का संस्कार) जिन्हें ह्यूम ने बुद्धि-जन्य संस्कार कहा है, वास्तव में अन्तःकरण की प्रवृत्तियां ही हैं। इसी प्रकार कारण-कार्य में अनिवार्य संबंध की अवधारणा, नित्य-पदार्थ की अवधारणा, इत्यादि संवेद-विषयमूलक संस्कारों की अनुकृतियां न होकर अन्तःकरण की प्रवृत्तियों की अवधारणाएं ही हैं। इन्हीं सहज प्रवृत्तियों को हम अन्तःकरण का मूलतत्त्व भी कह सकते हैं। यही प्रवृत्तियां कारण-कार्य तथा दूसरे विषयों सम्बन्धी हमारे ज्ञान की सम्भावना की अनिवार्य और सार्वभौमिक शर्तें हैं।

अपनी इस व्याख्या की संपुष्टि करने के लिए वोल्फ़ ने ह्यूम की दार्शनिक रचनाओं में से अनेकानेक संदर्भ दिये हैं और बताया है कि ह्यूम के कारण-कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त तथा बाह्य भौतिक वस्तुओं की सत्ता में हमारे विश्वास के सिद्धान्त को प्रस्तुत व्याख्या के आधार पर बेहतर ढंग से समझा और समझाया जा सकता है।

इस प्रकार वोल्फ़ का दावा है कि ह्यूम ने अपनी ज्ञान-मीमांसा में अन्तःकरण की क्रियाशीलता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त में अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को और संवेदन से प्रेरित मनोवृत्तियों को केन्द्रीय महत्त्व दिया गया है। यदि हम चाहें तो इन प्रवृत्तियों तथा मनोवृत्तियों को हम केटेगरीज़ अथवा कोटियां कह सकते हैं। इन कोटियों का व्यापार कांट के कोटियों के व्यापार के समान ही है। ये कोटियां निम्नलिखित हैं :

(१) वह प्रवृत्ति जिसके कारण हम कारण-कार्य-परक अनुमान करते हैं।

(२) वह प्रवृत्ति जिसके कारण किन्हीं दो चीजों में परस्पर सम्बन्ध देखा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) वह प्रवृत्ति जिसके आधार पर विभिन्न वस्तुओं में अन्तर्सम्बन्ध और पारस्परिक संगति देखी जाती है।

(४) वह प्रवृत्ति जिसके कारण हम क्षण-प्रवाह में स्थिरता और ठोसपन देखते हैं।

(५) वह प्रवृत्ति जिसके कारण बाह्य जगत् की स्वतंत्र सत्ता और कारण-कार्य-योजना में हमारा विश्वास दृढ़ होता है।

इनमें से पहली चार प्रवृत्तियों के कारण यह निर्धारित होता है कि हमारा अन्तःकरण किन विषयों का ग्रहण करता है; पाँचवीं प्रवृत्ति के कारण यह निर्धारित होता है कि हमारा अन्तःकरण उन विषयों को किस प्रकार ग्रहण करता है।

(५) ह्यूम द्वारा दी गई 'कारण' प्रत्यय की दो परिभाषाएं[५] :

अपने इस लेख में जे० ए० राबिन्सन ने ह्यूम की 'कारण' सम्बन्धी धारणा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। नार्मन केम्पस्मिथ के मत के विरुद्ध राबिन्सन ने बताया है कि ह्यूम वास्तव में कारण-कार्य विषयक समरूपता-सिद्धान्त (यूनिफार्मिटी व्यू आफ कॉज़ेशन) के पूरे समर्थक थे।

राबिन्सन का कहना है कि ह्यूम के कारण-कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त को ठीक तरह से समझने में (उदाहरणतः केम्पस्मिथ द्वारा) जो ग़लती हुई है उसका कारण यह है कि ह्यूम कारण-कार्य श्रृंखला की मीमांसा करते हुए एकसाथ वास्तव में दो अलग-अलग बातें कह रहे थे। केम्पस्मिथ आदि व्याख्याकारों ने इन दो बातों को अलग नहीं किया और परिणामस्वरूप ह्यूम के सिद्धान्त को ग़लत समझा।

कारण-कार्य श्रृंखला के अपने विवरण में ह्यूम एक ओर तो (१) कारण-कार्य सम्बन्ध को आनुभविक, प्राकृतिक सम्बन्ध मानकर इस सम्बन्ध का साहचर्य-नियमानुसार मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देते हैं और दूसरी ओर (२) कारण-कार्य सम्बन्ध का दार्शनिक विश्लेषण करते हुए इस सम्बन्ध की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। केम्पस्मिथ आदि व्याख्याकारों ने ह्यूम की इन दो चीज़ों को—अर्थात् कारण-कार्य श्रृंखला के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों को—अलग नहीं किया। ये दो विश्लेषण ह्यूम के शब्दों में इस प्रकार हैं :

(१) 'कारण' को हम उस विषय के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो विषय किसी दूसरे विषय का पूर्ववर्त्ती है और उसके सान्निध्य में है, और दूसरे, पूर्ववर्त्ती विषय के अनुरूप सभी विषयों का सम्बन्ध भी परवर्ती विषय के अनुरूप सभी विषयों के साथ पूर्ववर्त्तिता तथा सान्निध्य का है (ट्रीटीज़, पृष्ठ सं० १७०)।

(२) 'कारण' वह विषय है जो किसी दूसरे विषय से पूर्ववर्ती तथा उसकी सन्निधि में है और वह उससे इस ढंग से जुड़ा हुआ है कि एक का ध्यान आते ही अन्तःकरण में दूसरे का ध्यान आ जाता है, तथा एक के इन्द्रियग्रहण से दूसरा और भी अधिक सजीवता के साथ ध्यान में प्रस्तुत हो जाता है (ट्रीटीज़, पृष्ठ सं०१७०)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन दोनों विश्लेषणों को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि ये एक ही चीज़ नहीं कह रहे हैं। पहले में 'कारण' प्रत्यय का दार्शनिक विश्लेषण, याने इस प्रत्यय की परिभाषा है; किन्तु दूसरे में कारण-कार्य सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। ज़ाहिर है कि ये दोनों विश्लेषण तार्किक दृष्टि से एक-दूसरे के बराबर नहीं हैं। यही नहीं, दूसरा विश्लेषण देने से पहले यह आवश्यक होता है कि 'कारण' प्रत्यय से हम क्या समझते हैं, अर्थात् इस प्रत्यय की क्या परिभाषा है, इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय। यही काम ह्यूम ने अपने पहले विश्लेषण से सम्पन्न किया है। दूसरे शब्दों में, पहला विश्लेषण 'कारण' प्रत्यय की परिभाषा है, दूसरा विश्लेषण परिभाषा नहीं है। केम्पस्मिथ आदि व्याख्याकारों ने दोनों विश्लेषणों को भ्रांतिवश 'कारण' प्रत्यय की दो विभिन्न परिभाषाएं समझा है।

अपनी इस व्याख्या के आधार पर राबिन्सन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि उनकी इस व्याख्या को मान लिया जाय तो कारण-कार्य सम्बन्धी ह्यूम के सिद्धान्त में पायी जाने वाली अस्पष्टता निःशेषतः दूर हो जाती है और साथ ही यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि डेविड ह्यूम कारण-कार्य सम्बन्धी एकरूपता के सिद्धान्त के ही समर्थक थे।

(६) किन्तु टामस जे० रिचर्ड[७] को राबिन्सन का यह मत कि, ह्यूम ने 'कारण' प्रत्यय की एक ही परिभाषा दी है, दो परिभाषाएं नहीं दीं, स्वीकार नहीं है। तथापि वे राबिन्सन से इस बात पर पूर्णरूपेण सहमत हैं (क) कि ह्यूम ने 'दार्शनिक सम्बन्ध तथा आनुभविक अथवा प्राकृतिक सम्बन्ध में विवेक किया है, और (ख) कि ह्यूम निश्चय ही कारण-कार्य सम्बन्धी एकरूपता के सिद्धान्त के समर्थक थे।

राबिन्सन की व्याख्या के विरुद्ध रिचर्ड का तर्क दो रूप लेता है। एक यह कि राबिन्सन का यह निष्कर्ष कि ह्यूम ने 'कारण' प्रत्यय की दो परिभाषाएं नहीं दीं बल्कि एक ही परिभाषा दी है, उनकी दी गई तार्किक युक्तियों से निगमित नहीं होता। और दूसरे, रिचर्ड ने 'कारण' प्रत्यय की ह्यूम की दो परिभाषाओं का अपना ही विवरण दिया है जो रिचर्ड के अनुसार अधिक उपयुक्त विवरण है।

रिचर्ड का पहला तर्क यह है : यदि हम दार्शनिक तथा आनुभविक सम्बन्धों के विषय में ह्यूम के सिद्धान्त को ध्यान में रखें तो उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कारण-कार्य सम्बन्ध को ह्यूम ने आनुभविक सम्बन्ध भी माना है और इस प्रकार इसे आनुभविक सम्बन्ध मानकर इस सम्बन्ध की परिभाषा दी है, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया। अतः ह्यूम द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त दूसरे विश्लेषण को भी परिभाषा ही कहा जायगा। अतः राबिन्सन का यह मत कि दूसरा विश्लेषण 'कारण' प्रत्यय की परिभाषा नहीं है क्योंकि आनुभविक सम्बन्धों की परिभाषा नहीं हो सकती, भ्रांतिमूलक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिचर्ड का अपना विवरण यह है : क्योंकि कारण-कार्य सम्बन्ध आनुभविक सम्बन्ध है अतः इस सम्बन्ध की परिभाषा दी जा सकती है, और इसकी परिभाषा वही है (उपर्युक्त नं० २) जो ह्यूम ने दी है, जिसे राबिन्सन ने परिभाषा नहीं माना है। यह परिभाषा ठीक उसी प्रकार से दी जा सकती है जिस प्रकार कि कारण-कार्य-सम्बन्ध की एक दार्शनिक सम्बन्ध के रूप में परिभाषा (उपर्युक्त नं० १) दी गई है।

(७) रिचर्ड की इस आलोचना का राबिन्सन[८] ने इस प्रकार उत्तर दिया है : ह्यूम के कारण-कार्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी स्थिति यह है—किसी भी प्रत्यय को ऐसे दो भिन्न ढंगों से, जो एक-दूसरे के बराबर नहीं हैं, तर्कसंगत ढंग से परिभाषित करना नितान्त असम्भव है। ह्यूम की (उपर्युक्त) दो परिभाषाएं एक-दूसरे के बराबर नहीं हैं। अतः या तो ह्यूम के सिद्धान्त को आत्म-असंगत कहा जाना चाहिए अथवा इनमें से किसी एक परिभाषा की कोई दूसरी ही व्याख्या की जाय जिससे दोनों में पारस्परिक असंगति को दूर किया जा सके। राबिन्सन का कहना है कि ह्यूम के सिद्धान्त को सुसंगत दिखाने के लिए उन्होंने 'कारण' प्रत्यय के पहले विश्लेषण को परिभाषा माना और दूसरे विश्लेषण को आनुभविक। दूसरे विश्लेषण को मनोवैज्ञानिक अथवा आनुभविक मान लेने से उपर्युक्त असंगति दूर हो जाती है।

राबिन्सन का कहना है कि वास्तव में रिचर्ड कोई नई चीज़ नहीं कह रहा है। वह ह्यूम के दोनों विश्लेषणों को दो परिभाषाएं मानता है—एक 'कारण' प्रत्यय की दार्शनिक सम्बन्ध के रूप में, और दूसरी 'कारण' प्रत्यय की आनुभविक सम्बन्ध के रूप में। दूसरे शब्दों में, ये दो परिभाषाएं एक ही प्रत्यय की न होकर अलग-अलग प्रत्ययों की परिभाषाएं हैं। राबिन्सन के मतानुसार भी इन दो परिभाषाओं को एक ही प्रत्यय की परिभाषाएं नहीं कहा जा सकता। अतः यहां तक राबिन्सन और रिचर्ड के मतों में कोई गहरा भेद नहीं है। राबिन्सन के मतानुसार उपर्युक्त दो विश्लेषण एक ही प्रत्यय की परिभाषाएं नहीं मानी जा सकतीं और रिचर्ड के मतानुसार वे दो अलग-अलग प्रत्ययों की परिभाषाएं ही हैं।

इन दोनों दार्शनिकों की व्याख्याओं में जो भेद है वह यह है कि राबिन्सन के मतानुसार दूसरा विश्लेषण आनुभविक अथवा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, 'कारण' प्रत्यय की परिभाषा नहीं, जबकि रिचर्ड के मतानुसार दूसरा विश्लेषण 'कारण' प्रत्यय की आनुभविक सम्बन्ध के रूप में परिभाषा है। राबिन्सन को रिचर्ड का यह मत मान्य नहीं है। उनका कहना है कि दूसरे विश्लेषण को परिभाषा मान लेना ग़लत है, क्योंकि यदि हम ध्यान से देखें तो दूसरा विश्लेषण मात्र आनुभविक वाक्य ही साबित होता है—एक ऐसा वाक्य जिसकी सत्यता-असत्यता का आधार अनुभवनिष्ठ है। अपने मत की पुष्टि में राबिन्सन का तर्क पर्याप्त सशक्त है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८) ह्यूम द्वारा कारण-कार्य अनुमान की प्रतिरक्षा[६] :

यह लेख जान डब्ल्यू० लेंज़ का है। इसमें उन्होंने विस्तृत विवरण के साथ यह सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है कि—

(क) ह्यूम ने विश्वास सम्बन्धी नियतिवादी सिद्धान्त के प्रसंग में ही कारण-कार्य-अनुमान के औचित्य का प्रश्न उठाया है। विश्वास-सम्बन्धी नियतिवादी सिद्धान्त यह है कि हम मनुष्य लोग प्रकृति से ही ऐसे बने हैं कि कारण-कार्य-अनुमान (अथवा विश्वास) के बिना जी ही नहीं सकते। इस तरह यह विश्वास अनिवार्य है।

(ख) तथापि ह्यूम ने (१) किसी विश्वास का कारण बताकर उसकी व्याख्या करने और (२) उस विश्वास का औचित्य बताने में विवेक किया है। ह्यूम के मतानुसार, मनुष्य कोई विश्वास क्यों रखता है इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अथवा कारण तो बताया जा सकता है किन्तु इस प्रकार की व्याख्या को उस विश्वास का औचित्य नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि ऐसे कितने ही विश्वास हैं जिनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करना पूर्णतया सम्भव है, परन्तु औचित्य की दृष्टि से वे अस्वीकार्य हैं।

(ग) ह्यूम की दृष्टि में किसी विश्वास का औचित्य दिखाने का अर्थ उस विश्वास को सत्य साबित करना है। अथवा, विश्लेषण से यह सिद्ध करना है कि कोई विश्वास इस प्रकार से पैदा हुआ है कि उसे अनिवार्यतः सत्य ही होना चाहिए।

(घ) इसी दृष्टि से ह्यूम ने कारण-कार्य अनुमान (अर्थात् विश्वासों) की प्रतिरक्षा करनी चाही। किन्तु हमारे स्वाभाविक विश्वासों में अन्तर्विरोध देखने के बाद उन्होंने स्वयं बताया कि कारण-कार्य सम्बन्धी हमारे विश्वासों का इस प्रकार से औचित्य प्रदर्शित नहीं किया जा सकता।

(ङ) यदि उपर्युक्त ढंग से कारण-कार्य सम्बन्धी हमारे विश्वासों की प्रतिरक्षा नहीं की जा सकती तो प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के विश्वासों की प्रतिरक्षा करना सम्भव भी है कि नहीं। लेन्ज़ का कहना है कि यदि ह्यूम ने यह सोचा कि उन्होंने कारण-कार्य सम्बन्धी हमारे विश्वासों (अर्थात् अनुमान) की प्रतिरक्षा की है तो वह केवल इस अर्थ में सच है कि इस प्रकार के विश्वासों की अनिवार्यता सिद्ध हो जाने से इस मत में कोई जान नहीं रह जाती कि मनुष्यों को ऐसे विश्वास नहीं रखने चाहिएँ। ह्यूम के मतानुसार, इस कारण-कार्य सम्बन्धी विश्वासों के बिना हम जी ही नहीं सकते। ये विश्वास सत्य हैं कि नहीं इस बात को भले ही हम तर्कतः सिद्ध नहीं कर सकें, किन्तु जीवन में हम इन विश्वासों को सत्य माने बिना नहीं रह सकते। कुछ भी हो, ये विश्वास मानव-प्रकृति के अभिन्न अंग हैं और इस अर्थ में अनिवार्य हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(९) ह्यूम, सम्भाव्यता और आगमनिकानुमान[10] :

यह लेख डी० स्टोव का है। इसमें उन्होंने कार्ल पाप्पर तथा जी० एच० फान राईट द्वारा अपनाये गए एक मत की आलोचना की है और बताया है कि यह मत दर्शन के इतिहास की दृष्टि से बिल्कुल ग़लत है। पाप्पर तथा फ़ान राइट का मत है कि ह्यूम ने इस बात का खण्डन किया है कि ऐसे आगमनिक अनुमान सम्भव हैं जिनके निष्कर्ष केवल सम्भाव्य होते हैं। दूसरे शब्दों में, इन व्याख्याकारों के मतानुसार, ह्यूम ने 'आगमनिक सम्भाव्यतावाद' (आ० सं०) का खण्डन किया है। स्टोव अपने इस लेख में बताते हैं कि अ० सं० का खण्डन करना तो एक तरफ, ह्यूम ने आ० सं० का खण्डन करने का संकेत तक नहीं किया। अपने इस मत की पुष्टि करने के लिए स्टोव ने ह्यूम की दार्शनिक रचनाओं में से अनेकानेक सन्दर्भ देकर उनकी व्याख्या के साथ पर्याप्त साक्ष्य दिया है। हमारे विचार में उनका साक्ष्य उनके मत को पूर्णतया स्वीकार्य बना देता है। एन्टोनी फ्ल्यू भी स्टोव के मत से पूरे सहमत हैं।

(१०) ह्यूम के अनुसार व्यक्ति (अथवा आत्म) का स्वरूप[11] :

अपने इस लेख में टेरेन्स पेनलहम ने ट्रीटीज़ पुस्तक १, भाग ४, परिच्छेद ६ में ह्यूम द्वारा प्रस्तुत तर्कों की परीक्षा की है। उनकी परीक्षा करने का ध्येय केवल इतना ही रहा है कि ये तर्क कहाँ तक सही और युक्त हैं। व्यक्ति क्षण-क्षण में बदल रहा है। इस तथ्य की जानकारी के बावजूद जब हम व्यक्तियों के बारे में बात करते हैं तो वह इस प्रकार से करते हैं मानो वे कभी बदलते ही नहीं। दो वर्ष के बच्चे और अस्सी वर्ष के बूढ़े गांधी में रात-दिन का अन्तर है। तथापि, जब हम बात करते हैं तो एक ही, उसी, गांधी की बात करते हैं, और यह समझते हैं कि बचपन से लेकर बुढ़ापे तक का गांधी एक ही, वही, गांधी है। ऐसा हम क्यों करते हैं? अथवा ऐसा करने का हमारा आधार क्या है? यही व्यक्ति के स्वरूप की समस्या है। इसी समस्या का समाधान करने के लिए ह्यूम ने जो तर्क दिये हैं उन्हीं की परीक्षा इस लेख में की गई है।

ह्यूम के मतानुसार, व्यक्ति विभिन्न इन्द्रिय-ग्रहण-जन्य संस्कारों के संग्रह या समवाय का दूसरा नाम है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति विभिन्न संवेदनाओं, संवेगों, स्वप्नों और संकल्पनाओं इत्यादि का एक अनुक्रम-मात्र है। अतः व्यक्ति को वही व्यक्ति मानना व्यक्ति के स्वरूप को ग़लत समझना है। क्योंकि, हम यह नहीं कह सकते कि कोई व्यक्ति बदलते हुए भी वही रहता है।

पेनलहम का कहना है कि ह्यूम का यह मत भ्रांतिपूर्ण है। प्रथम तो यह कि जिस प्रकार संगीत में लय की धारणा है उसी प्रकार व्यक्ति भी अनुक्रमात्मक होते हुए भी एकत्व का स्वरूप रखता है। अतः इस कहने में किंचित् मात्र भी अन्तर्विरोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है कि व्यक्ति संवेदनाओं आदि के अनुक्रम से बना हुआ है और फिर भी वह एक ही व्यक्ति है।

ह्यूम की दूसरी ग़लती यह है कि वह अपरिवर्तनशीलता को किसी चीज़ को वही कहने की अनिवार्य शर्त मानता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई चीज़ परिवर्तन-शील है तो ह्यूम उसे वही चीज़ करने से इन्कार करता है। किन्तु, यह मत भ्रांति-मूलक है, क्योंकि जैसाकि पेनलहम ने स्पष्ट किया है, अपरिवर्तनशीलता किसी चीज़ को वही कहने की अनिवार्य शर्त नहीं है। अतः व्यक्ति को अनुक्रमात्मक मानते हुए भी हम उसे वही, एक, व्यक्ति कहने में कोई भूल नहीं करते।

(११) कर्त्तव्य-वाक्यों और वर्णन-वाक्यों-सम्बन्धी ह्यूम का मत[१२] :

इस विषय पर यह पहला लेख ए० सी० मेक-इन्टायर का है। इस लेख में उन्होंने कर्त्तव्य वाक्यों और वर्णन-वाक्यों सम्बन्धी ह्यूम के मत की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत की है जो आर०एम० हेयर, ए०एन०प्रायर, पी०एच० नोवेल-स्मिथ आदि अनेक दार्शनिकों की व्याख्या के, जिसे मेक-इंटायर ने रूढ़ व्याख्या कहा है, सर्वथा विपरीत है। रूढ़ व्याख्या के अनुसार ह्यूम का मत इस प्रकार है: नैतिक आधार-वाक्यों से ही नैतिक अनुमान-वाक्य निकलता है, जो आधार वाक्य स्वयं नैतिक नहीं हैं उनसे नैतिक अनुमान निगमित नहीं होता। विशेषरूप से, कर्त्तव्य वाक्य वर्णन वाक्यों के आधार पर निगमित नहीं होते। मेक-इन्टायर का कहना है कि कर्त्तव्य वाक्यों और वर्णन वाक्यों सम्बन्धी ह्यूम के मत की यह रूढ़ व्याख्या ग़लत और भ्रामक है। अपने इस मत के प्रतिपादन के लिए उन्होंने निम्नलिखित चार तर्क दिये हैं:—

(१) रूढ़ व्याख्या इस अपरीक्षित मान्यता पर आधारित है कि यदि केवल वर्णन-वाक्यों के आधार पर किसी कर्त्तव्य वाक्य का अनुमान किया जाता है तो उस स्थिति में यदि इस प्रकार का अनुमान निगमनिक नहीं है तो वह अनिवार्यतः ग़लत ही होगा। परन्तु, यह मान्यता स्वीकार्य नहीं है क्योंकि, यदि इस मान्यता को सत्य मान लिया जाय तो आगमनिक अनुमान भी ग़लत क़रार कर दिए जांयगे। और फिर, यह आवश्यक तो है नहीं कि नैतिक अनुमान को निगमनिक होना ही चाहिए।

(२) यदि रूढ़ व्याख्या को सत्य मान लिया जाय तो कहना ही पड़ेगा कि स्वयं ह्यूम ने न्याय का विश्लेषण करते हुए कर्त्तव्य-वाक्यों को वर्णन-वाक्यों के आधार पर निगमित करने का असम्भव कार्य कर दिखलाया। किन्तु यह मान्य नहीं है। सर्वप्रथम, यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि ह्यूम के मतानुसार तथ्य और उनका वर्णन करने वाले वर्णन-वाक्य तार्किक दृष्टि से नैतिक निर्णयों और अनुमानों से पूर्णतया सम्बद्ध हैं, यहाँ तक कि तथ्यों के आधार पर नैतिक नियमों का औचित्य अथवा अनौचित्य दिखाया जा सकता है। उदाहरणतः, ह्यूम ने बताया है कि न्याय के नियमों का औचित्य-अनौचित्य तर्कतः इस बात पर आधारित है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के नियमों का पालन करना अन्ततोगत्वा हमारे हित में है कि नहीं। हमें न्याय के नियमों का पालन करना ही चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से हमारे हित की पूर्ति होती है। इससे स्पष्ट होता है कि ह्यूम के मतानुसार वैयक्तिक और सामाजिक हितों के संग्रह की धारणा के माध्यम से 'कर्त्तव्य' या 'चाहिये' की धारणा की व्याख्या अथवा परिभाषा करना पूर्णतया सम्भव है। और, ह्यूम ने ऐसा किया भी है। अतः रूढ़ व्याख्या, जिसके अनुसार वर्णन-वाक्यों के आधार पर कर्त्तव्य-वाक्यों का अनुमान नहीं किया जा सकता, बिल्कुल ग़लत है।

(३) रूढ़ व्याख्या ट्रीटीज़ के जिस संदर्भ को अपना आधार मानती है उस संदर्भ में ह्यूम ने यह नहीं कहा कि वर्णन-वाक्यों के आधार पर कर्त्तव्य-वाक्यों का अनुमान करना असम्भव है। बल्कि, केवल इतना ही कहा है कि यह बात समझ में नहीं आती कि वर्णन-वाक्यों के आधार पर कर्त्तव्य-वाक्यों पर जाना किस प्रकार सम्भव है। इसके अलावा विचाराधीन संदर्भ में यह भी नहीं कहा गया है कि वर्णन-वाक्यों के आधार पर कर्त्तव्य-वाक्य निगमित नहीं होते। निगमित अनुमान की धारणा उस संदर्भ के बाहर की चीज़ है। ह्यूम वास्तव में 'डिड्यूस' शब्द का प्रयोग करते हैं और उनकी रचनाओं में इस शब्द का अर्थ 'अनुमान' लिया गया है, 'निगमनिक अनुमान' नहीं। 'निगमनिक अनुमान' के लिए ह्यूम 'डिमांस्ट्रेटिव आर्ग्यूमेन्ट' इस शब्द का प्रयोग करते हैं। इससे ज़ाहिर है कि रूढ़ व्याख्या के प्रवर्तकों और अनुयायियों ने विचाराधीन संदर्भ को ग़लत समझा है।

(४) प्रायः (विशेष रूप से रूढ़ व्याख्या के अनुयायियों द्वारा) यह कहा जाता है कि विचाराधीन संदर्भ में ह्यूम ने 'चाहिये' और 'है' के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में प्रारूपिक तर्क की बात कही है। परन्तु यह सत्य नहीं है। क्योंकि, ह्यूम की रुचि ठोस नैतिक मामलों में थी और उन्होंने नैतिक धारणाओं को जीवन से बिल्कुल अलग नहीं रखा, बल्कि, इन धारणाओं को मानुषिक एषणाओं के प्रसंग में समझने का प्रयत्न किया और इस प्रकार इन धारणाओं की व्याख्या की। उनके मत में नैतिक धारणाओं को जीवन के प्रसंग से बाहर रखकर समझा नहीं जा सकता।

(१२) मेक-इन्टायर के उपर्युक्त मत की आलोचना करते हुए आर० आर० एट्किन्सन[13] ने अपने लेख में कहा है :

(१) ह्यूम ने 'नैतिकता की स्वतन्त्रता' को माना है अथवा नहीं इस प्रश्न का उत्तर 'नैतिकता की स्वतन्त्रता' नामक अभिव्यक्ति को पर्याप्त स्पष्ट करने के पश्चात् ही दिया जाना सम्भव है। इस अभिव्यक्ति का हम दो अर्थों में प्रयोग करते हैं : पहला, नैतिकता स्वतन्त्र है यदि वर्णन-वाक्यों के आधार पर नैतिक वाक्यों का अनुमान निगमित करना असम्भव हो। दूसरा, नैतिकता स्वतन्त्र है यदि नैतिक निर्णय तथ्यों का वर्णन करने वाले वर्णन-वाक्यों से तर्कतः असम्बद्ध हों। मेक-इन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टायर को स्पष्ट करना चाहिए कि वे ह्यूम को इन दो अर्थों में से किस अर्थ में नैतिकता की स्वतंत्रता का समर्थक मान सकते हैं।

(२) मेक-इन्टायर ने रूढ़ व्याख्या के विपक्ष में जो तर्क दिये हैं वे निर्णायक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, (३) मेक-इन्टायर की अपनी व्याख्या के आधार पर भी 'चाहिये' और 'है' के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में ह्यूम के मत को पूर्णतया सुसंगत साबित नहीं किया जा सकता, चाहे मेक-इन्टायर ने इस दिशा में भरसक प्रयत्न किया है। एट्किंसन की दृष्टि से, सच तो यह है कि किसी भी व्याख्या के आधार पर 'चाहिये' और 'है' सम्बन्धी ह्यूम के मत को अन्तर्संगतिपूर्ण नहीं बनाया जा सकता।

(१३) ह्यूम के मत की व्याख्या के विषय में अपने इस लेख में एन्टोनी फ्ल्यू[१४] ने मेक-इन्टायर के उपर्युक्त मत की और सन् १९६२ में प्रकाशित ज़ाफरी हन्टर[१५] के मत की आलोचना की है। अपने लेख में हन्टर ने जिस मत का विरोध किया वह मत यह है कि अपने 'चाहिये' और 'है' वाले संदर्भ में ह्यूम ने दावा किया है अथवा परोक्ष रूप से कहा है, कि 'मनुष्यों को क्या करना चाहिए' इस प्रकार के कर्त्तव्य-वाक्य तथ्यों का वर्णन करने वाले वर्णन-वाक्यों से मूलतः भिन्न हैं, और वे विशुद्ध वर्णन-वाक्यों में तर्कतः कदापि निगमित नहीं किए जा सकते। इस मत को हम स० मा० व्या० अर्थात् संक्षिप्त मार्गदर्शक व्याख्या कहेंगे। स्पष्ट है कि यह वही मत है जिसकी आलोचना मेक-इन्टायर ने अपने लेख में की है। अतः एन्टोनी फ्ल्यू मेक-इन्टायर और हन्टर दोनों की आलोचना का उत्तर देते हैं। अपने उत्तर में वे एट्किन्सन द्वारा दिये गए तर्क को और आगे बढ़ाते हैं।

हन्टर की बुनियादी धारणा यह है कि स० मा० व्या० कभी सत्य नहीं हो सकती; क्योंकि ह्यूम ने अन्यत्र नैतिक वाक्यों का जैसा विश्लेषण दिया है उसके अनुसार नैतिक वाक्य स्वयं वर्णन-वाक्य मान लिये गए हैं। अतः हन्टर का निष्कर्ष यह है कि, क्योंकि ह्यूम तर्क की दृष्टि से 'चाहिये' वाक्यों को 'है' वाक्यों के समान मानता है इसलिए यह कहना कि ह्यूम के मतानुसार 'है' वाक्यों से 'चाहिये' वाक्य तर्कतः निगमित नहीं होते, बिल्कुल भ्रांत है।

फ्ल्यू का कहना है कि स० मा० व्या० को छोड़ने के लिए हन्टर ने कोई भी अच्छा तर्क नहीं दिया है, और न उनकी व्याख्या का आधार ही न्याय-संगत है। व्याख्या का आधार यह नहीं होना चाहिए कि जहाँ-जहाँ अपने प्रिय दार्शनिक की रचनाओं में असंगति दिखायी दे उस असंगति को किसी भी तरह से दूर ही करने का प्रयत्न किया जाय, चाहे वह असंगति दूर करना सम्भव हो अथवा नहीं। फ्ल्यू की दृष्टि से, हन्टर ने यही किया है। यह ठीक है कि ह्यूम की ट्रीटीज़ में 'चाहिये' और 'है' के पारस्परिक सम्बन्ध के विवरण में असंगति है, और इस असंगति को दूर करने के लिए ही हन्टर ने ह्यूम के मत की व्याख्या इस तरह की है कि इससे नैतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्यों और वर्णन-वाक्यों में तर्कतः कोई भेद ही नहीं रह जाता। परन्तु, इन दो प्रकार के वाक्यों में अभेद बताने के बजाय यह कहीं अच्छा होता यदि हन्टर ने यह कहा होता कि ह्यूम के मतानुसार 'नैतिक वाक्य न तो नित्य सत्य तार्किक वाक्य हैं और न तथ्यों का वर्णन करने वाले वर्णन-वाक्य ही हैं; अतः समस्त नैतिकता हमारी भावानुभूतियों पर ही आधारित है' (ट्रीटीज़, पुस्तक III, भाग II, परिच्छेद ५)।

फ्ल्यू की दृष्टि में, ह्यूम के मत की व्याख्या करते हुए हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि ह्यूम की रुचि धारणाओं और वाक्यों के तार्किक विश्लेषण में इतनी नहीं थी जितनी आज हमारी है। वास्तव में, वे नैतिकता के मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक तथ्यों के विश्लेषण में अधिक रुचि रखते थे।

(१४) प्रोफेसर फ्ल्यू को उत्तर[१६] :

जाफरी हन्टर प्रो॰ फ्ल्यू को अपना उत्तर देते हुए लिखते हैं कि वास्तव में ह्यूम ने नैतिक निर्णयों के विषय में अन्यत्र जो कहा है उससे सं॰ मा॰ व्या॰ तर्कतः असंगत है। इसके अतिरिक्त, ट्रीटीज़ से दिये जा सकने वाले सारे संदर्भ भी तो स॰ मा॰ व्या॰ की संपुष्टि नहीं करते, चाहे स॰ मा॰ व्या॰ ट्रीटीज़ पुस्तक III, भाग I, परिच्छेद I के केवल अंतिम एक ही संदर्भ पर आधारित है और फिर, ह्यूम ने यह तो कभी भी नहीं कहा कि कोई भी 'चाहिये' वाक्य 'है' वाक्यों से तर्कतः निगमित नहीं होता।

(१५) हन्टर के इस उत्तर पर टिप्पणी करते हुए एंटोनी फ्ल्यू[१७] लिखते हैं कि हन्टर की व्याख्या के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि हन्टर और मेक-इन्टायर को स॰ मा॰ व्या॰ अथवा रूढ़ व्याख्या को ग़लत साबित करने के लिए अभी पर्याप्त तर्क देने होंगे, जो उन्होंने नहीं दिये हैं। जबतक पर्याप्त और अकाट्य तर्क नहीं प्रस्तुत किये जाते फ्ल्यू अपना मत छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं।

(१६) 'है' और 'चाहिये के विषय में ह्यूम का मत[१८] :

यह लेख डब्ल्यू॰ डी॰ हडसन का है। इस लेख में उन्होंने 'है' और 'चाहिये' सम्बन्धी ह्यूम के मत पर चल रहे विवाद को नये प्रकाश में रखकर आगे बढ़ाने और समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। हडसन की दृष्टि से मेक-इन्टायर और हन्टर दोनों अपने-अपने मत को सिद्ध करने में सफल नहीं हो पाए हैं। हडसन का सुझाव है कि (१) 'है' और 'चाहिये' के विषय में ह्यूम का क्या मत था? और (२) 'है' और 'चाहिये' के विषय में क्या मत सही हो सकता है? इन दो तर्कतः भिन्न प्रश्नों को स्पष्टता के हित में अलग-अलग रखना चाहिये।

हडसन की दृष्टि से, ह्यूम का मत यह है कि जब हम नैतिक निर्णय देते हैं तो हम किसी मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक तथ्यों का वर्णन नहीं करते, बल्कि इस प्रकार के वर्णन करने से तर्कतः नितान्त भिन्न बात कर रहे होते हैं। दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दों में, नैतिक निर्णय देना किसी मनोवैज्ञानिक अथवा सामाजिक तथ्यों का वर्णन करना नहीं है। अतः हडसन को हन्टर का उपर्युक्त मत स्वीकार्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त, हडसन के अनुसार मेक-इन्टायर का भी यह मत ठीक नहीं है कि ह्यूम न्याय की धारणा को हित की धारणा के माध्यम से परिभाषित करते हैं। वास्तव में, ह्यूम इन दो बातों में पूरा-पूरा विवेक करते हैं कि (१) कोई कार्य सामान्य हितों की पूर्ति में सहायक है, और (२) वह नैतिक दृष्टि से उचित है। किसी कार्य का नैतिक औचित्य बताना और उस कार्य को जनहित की पूर्ति हेतु सिद्ध करना, ये दो समान बातें नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि जो कार्य जनहित का पूरक होता है उसे हम नैतिक दृष्टि से उचित भी कहते हैं। ह्यूम ने तर्क की दृष्टि से इन दो भिन्न बातों में पूरा-पूरा विवेक किया है।

इसके अतिरिक्त, ह्यूम ने नैतिक आचरण (मॉरल कम्मिट्मेन्ट) को और उन परिस्थितियों को जिनमें इस प्रकार का आचरण किया जाता है, भिन्न-भिन्न माना है। अतः यह कहना कि इन दोनों में ह्यूम ने कोई विवेक ही नहीं किया, ह्यूम के साथ अन्याय करना है। मेक-इन्टायर ने 'है' और 'चाहिये' की धारणाओं में पायी जाने वाली दरार को मानुषिक एषणाओं के द्वारा भरने का प्रयत्न किया है। यह सच है कि नैतिक निर्णय उन्हीं प्रसंगों में लिये जाते हैं जिनमें एषणाओं का प्राधान्य होता है। किन्तु, इस तथ्य से हम यह नहीं कह सकते कि नैतिक निर्णय वर्णन-वाक्यों के आधार पर ही निगमित किये जाते हैं। यदि ऐसा किया तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि जिन परिस्थितियों में कोई खेल खेला जाता है वे परिस्थितियाँ भी उस खेल की अभिन्न अंग हैं। 'है' और 'चाहिये' में पायी जाने वाली दरार को, हडसन के मतानुसार, किसी नैतिक निर्णय की पुष्टि करने के लिए दिये जाने वाले हेतु-वाक्यों द्वारा भरा जा सकता है। इस प्रकार के हेतु-वाक्य, जैसाकि नोवेल स्मिथ ने बताया है, नैतिकता की पृष्ठभूमि में ही उपलब्ध होते हैं। इन्हीं वाक्यों से 'है' और 'चाहिये' की दरार सन्तोषजनक ढंग से भरी जा सकती है।

(१७) कर्त्तव्य विषयक ह्यूम का विवरण[१६] :

अपने इस लेख में बरनार्ड वेण्ड ने कर्त्तव्य विषयक ह्यूम के सिद्धान्त की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। ह्यूम के मतानुसार, हमारे कर्त्तव्य हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियों अथवा एषणाओं से ही निर्धारित होते हैं। इस प्रकार बच्चों से प्यार और अभागे पर दया आना इत्यादि हमारे कर्त्तव्यों के उदाहरण हैं। क्योंकि कर्त्तव्य प्राकृतिक प्रवृत्तियों से ही निर्धारित होता है अतः वचन निभाने अथवा न्यायप्रिय होने जैसे हमारे दायित्वों की प्रेरणा का आधार केवल कर्त्तव्य-भावना में स्थित नहीं है। दूसरे शब्दों में, हम कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर अपने दायित्व पूरे करेंगे, यह सम्भव नहीं है। दायित्व को निभाने के लिए सहज कर्त्तव्य-भावना होने के साथ-साथ एक अन्य प्रेरणा का होना भी आवश्यक है। वह यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति अनुभव करे कि जो प्रेरणाएँ मानव-प्रकृति में सहज और सार्वभौम रूप से पायी जाती हैं वे उसमें भी हों। ऐसी प्रेरणाओं का अभाव जब उसे अपने आप में खटकने लगता है तो वह व्यक्ति इस अभाव को दूर करने में जुट जाता है। इस प्रकार की मनःस्थिति व्यक्ति को अपने दायित्व के प्रति सचेत करती है और उस दायित्व की पूर्ति करने की दिशा में प्रेरित करती है।

वेण्ड की व्याख्या के अनुसार ह्यूम के दर्शन में दो प्रकार के दायित्वों का हवाला मिलता है :—(१) सहज प्राकृतिक दायित्व और (२) नैतिक दायित्व। इन्साफ़-पसन्द होना, दूसरों की चीज़ों के प्रति आदर की भावना तथा वचन निभाना इत्यादि प्राकृतिक दायित्वों के उदाहरण हैं। प्राकृतिक दायित्व की प्रेरणा सहज प्राकृतिक होती है, कृत्रिम नहीं। उदाहरणतः मैं न्याय-प्रिय हूँ, किन्तु यह इसलिए नहीं कि न्याय-प्रिय होना अच्छा है बल्कि इसलिए कि यदि मैं न्याय-प्रिय नहीं होता तो मैं अपने प्राकृतिक हितों की रक्षा करने में असमर्थ हो जाता। इस प्रकार का दायित्व, ह्यूम की दृष्टि से, कभी नैतिक दायित्व नहीं होता, यद्यपि प्राकृतिक और नैतिक दायित्वों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध पाया जाता है।

नैतिक दायित्व में हमारी प्रेरणा सहज प्राकृतिक प्रकार की नहीं होकर कृत्रिम प्रकार की होती है। उदाहरणतः न्याय-प्रिय होने की भावना शुरू में तो प्राकृतिक हितों से संप्रेरित होती है किन्तु बाद में बुद्धि, रूढ़ि, शिक्षा, अभ्यास इत्यादि अनेक कारणों के परिणामस्वरूप वही भावना न्याय-प्रिय होने की चेतना में विकसित होती है। तब जाकर इस चेतना को नैतिक दायित्व कहा जाता है। वचनपालन और दूसरे नैतिक दायित्वों का विश्लेषण भी इसी विश्लेषण के अनुरूप होगा। इस प्रकार, ह्यूम के मतानुसार, यह कहा जा सकता है कि नैतिक कर्तव्य की चेतना अथवा नैतिक दायित्व में कुछ प्राकृतिक है और कुछ कृत्रिम। प्राकृतिक इसलिए है कि शुरू-शुरू में उचित-अनुचित की भावना विभिन्न कर्मों के प्रति हमारी सहज प्राकृतिक प्रतिक्रियाओं से जन्म लेती है। और कृत्रिम इसलिए है कि इस भावना को नैतिक दायित्व की चेतना में विकसित होने के लिए रूढ़ि इत्यादि सामाजिक प्रभावों की आवश्यकता पड़ती है।

अपने लेख के शेष दो भागों में बरनार्ड वेण्ड ने हेडिनिअस, टी० एच० ग्रीन और रेशेल एम० किड द्वारा की गई आलोचनाओं के प्रकाश में नैतिक दायित्व सम्बन्धी ह्यूम के मत के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं। हेडिनिअस की आलोचना के प्रतिपक्ष में वेण्ड का कहना है कि ह्यूम के उपर्युक्त विवरण में कोई भी आंतर असंगति नहीं है। श्रीमती किड द्वारा प्रस्तुत व्याख्या के सम्बन्ध में वेण्ड ने उपर्युक्त सन्दर्भों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि श्रीमती किड ने नैतिक दायित्व सम्बन्धी ह्यूम के विवरण में प्राकृतिक और नैतिक दायित्व को अलग-अलग नहीं रखा और इसी भ्रांति के फलस्वरूप यह मान लिया कि ह्यूम के मतानुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे न्याय-प्रियता के और वचन-निर्वाह के कार्य नैतिक दायित्व की चेतना से अनुप्रेरित नहीं होते। टी० एच० ग्रीन की आलोचना के अनुसार, ह्यूम का मत सुखवादी सिद्धान्त पर आधारित है। वेण्ड की दृष्टि से, ग्रीन की इस आलोचना में आंशिक सच्चाई है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के अतिरिक्त, यह भी कहा जा सकता है कि ह्यूम के मत के आधार पर नैतिक दायित्व को सही मानों में नैतिक कहने में भी सन्देह हो सकता है क्योंकि 'नैतिक-दायित्व' से 'आत्म-हित' की पूर्ति का अर्थ नहीं लगाया जा सकता, जैसाकि ह्यूम के मतानुसार पूर्णतया सम्भव है। दूसरी बात यह है कि ह्यूम के विवरण के अनुसार, नैतिक दायित्व सभी मनुष्यों के लिए आबद्धकर भी नहीं रहता, क्योंकि यदि नैतिक दायित्व की चेतना रूढ़ि इत्यादि बाह्य कारणों पर आधारित है तो यह पूर्ण रूप से सम्भव है कि कुछ लोग, कुछेक परिस्थितियों में, अपने नैतिक दायित्व को निभाना आवश्यक नहीं समझें।

वेण्ड इस बात को पूरी तरह से मानते हैं कि पूर्वोल्लिखित आपत्तियों को दूर किया जा सकता है। तथापि, उनकी दृष्टि में, यदि हम ह्यूम के मत को सत्य मान भी लें तो इस मत के आधार पर हम नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या नहीं कर सकते। कारण यह है कि ह्यूम के मतानुसार नैतिक दायित्व की चेतना कृत्रिम कारणों पर आधारित है, वह हमारी स्वाभाविक प्रकृति की सहज चेतना पर आधारित नहीं है। ऐसी स्थिति में, (उदाहरणतः) आवश्यकतावश ही हम न्याय-प्रिय होकर किसी नैतिक दायित्व को पूरा करने का उत्तरदायित्व लेंगे, आवश्यकता नहीं रहने पर नहीं।

(१८) ह्यूम के कानून और राजनीति सम्बन्धी दार्शनिक विचार[२०] :

यह लेख एफ० ए० हायेक का है। इनकी शिकायत है कि आज तक ह्यूम के कानून और राजनीति सम्बन्धी दार्शनिक विचारों के अध्ययन पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना उनके ज्ञानमीमांसकीय विचारों पर दिया गया है। इनके मत में ह्यूम राजनैतिक और कानून के क्षेत्र में एक उदार (लिबरल) विचारक थे जिन्होंने वैयक्तिक स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के उदार आदर्शों का पूर्ण रूप से समर्थन किया। आमतौर पर यह समझा जाता है कि सन् १६८८ की ग्लोरिअस रेवोल्यूशन के मूलभूत सिद्धान्तों का विवरण सर्वप्रथम जॉन लॉक की रचनाओं में मिलता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि इस प्रकार का पूरा विवरण सर्वप्रथम जॉन लॉक की रचनाओं में नहीं अपितु डेविड ह्यूम की दार्शनिक रचनाओं में उपलब्ध होता है।

ह्यूम के मतानुसार कानून के तीन मूलभूत नियम हैं—(१) हमारे संग्रहों में स्थायित्व, (२) संग्रहों की अदला-बदली (याने ट्रान्सफरेन्स) और (३) वचन-बद्धता। ह्यूम इन तीन नियमों को 'प्रकृति के मूलभूत नियम' कहते हैं और इन्हें मानव-समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आवश्यकताओं का अभिन्न अंग मानते हैं। किसी भी सरकार को ये तीन मूलभूत नियम मानकर चलना होता है। न्याय की धारणा भी इन्हीं नियमों पर आधारित है। 'रूल आफ लॉ' अथवा विधिमूलक शासन की बुनियाद भी इन्हीं नियमों से बनी है। ह्यूम उस सरकार का समर्थन करते हैं जो नियमों से नियन्त्रित होती है, व्यक्तियों की मनमानियों से नहीं। नियमाधीन रहकर ही व्यक्ति स्वतन्त्र है, नियमों के बाहर रह कर नहीं। अन्ततः, हायेक की व्याख्या के अनुसार, ह्यूम ने कानून और दूसरी सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति विषयक जो विवरण दिया है वह विकासवादी विवरण ही है।

(१९) ह्यूम का ईश्वर की सत्ता के विषय में अज्ञेयवाद:[२१]

अपने इस लेख में जेम्ज़ नाक्सन ने ह्यूम की रचनाओं में से अनेकानेक सन्दर्भों के साक्ष्य पर यह बताया है कि ईश्वर की सत्ता के विषय में ह्यूम नास्तिक अथवा संशयवादी नहीं थे। उनका मत केवल इतना ही था कि तर्क, बुद्धि और इन्द्रियग्रहण के आधार पर ईश्वर की सत्ता अथवा असत्ता को सिद्ध करना असम्भव है। फिर भी, साधारण जीवन और मानव-प्रकृति के आधार पर इस विषय पर जो कुछ कहा जा सकता है वह यह है कि अभ्यास, सनक और प्रवृत्ति के अनुसार इस संसार में कुछ लोग ईश्वर की सत्ता में विश्वास करेंगे और कुछ लोग विश्वास नहीं करेंगे। मानव-प्रकृति ही इस दिशा में निर्णायक होगी। ह्यूम अपने वैयक्तिक जीवन में ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे अथवा नहीं, इस प्रश्न का निर्णायक उत्तर देना कठिन है। तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे अपने जीवन में ईश्वर की सत्ता के विषय में एक तरह से अज्ञेयवाद के समर्थक थे।

(२०) ह्यूम के संवाद : भाग १० :[२२]

ह्यूम के संवादों (डायलोग्ज़) के भाग १० में फिलो बुराई के अस्तित्त्व को लेकर ईश्वर विषयक तीन विकल्प प्रस्तुत करता है : "ईश्वर बुराई को दूर करना चाहता है परन्तु कर नहीं सकता, वह कर सकता है परन्तु करना नहीं चाहता, वह करना भी चाहता है और कर भी सकता है।" यदि इनमें अन्तिम सही है तो फिर बुराई क्यों है ? कुछेक व्याख्याकारों का मत है कि इस तर्क के आधार पर फ़िलो ईश्वर की सत्ता को असिद्ध करना चाहता है। कुछ दूसरे व्याख्याकारों का मत है कि ऐसा नहीं है। प्रस्तुत लेख में विलियम एच० केपिटान का मत है कि अपने तर्क द्वारा फ़िलो ने वास्तव में ईश्वर की सत्ता को असिद्ध नहीं किया है बल्कि ईश्वर के नैतिक गुण सिद्ध करने वाले तर्क की अयुक्तता दिखाकर प्राकृतिक धर्म का सशक्त खण्डन किया है। केपिटान के मत में फ़िलो ने ईश्वर के नैतिक स्वरूप की पुष्टि में दी गई युक्तियों का अपने पैने तर्क द्वारा खण्डन करके ईश्वर की सत्ता-विषयक संशयवाद की जीत दिखाई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२१) ह्यूम का सर्वव्यापी ईश्वर[२३] :

अपने इस लेख में जार्ज जे० नाथन बताते हैं कि संवादों (डायलाग्ज़) में ह्यूम का उद्देश्य नकारात्मक और खण्डनात्मक नहीं था। नाथन की व्याख्या के अनुसार वास्तव में अपने डायलोग्ज़ में ह्यूम ने ईश्वर के स्वरूप-विषयक एक महत्त्वपूर्ण धारणा की रूपरेखा दी है। इस धारणा के अनुसार ईश्वर, सर्वव्यापी है। संवादों में चाहे सृष्टि के प्रयोजन पर आधारित तर्क को अस्वीकार किया गया है किन्तु यह केवल इसलिए किया गया है कि ह्यूम को सृष्टि में सर्वव्याप्त, अपरिमेय, चेतन और आभ्यन्तर विधान की एक धारणा का प्रतिपादन करना था। यह कार्य डायलाग्ज़ के तीनों चरित्रों ने किया। इस प्रकार डीमिया ने सृष्टि के विधान की अग्राह्यता का, क्लीनथीस ने उसकी चेतनता का और फ़िलो ने उसकी आभ्यन्तरता का विवरण दिया। नाथन अपनी व्याख्या के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ह्यूम के मतानुसार ईश्वर सृष्टि का अग्राह्य, चेतन और आभ्यन्तर विधान है। वह सर्वव्यापी है, और अन्ततः, प्रकृति से अभिन्न है।

दिल्ली विश्वविद्यालय

निर्देशांकित ग्रन्थों तथा प्रबन्धों की सूची :—

1. Chappel, V. C., (ed.), **Hume**, Macmillan, London, 1968; pp. 432.
2. Mossner, Ernest Campbell, "Philosophy and Biography : The Case of David Hume." **The Philosophical Review**, Vol. LIX (1950).
3. Jessop, T. E, "Some Misunderstandings of Hume," **Revue Internationale de Philosophie**, No. 20 (1952).
4. Popkin, Richard, H., "David Hume : His Pyrrhonism and His Critique of Phrrhonism." **The Philosophical Quarterly**, Vol. I (1951).
5. Wolff, Robert Paul, "Hume's Theory of Mental Activity," **The Philosophical Review**, Vol. LXIX (1960).
6. Robinson, J. A., "Hume's Two Definitions of "Cause"," **The Philosophical Quarterly**, Vol. XII (1962).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. **Richards, Thomas J.,** "Hume's Two Definitions of "Cause." **The Philosophical Quarterly**, Vol. XV (1965).

8 Robinson, J. A., "Hume's Two Definitions of "Cause Reconsidered" (not published earlier).

9. Lenz, John W., "Hume's Defence of Causal Inference". **Journal of the History of Ideas**, Vol. XIX (1958).

10. Stove, D., "Hume, Probability, and Induction" **The Philosophical Review**, Vol. LXXIV (1965).

11. Penelhum, Terence, "Hume on Personal Identity," **The Philosophical Review**, Vol. LXIV (1955).

12. Macintyre, A. C., "Hume on "Is" and "Ought"," **The Philosophical Review**, Vol. LXVIII (1959).

13. Atkinson, R. F., "Hume on "Is" and "Ought"," A reply to Mr. Mac Intyre," **The Philosophical Review**. Vol. LXX (1961).

14. Flew, Antony, "On the Interpreatation of Hume" **Philosophy**, Vol. XXXVIII (1963).

15. Hunter, Geoffrey, "Hume on Is and Ought," **Philosophy**, Vol. XXXVII (1962).

16. Hunter, Geoffrey, "Reply to Professor Flew," **Philosophy**, Vol. XXXVIII (1963).

17. Flew, Antony, "Not Proven"-At Most," (Not published earlier).

18. Hudson, W.D., "Hume on Is and Ought," **The Philosophical Quarterly**, Vol. VI (1956).

19. Wand, Bernard, "Hume's Account of Obligation" **The Philosophical Quarterly**, Vol. VI (1956).

20. Hayek, F.A., "The legal and Political Philosophy of David Hume", **II Politico**, Vol. XXVIII (1963).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

21.	Noxon, James,	"Hume's Agnosticism," **The Philosophical Review,** Vol.LXXIII (1964).
22.	Capitan, William H.,	"Part X of Hume's Dialogues" **The American Philosophical Quarterly,** Vol. III (1966).
23.	Nathan, George J.,	"Hume's Immanent God" (Not published earlier).

एस० भारद्वाज,
माता सुन्दरी कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेकार्ट[1]

यशदेव शल्य

डेकार्ट को यूरोपीय दर्शन में आधुनिक युग का प्रवर्त्तक माना जाता है। जर्मनी तथा फ्रांस के अधिकांश दार्शनिक तो डेकार्ट को अपना आरम्भ-बिन्दु मानकर चलते ही हैं, इंगलैंड-अमरीका के इन्द्रियानुभववादी दार्शनिक भी उसकी उपेक्षा नहीं कर पाते। डेकार्ट के दर्शन की तीन मुख्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं—(१) ज्ञान के निस्संदिग्ध आधार की खोज, (२) विविक्त प्रत्ययों विषयक सिद्धान्त तथा (३) दर्शन के लिए ज्यामितिक निगमन की विधि। किन्तु दर्शन को नयी दिशा और गति इनमें से केवल प्रथम अन्तर्दृष्टि ने ही दी। विविक्त प्रत्ययों के सिद्धान्त ने कुछ सीमा तक विचार को उत्तेजित किया, किन्तु उनका प्रथम सिद्धान्त अथवा अन्तर्दृष्टि तो युग प्रवर्त्तक सूत्र ही बन गई। उनके इस सूत्र पर उनके समय से ही वाद-विवाद चल रहा है और यह आज तक दार्शनिकों को आकर्षित कर रहा है। यहाँ हम कुछ आधुनिक दार्शनिकों के लेखों के एक संकलन का सारांश प्रस्तुत कर रहे हैं। इस संग्रह में से हमने एक लेख छोड़ दिया है और उसके बजाय एक दूसरे संग्रह से[2] हिंटिक्का के लेख का सारांश प्रस्तुत किया है। हिंटिक्का के लेख का सारांश यहाँ देना इसलिए विशेष आवश्यक था क्योंकि इस संग्रह का एक लेख मुख्यतः उसी की आलोचना है और एक अन्य लेख का सारांश हम दर्शन समीक्षा के पिछले अंक में प्रकाशित कर चुक हैं।

डेकार्ट–दर्शन में एक केन्द्रीय अस्पष्टता

स्टेन्ले रोज़न

[इस संग्रह का प्रथम लेख स्टेन्ले रोज़न का है। इसमें रोज़न ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि डेकार्ट ने दर्शन में जिस युग का सूत्रपात किया उसकी विशेषता प्रकृति पर मनुष्य का प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा है। मनुष्य अब

---

1. **Cartesian Essays**, ed. Bernard Magnus and James B. Wilbur, Pub. Martinus Nijhoff, The Hague, 1969.
2. **Descartes**, ed. Willis Daney, Pub. Macmillan, 1968.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति को अपनी इच्छा-संकल्प के, अपने प्रयोजनों के अधीन करने का प्रयत्न करता है। रोज़न के अनुसार, आज हम सिद्धान्तों की मौलिकता और सृजनात्मकता की बात करते हैं, जिसका अर्थ है कि प्रकृति मनुष्य को प्रस्तुति मात्र है और पूर्ण रूप से उसके द्वारा नियम्य है। यह बात पहले युगों के लिए अचिन्त्य थी। किन्तु डेकार्ट ने जो द्वैतवाद का प्रतिपादन किया उसमें अद्वैतवादी प्रवृत्तियों के बावजूद एक दुर्निवारता है और इस प्रकार प्रकृति की स्वायत्तता का स्वीकार है। यही इस दर्शन का एक मूलभूत व्यामिश्र (कन्फ्यूयन) है।]

स्टेन्ले रोज़न के अनुसार, डेकार्ट के दर्शन में एक अन्तर्हित अस्पष्टता को और उसके द्वारा आधुनिक विश्व की आधारभूत प्रेरणा को समझने के लिए मन और शरीर का द्वैतवाद एक उपयुक्त आरम्भ-बिन्दु नहीं है। उसके अनुसार, उनके दर्शन का मूलबिन्दु नव्य भौतिकी के लिए तर्क की गणितीय विधि और इस विधि के द्वारा निस्संदिग्ध आधारभूत सिद्धान्तों की खोज करना है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि डेकार्ट-दर्शन में द्वैतवाद केन्द्रीय सिद्धान्त नहीं है। इसके विपरीत, इस समस्या को वह डेकार्ट के चिन्तन के मूलभूत निष्कर्ष के रूप में देखता है। उसके अनुसार, १६वीं १७वीं शताब्दी के दर्शन में गणितीय भौतिकी का स्थान महत्त्वपूर्ण होने पर भी मानव के कर्तृत्व-बोध को एक नया बल मिला और मनुष्य के "आत्म" को प्राचीन स्टोइक अथवा ईसाई दर्शन के अन्तर्मुखीन आत्म से सर्वथा भिन्न रूप में कल्पित किया गया।

भौतिक वैज्ञानिक के रूप में डेकार्ट का उद्देश्य मनुष्य के लिए प्रकृति को विजित करना था। उसके अनुसार मनुष्य की वासनाएं (पैश्यंस्) गणित तथा देशकालात्मक विशिष्टों की मध्यवर्ती हैं। यद्यपि डेकार्ट आत्मनिष्ठता का प्रवर्तक नहीं होना चाहते थे, किंतु प्रकृति पर नियन्त्रण के लिए गणितमूलक चिन्तन का प्रयोग ज्ञान में आत्म के योगदान को बहुत बढ़ा देता है। यहाँ यह टिप्पणी करना स्थाने होगा कि रोज़न ने डेकार्ट में जो विषयोन्मुखी झुकाव और उसी प्रसंग में आत्मनिष्ठता का तत्त्व देखा है वह नितान्त अनुपयुक्त है। डेकार्ट वास्तव में सम्पूर्ण बाह्यता से, जिसमें अनुभूतियों और कल्पनाओं आदि का भी समावेश है, निवर्त्तन घटित करते हैं।

(II)

इस विमर्श के बाद रोज़न डेकार्ट के प्रत्यय (आइडिया) के स्वरूप पर विचार करता है। उसके अनुसार, डेकार्ट में इस सम्बन्ध में स्पष्टता नहीं है। डेकार्ट में विचार (थिंकिंग) को प्रायः विविक्त (डिस्टिंक्ट) और स्वतःस्पष्ट प्रातिभ (इंट्यूशन) के रूप में, अथवा अचल एवं शाश्वत के अव्यवहित प्रत्यक्ष के रूप में, परिभाषित किया गया है। अब प्रश्न है कि ये प्रत्यय मानव-निर्मित व्यवस्था को प्रकट करते हैं या कि स्वतंत्र व्यवस्था को? प्रत्यय को डेकार्ट इस प्रकार परिभाषित करते हैं: प्रत्यय किसी भी विचार (थाट) का वह आकार होता है जिसके अव्यवहित प्रत्यक्ष के द्वारा हम उसी विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का चेतन रूप से ग्रहण करते हैं। "किसी भी विचार" से डेकार्ट का अभिप्राय संवेद, कल्पना, विशुद्ध बोध-विषय (इंटेलिजिबल्स) तथा संकल्प की अन्तर्वस्तु से है। दूसरे शब्दों में, "प्रत्यय" सब प्रकार की मानस्क्रियाओं का आधार है और परिणामतः स्वयं भी इस प्रकार की मानस्क्रियाओं की उपज है। यह डेकार्ट की संख्या की अवधारणा से भी देखा जा सकता है। उनके अनुसार, संख्या ऐसी सामान्य अवधारणा है जो भौतिक अथवा मानसिक किसी भी विषय को लागू की जा सकती है। अब, यद्यपि इस सार्वभौम गणित (मेथेसिस यूनीवर्सेलिस) के विषय अनिर्धारित (इंडिटर्मिनेट) होते हैं किन्तु यह गणित क्रम, मान, अभिवृत्ति (डिस्पोज़ीशन) तथा अनुपात को ऐसे एकक के द्वारा निर्धारित करता है जो मनके द्वारा अपने विषयों से विश्लिष्ट कर पृथक् ग्रहण किया जाता है। इसे डेकार्ट "शुद्ध तथा सरल-विषय" कहते हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह संख्या विचार के द्वारा भौतिक वस्तुओं पर कल्पना-व्यापार के माध्यम से उत्पन्न की जाती है, **रेगुली** में किए गए प्रतिपादन के अनुसार, कल्पना में विस्तारात्मक मुद्राओं अथवा आकृतियों की प्रतिकृतियाँ उत्पन्न होती हैं और इस "चित्र" से संख्या का प्रतीकात्मक प्रत्यय विश्लिष्ट किया जाता है। इस प्रकार विचार मूलतः प्रातिभ (इन्ट्यूशन) ही है, अर्थात् यह कल्पना के माध्यम से ग्राह्य आकारों तथा विस्तार के गुणों का ग्रहण है—अव्यवहित ग्रहण नहीं, जैसाकि डेकार्ट कभी-कभी कहते प्रतीत होते हैं। संख्या तथा आकृति आदि विस्तारवान् वस्तुओं से पृथक् नहीं होते, वे केवल पृथक् कल्पित किये जाते हैं। इससे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या विचार ही भौतिक नहीं है? किन्तु रोज़न यहाँ इस प्रसंग को छोड़कर पहले मैडीटेशंस् के सन्दर्भ में अतःप्रसूत प्रत्ययों (इन्नेट आइडियाज़) के प्रश्न पर विचार करते हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में अन्तःप्रसूत प्रत्ययों के सिद्धान्त के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें कल्पना (अथवा बाह्योन्मुख विचार) में तथा प्रातिभ (अथवा अन्तरोन्मुख विचार) में मौलिक अन्तर है। डेकार्ट अपने को विचार करने वाली वस्तु (विचारवान् द्रव्य) के रूप में परिभाषित करते हैं और 'विचार' यहाँ सब प्रकार की मानस्क्रियाओं का वाचक है। किन्तु कल्पना पिंड की अवधारणा है, इससे जितना यह निष्कर्ष उपयुक्त है कि पिंड मानसिक हैं उतना ही यह भी उपयुक्त है कि मन भौतिक है। और पुनः, अपने को शरीर से भिन्न रूप में परिभाषित करने का अर्थ है शरीर को स्वीकार करना।

किन्तु डेकार्ट प्रातिभ को कल्पना से स्वतन्त्र मानते हैं और शुद्ध आकार अथवा विस्तार को प्रातिभ के द्वारा गम्य मानते हैं। इसके लिए वे मोम का उदाहरण लेते हैं जो अनन्त आकृतियाँ ग्रहण कर सकती है किन्तु जो स्वयं केवल एक आकृति-विहीन विस्तार मात्र है। मोम के इस निराकार विस्तार का ग्रहण प्रातिभ से होता है। किन्तु रोज़न के अनुसार, मोम का यह उदाहरण वास्तव में यह सिद्ध करता है कि सामान्य प्रत्यय कल्पनाश्रित है, क्योंकि मोम की द्रवणशीलता और विभिन्न आकृति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारणा का हम संवेदन करते हैं और उससे अनन्त आकृति-धारणा-सामर्थ्य के प्रत्यय का ग्रहण करते हैं। तब गणितीय व्यवस्था और मानव-मन के बीच क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न पर डेकार्ट में अस्पष्टता है। यह व्यामिश्र पांचवीं मेडीटेशन में स्पष्ट देखा जा सकता है। यहाँ डेकार्ट कहते हैं: "उदाहरणतः, जब मैं त्रिकोण की कल्पना करता हूँ.........." किन्तु यहीं वे यह भी कहते हैं कि त्रिकोण का स्वरूप "स्थिर तथा शाश्वत" है।

इसके पश्चात् रोज़न डेकार्ट के अ-विस्तृत वस्तुओं अथवा आकारों विषयक अन्तःप्रसूत प्रत्ययों की आलोचना करते हैं। डेकार्ट के अनुसार, अन्तःप्रसूत प्रत्यय वे हैं जिनका प्रामाण्य मेरे अपने स्वरूप से सिद्ध होता है। मर्सेने को लिखे अपने एक पत्र में उन्होंने अन्तःप्रसूत प्रत्ययों के तीन प्रकार बताए हैं जिनमें ईश्वर तथा मन सर्वप्रथम हैं। उनकी प्रत्यय की पूर्वोद्धृत परिभाषा के अनुसार, प्रत्यय "विचार का आकार है", और यहाँ यह आकार कल्पनामूलक है। प्रत्यय को उसके मानसिक आकार के पक्ष से देखते हुए, ये कभी असत्य नहीं हो सकते। इस प्रकार सत्यासत्य आकारपरक नहीं होते, ये इनके बाह्य वस्तु के साथ सम्बन्ध से जनित होते हैं। किन्तु यदि निर्णय हमें अनिवार्यतः अपने से बाहर ले जाते हैं तब हम केवल आंतर विचार के द्वारा यह कैसे जान सकते हैं कि कोई अन्तःप्रसूत प्रत्यय अपनी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से सत्य है? उदाहरण के लिए, यदि मुझे अपना प्रत्यय विचार करने वाले के रूप में प्रदत्त है तब मैं इससे केवल इतना जानता हूँ कि मैं किसी **मन में** हूँ, यह नहीं कि मन के रूप में मेरा अस्तित्व है।

रोज़न के अनुसार, डेकार्ट के विचार की अस्पष्टता उसके प्रायः सभी आधारभूत प्रतिपादनों में लक्षित होती है और यह ऐसे द्वैतवाद की ओर ले जाती है जिसे उतने ही उचित रूप से अद्वैतवाद कहा जा सकता है। वह अद्वैतवाद भौतिकवादी है या अध्यात्मवादी यह देखने वाले के दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, डेकार्टीय प्रतिपादन के अनुसार कारण उतना ही सत् होता है जितना कार्य। अब, या तो मन सत् है या विस्तार सत् है। यदि मन सत् है तो विस्तार उससे उत्पन्न है और यदि विस्तार सत् है तो मन उससे उत्पन्न है। यह अस्पष्टता वास्तव में डेकार्ट-दर्शन में दो विरोधी उद्देश्यों के कारण है। प्रथम उद्देश्य है प्रकृति की संरचना की गणितीय संरचना से एकरूपता स्थापित करना और दूसरा प्रकृति पर मनुष्य का स्वामित्व स्थापित करना। यदि लक्ष्य इस व्यवस्था की प्रामाणिकता है तो इसका अविचल और मनुष्य से स्वतन्त्र होना आवश्यक होगा, और यदि लक्ष्य मनुष्य का स्वामित्व स्थापित करना है तो इसे उसके स्वामित्व को स्वीकार करना होगा। डेकार्ट मनुष्य में स्वतन्त्र संकल्प को उसमें ईश्वरभाव की विद्यमानता का निदर्शक मानते हैं। किन्तु तब मनुष्य ईश्वर से भी स्वतन्त्र है। यहाँ डेकार्ट का प्राचीनों से मौलिक भेद देखा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेकार्टीय द्वैतवाद एक प्रकार से आत्मा और शरीर के पार्थक्य के ईसाई सिद्धान्त की ही आवृत्ति है, किन्तु वह स्काटीय ईसाई परम्परा के अनुसार इस द्वैतवाद के पार्थक्यपरक परिणामों का निरास करने का प्रयत्न भी करता है। रोज़न इस प्रसंग में ईसाइयों के ईश्वर विषयक सिद्धान्त में बुद्धि के ऊपर संकल्प के प्राधान्य की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह सिद्धान्त भूत द्रव्य की सृष्टि तथा मन के लिए उसकी गम्यता के प्रश्नों का समाधान करता है। स्वभावतः यह धार्मिक सिद्धान्त दार्शनिक आदर्शवाद-प्रत्ययवाद की ओर ले जाता है। प्रत्ययवादी भौतिक द्रव्य की अवगम्य संरचना को, अथवा भौतिक द्रव्य को ही, स्वतन्त्र सत्ता देने से इन्कार करता है और इस प्रकार ज्ञान तथा क्रिया के द्वैत का निराकरण करता है। इसी प्रकार भौतिकवादी इनके द्वैत का मन की स्वतन्त्र सत्ता के निषेध द्वारा, अथवा कहें, भौतिक द्रव्य की अवगम्य संरचना के अतिरिक्त शेष सबके अस्तित्व के निषेध द्वारा, निराकरण करता है।

किन्तु द्वैतवाद का निवारण न तो डेकार्ट के दर्शन में गणितीय भौतिकी का महत्त्व दिखा कर किया जा सकता है और न डेकार्टोत्तर पदावली में प्रतिपादित प्रत्ययवाद अथवा भौतिकवाद के द्वारा। क्योंकि न तो प्रत्ययवाद मन को विस्तारयुक्त कहने से बच सकता है और न भौतिकवाद भौतिक द्रव्य को विचारयुक्त कहने से। प्रत्ययवाद के लिए भौतिक द्रव्य और भौतिकवाद के लिए मन अनन्तर्भाव्य तत्त्व हैं। दूसरे शब्दों में, ये दोनों बुद्धि (रीज़न) पर संकल्प तथा कल्पना को प्रमुखता देते हैं और परिणामतः इनमें आकार तथा व्यवस्था की व्याख्या सम्भव नहीं है।

अन्त में रोज़न डेकार्टीय द्वैतवाद के फिनोमनलोजी दार्शनिकों तथा अस्तित्ववादियों द्वारा प्रस्तुत समाधान की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार, इन दार्शनिकों ने मनुष्य के "संसार में होने" को मूल अनुभव और मूल तथ्य के रूप में प्रतिपादित कर मन और भूत के द्वैत को समाप्त करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि यह प्रतिपादन बहुत आकर्षक और उपयुक्त है किन्तु ये दार्शनिक भी सायुज्य के आकर्षण से नहीं बच सके जो अद्वैतवाद की ओर ले जाता है। किन्तु अद्वैतवाद वास्तव में छद्म द्वैतवाद ही है। रोज़नबर्ग के अनुसार एक ऐसा त्रैतवाद उपयुक्त सुलझाव है जो मन और भूत के बीच संवादिता स्थापित करता है। क्यों और किस प्रकार, इस पर रोज़नबर्ग विचार नहीं करते।

तर्क तथा विचार-क्रिया पर कुछ टिप्पणियाँ
राबर्ट एन० बैक्

डेकार्ट का प्राविधिक सन्देह और इस सन्देह द्वारा सब कुछ के निरास में से सन्देहकर्त्ता अथवा निराकरण-कर्त्ता की निस्सन्दिग्ध उपलब्धि दर्शन में आज सर्वविदित और अत्यधिक विवादास्पद विषय हैं। आलोचकों का प्रश्न रहा है कि "विचारता हूँ, इसलिए हूँ" में "इसलिए" का क्या स्वरूप है, यह किस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेक् के अनुसार, डेकार्ट ईश्वर तथा दैत्य की प्राक्कल्पनाओं द्वारा विषय-जगत् और तार्किक नियम सब कुछ का निराकरण कर देते हैं, किन्तु एक अनिराकरणीय तथ्य बच रहता है—"विचारता हूँ, इसलिए मैं हूँ" जिसे उपर्युक्त दोनों शक्तियाँ सन्देहास्पद नहीं बना पातीं। गणित की प्रामाणिकता पर विचार करते हुए डेकार्ट कहते हैं कि, २+३=५ प्रामाणिक है और नींद में भी यह समीकरण खण्डित नहीं होता। किन्तु प्राविधिक सन्देह द्वारा ये भी निरस्त हो जाते हैं। यही स्थिति तार्किक प्रतिज्ञप्तियों की अनिवार्यता की है, यह अनिवार्यता अन्ततः मनोगत ही सिद्ध होती है, वास्तव नहीं। परिणामतः "विचारता हूँ" द्वारा मेरे अस्तित्व का आपादन तार्किक आपादन नहीं हो सकता। गेस्सेंडी आदि आलोचकों ने "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति को "जो क्रिया करता है उसका अस्तित्व है" इस सामान्य प्रतिज्ञप्ति से निगमनीय दिखाने का प्रयत्न किया, कुछ अन्य आलोचकों ने इसे अन्य सामान्य प्रतिज्ञप्तियों से निगमनीय बताया, किन्तु डेकार्ट ने इन आलोचनाओं को कभी स्वीकार नहीं किया। वास्तव में, डेकार्ट ने स्वयं निगमन को सन्देह से ऊपर नहीं माना, परिणामतः "विचारता हूँ" को निगमनात्मक मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किन्तु तब भी यह सही है कि डेकार्ट ने तृतीय मेडीटेशन में यह तार्किक प्रतिपादन किया है कि इसका निषेध वदतोव्याघात है और इस प्रकार डेकार्ट इस प्रकार की क्रियापरक व्याख्याओं को भी अस्वीकार करेंगे कि "मेरा अस्तित्व है" कथन स्वतःप्रमाण है अथवा तथ्यात्मक है। डेकार्ट की तत्त्वमीमांसा के लिए "विचारता हूँ" में आन्तर अनिवार्यता होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में डेकार्ट की स्थिति समझने के लिए उनका प्रातिभ (इन्ट्यूशन) का सिद्धान्त समझना आवश्यक है। बुद्धि द्वारा विषय का अव्यवहित "प्रत्यक्ष" प्रातिभ है और यह सरल अवधारण ही असंदिग्ध ज्ञान है। अब, यद्यपि प्रातिभ का विषय अत्यन्त सरल होता है किन्तु यह दो सरल प्रत्ययों अथवा एक प्रत्यय के अन्तर्गत दो तत्त्वों के अव्यवहित और अनिवार्य सम्बन्ध द्वारा घटित होता है। इस प्रकार स्वतःस्पष्ट प्रदत्त एक ऐसी सरल प्रतिज्ञप्ति होता है जिसमें प में फ अव्यवहित तथा अनिवार्य रूप से निहित होता है तथा प्रातिभ की अन्तर्वस्तु में आपादक और आपाद्य (इंप्लीकांस् एण्ड इंप्लीकाटम) का सम्बन्ध अव्यवहित तथा अनिवार्य होता है। ये सरल असीमतः जटिल हो सकते हैं, किन्तु ये ज्ञान में मूल और अविश्लेष्य घटक होते हैं।

इस प्रकार स्पिनोज़ा ने "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति को ठीक ही एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति कहा था जिसमें विभिन्न तत्त्व समाविष्ट रहते हैं। "विचारता हूँ, इसलिए हूँ" एक ही अनुभव-समग्र में अस्फुट से स्फुट की ओर गति है और "इसलिए" का स्थान उसके भीतर है।

इस प्रकार "विचारता हूँ" की आपादनात्मक अनिवार्यता न तो "सामान्य विचार के नियम" की अनिवार्यता है और न आपादनात्मक एकत्व की ही अनिवार्यता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यह प्रतिज्ञप्ति एक अस्तित्ववान् का निर्देश करती है और इसकी अनिवार्यता सत्तात्मक है। डेकार्ट के लिए "विचारता हूँ" की विलक्षणता इस बात में है कि यह उसे पहली बार यह ज्ञान देती है कि किसी का अस्तित्व है। यद्यपि इसकी अनिवार्य सत्यता इसके अवधारण में ही है, किन्तु यहाँ इससे केवल इतनी ही अपेक्षा है कि यह किसी अस्तित्व की गारन्टी करती है। किन्तु तब भी यह मूल प्रदत्त है जिससे ज्ञान की पुनारचना आरम्भ होती है, इससे ही डेकार्ट की सुस्पष्टता और विविक्ततामूलक सत्य की कसौटी का उद्भव हुआ। इस प्रकार डेकार्टीय स्थापना है कि "विचारता हूँ" के समान सत्य आत्म में अव्यक्त रूप से निहित हैं, ये व्यक्त केवल आदिम प्रदत्त के आधार पर विश्लेषण की विधि से होते हैं।

"विचारता हूँ, इसलिए मैं हूँ" : अनुमान या क्रियासंपादन ?

जाको हिंटिक्का

इस लेख में हिंटिक्का ने दिखाया है कि डेकार्ट की यह प्रसिद्ध प्रतिपत्ति एक तार्किक अनुमानपरक प्रतिपत्ति नहीं है बल्कि यह चैतन्य की मूल क्रिया है जो अपने घटित होने के साथ ही अपने को प्रमाणित करती है। वास्तव में यह डेकार्ट ने स्वयं भी अनेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से कहा है। इस प्रकार यह लेख डेकार्ट के स्पष्ट प्रतिपादन का ही विवेचन है और इस प्रकार के विवेचनों के लिए यह अत्यन्त अर्थगर्भित प्रतिज्ञप्ति शताब्दियों से प्रेरित करती आ रही है।

हिंटिक्का के अनुसार दर्शन में "विचारता हूँ, इसलिए हूँ" की प्रसिद्धि से यह अपेक्षा होती है कि निरन्तर विचार-विमर्श ने इसकी गहराई नाप ली होगी और निष्कर्ष निश्चित कर लिये होंगे। किन्तु हीन्रिख श्खोल के अनुसार, न केवल अभी तक इस सम्बन्धी बहुत से प्रश्न ही अनुत्तरित हैं बल्कि बहुत से आवश्यक प्रश्न हैं जो अभी उठाए तक नहीं गए हैं।

इस समस्या के कुछ ऐतिहासिक पक्षों पर विचार करते हुए हिंटिक्का कहते हैं कि इस प्रतिज्ञप्ति के पूर्वाभास संत ऑगस्तीन, कैंपनेल्ला तथा संत थॉमस एक्वीनास में भी उपलब्ध होते हैं।

"मैं हूँ" के साथ "मैं विचार करता हूँ" के सम्बन्ध पर विचार करते हुए हिंटिक्का डेकार्ट के इस स्पष्टीकरण का उल्लेख करते हैं कि इन दो खण्डों में निगमनात्मक सम्बन्ध नहीं है बल्कि अव्यवहित आंतर ग्रहण मूलक सम्बन्ध है। इसी प्रकार, डेकार्ट कहते हैं कि "मैं हूँ" प्रतिज्ञप्ति "मैं विचारता हूँ" पूर्वप्रतिज्ञा के बिना ही अव्यवहित रूप से प्रदत्त है। अब, यदि यह सही है तो जिस प्रतिज्ञप्ति में "मैं हूँ" की अव्यवहितता प्रतिपादित करना अभिप्रेत है उसमें न केवल "इसलिए" अस्थाने होगा बल्कि "विचारता हूँ" भी अस्थाने होगा।

किन्तु शायद "विचारता हूँ" यह प्रकट करने के लिए हो कि "मैं हूँ" की प्रातिभ प्रदत्तता के लिए विचार आवश्यक है, कि यह प्रातिभ अबौद्धिक घटना नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर बौद्धिक अव्यवहितत्त्व है। किन्तु यदि यह सही हो तो प्रश्न उठता है कि तब डेकार्ट ने इस तथ्य को इस विशिष्ट अंतर्दृष्टि के द्वारा ही क्यों व्यक्त किया ? हिंटिक्का के अनुसार, इस प्रतिज्ञप्ति में "मैं विचारता हूँ" न तो निराकरणीय है और न केवल एक प्रतिज्ञा (प्रेमिस) है जिससे "मैं हूँ" निगमित होता है। इसलिए इनमें सम्बन्ध एक समस्या है। इस लेख में उन्होंने इस समस्या पर ही विचार किया है।

"मैं विचारता हूँ" के तर्कानुमान होने के प्रश्न पर विचार करते हुए हिंटिक्का कहते हैं कि इसका तर्करूप इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : "मैं विचारता हूँ" में एक व्यक्ति को एक गुण से विशेषित किया गया है और शेष वाक्य में उसी व्यक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसका अस्तित्व है। प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र की भाषा में इसे रूपांतरित करने पर :

(१) क (अ) ⊃ (Ǝय) (य=अ)

देखा जा सकता है कि यह एक पूर्णतः युक्त तर्कानुमान है। वास्तव में जब गेस्सेंडी ने आपत्ति की थी कि "मैं हूँ" उतना ही "मैं चलता हूँ" आदि से भी आपादित होता है तब उसका यही आशय था कि इस वाक्य की सत्यता के लिए गुण क आवश्यक नहीं है, कोई भी अन्य गुण हो सकता है।

किन्तु इसी से "मैं विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति की यह व्याख्या उपयुक्त नहीं है। डेकार्ट ने गेस्सेंडी की आपत्ति का उत्तर दिया था कि यद्यपि "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति प्रकटतः "मैं चलता हूँ..........." के अनुरूप है किन्तु "मैं चलता हूँ" उस प्रकार निस्सन्दिग्ध नहीं है जिस प्रकार "मैं विचारता हूँ" है, क्योंकि चलना आदि मेरे स्वरूप से बाह्य हैं। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि डेकार्ट "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति में "मैं हूँ" को "विचारता हूँ' से निगमन मानते ही नहीं। इसके अतिरिक्त, इसे तर्कानुमान के रूप में देखने पर हम डेकार्ट की मूल अंतर्दृष्टि को और उसकी व्यवस्था में इसके प्रयोजनों को समझने में असमर्थ रहते हैं।

यद्यपि यह सही है कि डेकार्ट में कभी-कभी ऐसे संकेत भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि उनके मन में व्यामिश्रित रूप से ऐसा आशय भी विद्यमान था, किन्तु यह व्याख्या डेकार्ट के दर्शन के मूल और स्पष्ट आशय को समझने में तनिक भी सहायक नहीं होती। मेडीटेशंस् में तथा अन्य कुछ कृतियों में डेकार्ट की स्थापनाओं का सारांश यह है कि उनके लिए अपने अस्तित्व का निषेध करना असम्भव था। अपने अस्तित्व का निषेध वे इस ढंग से कर सकते थे कि वे अपने नाम का प्रयोग प्रथम पुरुष में करते और कहते "डेकार्ट का अस्तित्व नहीं है।" हिंटिक्का के अनुसार, डेकार्ट के लिए यह भी सम्भव नहीं हुआ, और उनका यह निषेध नहीं कर सकना इस बात से निकटतः सम्बन्धित है कि वे "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति को क्यों सन्देहातीत मानते हैं। हिंटिक्का इस प्रसंग में वाक्य, कथन और कथन के उच्चारण में भेद करते हुए कहते हैं कि, जबकि अनस्तित्व-प्रतिपादक वाक्य पूर्णतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्थक और संगत है, इसका किसी व्यक्ति के द्वारा अपने अनस्तित्त्व के सम्बन्ध में उच्चारण वदतोव्याघात है। वास्तव में यह असम्भव है कि वह अपने सम्बन्ध में उचित रूप से कह सके कि वह नहीं है। अब, क्योंकि अस्तित्त्वात्मक रूप से असंगत कथन आत्मबाधक होता है, उसका निषेध स्वतःसिद्ध--स्वतःप्रमाण -होता है। हिंटिक्का के अनुसार, सम्भवतः डेकार्ट को यह ध्यान था, अस्पष्टतः ही चाहे क्यों न हो, कि "मेरा अस्तित्व नहीं है" कथन आत्मबाधक है और परिणामतः "मेरा अस्तित्त्व है" स्वतःप्रमाण है। "मैं विचारता हूँ, अतः मैं हूँ" इस अन्तर्दृष्टि को व्यक्त करने का यह केवल एक ढंग है। दूसरा ढंग, जो डेकार्ट ने वास्तव में अपनाया, वह है "मेरा अस्तित्व है" को आंतर संज्ञान में अव्यवहित रूप से व्यक्त मानना।

इस प्रकार, "मैं विचारता हूँ, अतः मैं हूँ" के दो भागों का सम्बन्ध समझा जा सकता है और यह देखा जा सकता है कि यह साधारण अर्थ में तर्कानुमान नहीं है। डेकार्ट यह जानते हैं कि इसकी असन्दिग्धता विचारने की क्रिया से, अथवा कहें इसके विपरीत सोचने के प्रयत्न से, निष्पन्न होती है। डेकार्ट की प्रतिज्ञप्ति में "विचारता हूँ" का कार्य ऐसी विचार-क्रिया को लक्षित करना है जिसके द्वारा "मेरा अस्तित्व है" की स्वतःप्रमाणता अपने को व्यक्त करती है। हिंटिक्का के अनुसार, इनमें सम्बन्ध प्रक्रिया (प्रासेस) और निष्पत्ति (कन्क्लूज़न) के जैसा होता है। मेरे अस्तित्व की असंदिग्धता मेरे विचार करने के परिणामस्वरूप उसी प्रकार प्राप्त होती है जिस प्रकार गीत-ध्वनि गाने से, अथवा, डेकार्ट के अपने रूपक के अनुसार, जिस प्रकार प्रकाश प्रकाश के स्रोत की उपस्थिति से उपलब्ध होता है।

इस प्रकार, डेकार्टीय प्रतिज्ञप्ति में 'इसलिए' द्वारा व्यक्त सम्बन्ध विचित्र प्रकार का है। यदि डेकार्ट कहते कि मेरा अस्तित्व इस बात में है कि "मैं विचारता हूँ" तो यह कम भ्रामक होता। वास्तव में डेकार्ट स्वयं कभी इसे निगमन और कभी प्रातिभ अथवा आंतर संज्ञानात्मक कहते हैं।

इसी प्रकार हम अब "जानता हूँ" के महत्त्व को भी समझ सकते हैं। यह पद उस क्रिया-सम्पादन (विचारना) को व्यक्त करता है जिसके द्वारा "मेरा अस्तित्व है" वाक्य अपने को प्रमाणित करता है। इस कारण इसका महत्व डेकार्ट-दर्शन में अद्वितीय है। इसे जिस किसी भी क्रिया पद द्वारा स्थानांतरित नहीं किया जा सकता। जिस निष्पादन के द्वारा अस्तित्वात्मक स्वतःप्रामाण्य अपने को व्यक्त करता है वह जो कोई भी मानव-क्रिया नहीं हो सकती, सब मानस्-क्रियाएँ भी इस पद की अधिकारी नहीं हो सकतीं। यह कार्य केवल अपने को यह विश्वास दिलाने के प्रयत्न से ही सिद्ध हो सकता है कि "मेरा अस्तित्व नहीं है।"

डेकार्ट की अन्तर्दृष्टि का निष्पादनात्मक रूप इसके सन्देह को एक वैशिष्ट्य दे देता है : यह सन्देहवादी का सन्देह नहीं है जिसमें कोई धारणा—विश्वास—सम्भव ही नहीं है, न इसका उद्देश्य हमारे चिन्तन की कुछ विशेष भ्रांतियों के स्रोतों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाप्त करना है। यह हमारी सहज धारणाओं के विपरीत दिशा में सोचने का प्रयत्न है। इस प्रकार डेकार्ट का सन्देह वास्तव में सन्देह-विघातक है।

कुछ व्याख्याकारों ने "विचारता हूँ" को अन्तःप्रेक्षणमूलक तथ्यात्मक कथन के रूप में देखा है जो हिंटिक्का के अनुसार उसी प्रकार एकतरफा है जिस प्रकार इसे तर्कानुमान मानना एकतरफा है।

हिंटिक्का के अनुसार, डेकार्ट की प्रतिज्ञप्ति नितांत एकपरक—विचारकर्त्ता-परक—है। इसे किसी सामान्य वाक्य से निगमित नहीं किया जा सकता, न इससे कोई सामान्य या साधारणीकरणात्मक वाक्य निगमित किया जा सकता है। वास्तव में साधारण वाक्य "जो कोई भी विचार करता है उसका अस्तित्व है" में कुछ अस्तित्वमूलक पूर्वमान्यताएँ हैं जिन्हें प्रकाश में लाने पर यह एक पुनरुक्ति–वाक्य बनता है—"किसी भी वस्तुतः अस्तित्ववान् विचार करने वाले व्यक्ति का अस्तित्व है।" अथवा हम साधारण वाक्य के "कोई भी" को "सब विचार करने योग्य" का पर्याय मान सकते हैं। हिंटिक्का के अनुसार, यह प्रणाली अनुचित है, यदि यह उचित हो भी तो भी इससे हमें डेकार्टीय वाक्य का उपयुक्त साधारणीकरण नहीं उपलब्ध हो सकता, क्योंकि तब हमारा साधारणीकरण यह रूप लेगा—"प्रत्येक विचारक्षम व्यक्ति का, जोकि विचार करता है, अस्तित्व है।" किन्तु यह असत्य है, क्योंकि तब शेक्सपीयर का डेन्मार्क का मननशील राजकुमार भी अस्तित्ववान् होगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि डेकार्ट की अन्तर्दृष्टि का साधारणीकरण सम्भव नहीं है। यह उसके निष्पादनात्मक गुण के कारण है। डेकार्टीय प्रतिज्ञप्ति की निस्सन्दिग्धता विचार-क्रिया के कारण है जिसका निष्पादन प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं करना होता है।

डेकार्ट-दर्शन में "विचारता हूँ" की भूमिका पर विचार करते हुए हिंटिक्का कहते हैं कि, डेकार्ट के अनुसार "मेरे अस्तित्व" की असंदिग्धता, इसके विचार-क्रियामूलक होने से, तभी तक उपलब्ध होती है जब तक विचार-क्रिया रहती है। इस प्रकार यह असंदिग्धता अस्थायी होती है। इस प्रकार यह असंदिग्धता विचार के द्वारा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि विचार द्वारा प्राप्त साधारण प्रकार के बोध की निश्चितता एक बार प्राप्त होने पर निरन्तर बनी रह सकती है। इससे यह भी देखा जा सकता है कि क्यों डेकार्ट इस आत्म को विचार-क्रियास्वरूप मानते हैं। यही कारण है कि डेकार्ट ने आत्म को "रेस् कोजिटांस्" (विचारात्मक द्रव्य) कह कर परिभाषित किया है। डेकार्ट के शब्दों में, "जब मैं किसी क्षण विचार करने से रुकता हूँ तब·······मेरे पास यह विश्वास करने के लिए कोई आधार नहीं होता कि मेरा उस समय अस्तित्व था।········ इससे मैं जानता हूँ कि मैं एक ऐसा द्रव्य हूँ जो पूर्णरूप से विचार-क्रिया-स्वरूप है।" (डिस्कोर्स) इस प्रकार हिंटिक्का के अनुसार, "विचारता हूँ, इसलिए हूँ" से सीधे "मैं विचार-क्रियास्वरूप हूँ" पर संक्रमण तबतक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अव्याख्येय ही रहता है जबतक हम "विचारता हूँ" प्रतिज्ञप्ति को तार्किक सत्य के रूप में देखते हैं।

डेकार्ट के ऑगस्टाइन से भेद की चर्चा करते हुए हिंटिक्का कहते हैं कि ऑगस्टाइन ने "विचारता हूँ" को निष्पादनात्मक रूप में नहीं देखा, तर्कानुमान के रूप में ही देखा। इस कारण डेकार्ट के प्रतिपादनों में एक मूलतः नवीन तत्त्व विद्यमान है और परिणामतः डेकार्ट और ऑगस्टाइन के उन निष्कर्षों में भी मूलगामी अन्तर है जिन पर वे अपनी अन्तर्दृष्टियों के परिणामस्वरूप पहुँचे, उदाहरणतः ऑगस्टाइन ने अपने सिद्धान्त का प्रयोग उस स्थापना के अंग के रूप में किया जिसका उद्देश्य यह दिखाना था कि मानव-आत्मा के तीन पक्ष हैं : सत्त्व, ज्ञान और संकल्प (बींग, नॉलेज एंड विल) जबकि डेकार्ट के आत्म में अनुभूति और संकल्प के लिए कोई स्थान नहीं है। हिंटिक्का के अनुसार, डेकार्ट ऑगस्टाइन की अपेक्षा थॉमस एक्वीनास के अधिक निकट हैं, क्योंकि एक्वीनास के अनुसार "बुद्धि अपने को अपने धर्म के द्वारा नहीं जान कर क्रिया के द्वारा ही जान सकती है।" (सम्मा थियोलोजिया) यद्यपि डेकार्ट और एक्वीनास में भेद भी है, क्योंकि एक्वीनास के अनुसार विचारवान् सत्त्व को अपने क्रिया-सम्पादन के लिए अपने से भिन्न किसी विषय की अपेक्षा होती है, जबकि डेकार्ट इस अपेक्षा को स्वीकार नहीं करते। किन्तु हिंटिक्का के अनुसार, यह भिन्नता समता की अपेक्षा गौण है। वे डेकार्ट की एक्वीनास से इस समानता को केवल एक संयोग नहीं मानते।

"विचारता हूँ" एक अस्पष्ट क्रिया

जेम्स बी० विल्बर

इस लेख में विल्बर ने डेकार्ट की प्रसिद्ध प्रतिज्ञप्ति की हिंटिक्का द्वारा की गई व्याख्या पर टिप्पणी की है। हिंटिक्का ने दिखाया है कि डेकार्ट में इस प्रतिज्ञप्ति की दो स्थापनाएँ मिलती हैं (१) निगमनात्मक और (२) क्रियापरक, और हिंटिक्का के अनुसार वास्तव में द्वितीय स्थापना ही डेकार्ट को अभिप्रेत है और यही स्थापना उचित भी है। विल्बर हिंटिक्का की इस "अपूर्व सूझ" की प्रशंसा करते हैं, किन्तु उनके अनुसार वास्तव में कोजिटो (विचारता हूँ) के अपने स्वरूप में ही एक अन्तर्निहित अस्पष्टता है जो दोनों व्याख्याओं को धारण करती है। विल्बर के अनुसार, विचार-क्रिया-सम्पादन को किस प्रकार विविक्त रूप से समझा जाय, इसका निर्धारण स्वयं विचार-क्रिया से नहीं हो सकता।

विल्बर के अनुसार, इस प्रसंग में डेकार्ट की बौद्धिक प्रातिभ (इंटलेक्चुअल इन्ट्यूशन) की अवधारणा को ध्यान में रखना उपयुक्त होगा। इस अवधारणा के अनुसार, विचारों की प्रत्येक शृंखला अन्ततः दो विचारों के सम्बन्ध पर आधारित होती है। एल० जे० बैक् के शब्दों में : प्रातिभ का विषय आपादक-आपाद्य के एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अव्यवहित और अनिवार्य सम्बन्ध में स्थित दो तत्त्व होते हैं, अर्थात् "क्योंकि य इसलिए व" प्रकार की इस प्रतिज्ञप्ति, जिसमें य अव्यवहित तथा अनिवार्य रूप से व को आपादित करता है। इस प्रकार, इस प्रतिज्ञप्ति का "इसलिए" आपादन का वाचक है। स्वयं प्रतिज्ञप्ति उन तत्त्वों के बीच सम्बन्ध है जिनमें आपादनता है। यह आपादन उस समग्र तथ्य में निहित है जिसका मैं असंदिग्ध रूप से प्रातिभ द्वारा ग्रहण करता हूँ।

विल्बर के अनुसार, उपर्युक्त सन्दर्भ में देखने पर हम पाएंगे कि वास्तव में डेकार्ट ही कोजिटो की व्याख्या के सम्बन्ध में अस्पष्ट नहीं है और न यही बात है कि स्वयं कोजिटो विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से रचित होने के कारण अस्पष्ट है, बल्कि स्वयं वह क्रिया ही अस्पष्ट है जिसकी कोजिटो अभिव्यक्ति है। यह इस कारण अस्पष्ट है क्योंकि प्रातिभगत (इन्ट्यूटिव) आपादन अपने को दो भिन्न व्याख्याओं को प्रस्तुत करता है। इनमें एक व्याख्या विचार-क्रिया का मेरे अस्तित्त्व की असंदिग्ध अवगति की शर्त होना है, दूसरी कर्त्ता-क्रिया-निदर्श है। इस परिप्रेक्ष्य से, विचार-क्रिया का होना मेरे अस्तित्व के लिए सम्भावना प्रस्तुत करता है, क्योंकि क्रिया के लिए कर्त्ता का होना आवश्यक है। इससे ठीक विपरीत स्थिति प्रक्रिया-परिणाम-निदर्श में होती है। इसमें क्रिया अथवा प्रक्रिया मौलिक होती है और वस्तु, कर्त्ता अथवा परिणाम आनुषंगिक। 'निष्पादन' वास्तव में इस अंतिम निदर्श को व्यंजित करता है। निष्पादन-निष्पादक को उत्पन्न करता है, किन्तु तब एक अर्थ में यह निष्पादक को पूर्वकल्पित भी करता है। इस प्रकार, उपर्युक्त के प्रकाश में यह कहना बहुत उपयोगी प्रतीत नहीं होता कि कोजिटो अनुमान है या निष्पादन है।

विल्बर के अनुसार, उपर्युक्त दो निदर्शों का एक पक्ष और है: कर्त्ता-क्रिया निदर्श से वास्तवता-योग्यता (एक्चुअल-पोटेंश्यल) निदर्श मेरे ध्यान में आता है, अर्थात् विचार-क्रिया के घटित होने के लिए यह आवश्यक है कि मेरा विचार-योग्यतासम्पन्न के रूप में अस्तित्त्व हो। यह धर्म तथा अस्तित्त्व में, मेरी स्वरूपगत योग्यताओं तथा मेरी वास्तवता में, भेद को व्यक्त करता है।

इसके बाद विल्बर कोजिटो की उपर्युक्त दो प्रतिपत्तियों को पश्चिमी दर्शन की दो परम्पराओं के साथ मिलाते हैं। उनके अनुसार, इसकी क्रिया-संपादनात्मक व्याख्या अनुभववादी वैज्ञानिक परम्परा के अनुसार है जो भौतिक और जैविक प्रकृति को समझने के लिए क्रिया-परिणाम-निदर्श का प्रयोग करती है—कर्त्ता-क्रिया निदर्श को "धर्म अस्तित्व का पूर्वग है" सिद्धान्त के अनुसार देखा जा सकता है और प्रक्रिया-परिणाम निदर्श को अस्तित्ववाद के "अस्तित्व धर्म का पूर्वग है" सिद्धान्त के अनुसार। डेकार्ट में ये दोनों विचार-परम्पराएँ विद्यमान हैं। हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि डेकार्ट के विश्लेषण में ये दोनों संयुक्त हैं। विल्बर के अनुसार, चेतन-क्रिया में यह अस्पष्टता स्वरूपगत है, क्योंकि मानव-व्यवहार तथा चेतना को दोनों निदर्शों के बिना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं समझा जा सकता। उदाहरणतः कर्त्ता-क्रिया निदर्श के बिना विषयापेक्षा (इंटेंशन) तथा क्रिया के भेद को नहीं समझा जा सकता और प्रक्रिया-परिणाम निदर्श के बिना अभ्यास और उसके द्वारा चरित्र-निर्धारण के तथ्य को नहीं समझा जा सकता।

डेकार्ट के ईश्वर के अस्तित्वविषयक प्रमाण

बर्न्ड मेग्नस

डेकार्ट के दर्शन में ईश्वर की सत्ता विषयक प्रमाणों का बहुत महत्त्व है, क्योंकि ये प्रमाण धार्मिक नहीं होकर दार्शनिक हैं; दूसरे, ये उसके दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन को सिद्ध करते हैं और वह प्रयोजन है सन्देह द्वारा निवारित संसार की पुनः प्रतिष्ठा। मेग्नस ने इस लेख में तर्क किया है कि डेकार्ट के ये प्रमाण पर्याप्त पुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार, सामान्यतः यह कहा जाता है कि डेकार्ट ने ईश्वर के अस्तित्त्व के सम्बन्ध में तीन प्रकार के प्रमाण दिये हैं। प्रथम प्रमाण तृतीय मेडीटेशन में दिया गया है। यह प्रमाण, स्वयं डेकार्ट ही के साक्ष्य से, अनुभवमूलक है। पंचम मेडीटेशन में सर्वथा भिन्न प्रकार के प्रमाण दिये गए हैं। इस मेडीटेशन में ही डेकार्ट सत्तामीमांसीय युक्ति (ओंटोलोजीकल आर्गूमेंट) प्रस्तुत करते हैं।

मेग्नस ने इस लेख में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि पांचवीं मेडीटेशन में डेकार्ट ने तीसरे मेडीटेशन की युक्ति को ही आगे बढ़ाया है। दूसरे, डेकार्ट का ईश्वर की सत्ताविषयक प्रमाण विचार-क्रिया तथा अस्तित्व के अभेद पर और विचारों की अपूर्णता पर निर्भर करता है।

डेकार्ट के अनुसार, विचार-कर्त्ता में निहित सब प्रत्ययों का कोई कारण होता है जिसके ये कार्य होते हैं और इससे जुड़ा उसका यह सिद्धान्त है कि कारण में कम से कम उतना सत् का अंश होता है जितना कार्य में। अब, इससे वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि जबकि आगन्तुक और भ्रान्त प्रत्यय सीमित विचार-कर्त्ता के कार्य हो सकते हैं, ईश्वर का प्रत्यय इस प्रकार नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रत्यय की अन्तर्वस्तु असीम और पूर्ण है और परिणामतः इसका कारण भी असीम और पूर्ण विषय ही होगा। सीमित द्रव्य केवल सीमित का ही प्रत्यय उत्पन्न कर सकता है, असीमित का नहीं। इस प्रकार असीमित का प्रत्यय असीमित द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है। इतना ही नहीं उसके अनुसार स्वयं मेरी अपूर्णता का बोध पूर्ण की विद्यमानता को सिद्ध करता है। इससे डेकार्ट का निष्कर्ष है कि स्वयं उसके अपने अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि पूर्ण का, ईश्वर का, अस्तित्व हो।

पांचवें मेडीटेशन में प्रस्तुत तर्क पिछले तर्कों से बहुत भिन्न प्रतीत होता है। उनके अनुसार, अस्तित्व ईश्वर का एक अनिवार्य धर्म है जो उसकी पूर्णता से आपादित होता है। त्रिकोण का अस्तित्व उसके प्रत्यय के लिए अनिवार्य नहीं है, किन्तु डेकार्ट के शब्दों में, "यह मेरी शक्ति में नहीं है कि मैं पूर्ण को अस्तित्व के बिना सोच सकूं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे मेडीटेशन में डेकार्ट ने प्राविधिक सन्देह के द्वारा सब कुछ का निरास कर देखा कि विचारकर्त्ता का निरास नहीं किया जा सकता। इस बात को सत्ता-मीमांसीय पदावली में कहें तो कहा जायगा कि कम से कम एक वस्तु का अस्तित्व है और यह वस्तु विचारात्मक द्रव्य है। डेकार्ट के इस बाद के विमर्श में यह खोजने का प्रयत्न है कि इस द्रव्य के अतिरिक्त और किस चीज़ का अस्तित्व हो सकता है। इस सन्दर्भ में ही डेकार्ट के विचारकर्त्ता द्रव्य की अन्तर्वस्तुओं की अवधारणा तथा यह स्थापना कि कारण का कार्य के लिए पर्याप्त होना अनिवार्य है, विशेष महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। विचार-क्रिया (कोजिटो) सदोष और अपूर्ण हो सकती है और परिणामतः देश-कालात्मक विषय केवल भ्रम हो सकते हैं, अपूर्ण विचार-क्रिया अपर्याप्त प्रत्ययों का पर्याप्त कारण हो सकती है। इसीसे पूर्णता का प्रत्यय विचारक द्रव्य से उत्पन्न नहीं हो सकता।

यहाँ यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि अपूर्ण विचारकर्त्ता और अस्तित्व का अभेद मान लेने पर और यह मान लेने पर कि पूर्णता का प्रत्यय मानसिक नहीं है, यह अनिवार्यतः आपादित होता है कि सत्ता के एक अन्य आयाम का भी अस्तित्व है। मेग्नस के अनुसार, यद्यपि यह सही है कि डेकार्ट ने अस्तित्व को पूर्ण का एक अनिवार्य विधेय कहा है, किन्तु तीसरे मेडीटेशन में विचारकर्त्ता में पूर्णता के प्रत्यय के होने का आकलन करने के लिए एक अमानसिक द्रव्य लाया गया है। ईश्वर की सत्ता विषयक यह युक्ति वास्तव में विचारकर्त्ता को उसकी अपनी सीमा से मुक्त करने का प्रयत्न है। किन्तु पूर्णता का प्रत्यय वास्तव में विचारकर्त्ता को पूर्ण का अनुषंगी बना देता है : "यदि मुझे पूर्ण का प्रत्यय उपलब्ध नहीं हो तो मैं किस प्रकार जान सकता हूँ कि मैं सन्देह, इच्छा आदि करता हूँ, कि मैं अपूर्ण हूँ, क्योंकि मैं अपनी अपूर्णता को पूर्ण के साथ तुलना से ही जानता हूँ।"

उपर्युक्त के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पांचवें मेडीटेशन के सत्ता-मीमांसात्मक तर्क की आधारशिला तीसरे मेडीटेशन में ही रख दी गई थी। क्योंकि पूर्ण सत्त्व (पर्फेक्ट बींग) के अस्तित्व के बिना उसका प्रत्यय केवल मानसिक विकल्प होता और इस प्रकार अपूर्ण की कृति होता। इस प्रकार, मेग्नस के अनुसार, पांचवें मेडीटेशन में ईश्वर के अस्तित्व के लिए प्रमाण तीसरे मेडीटेशन के अनुरूप है और यदि यह प्रतिपादन सही है तो यह प्रमाण इस कांटीय अभ्युक्ति (डिक्टम)का उल्लंघन नहीं करता कि "अस्तित्व" एक विधेय नहीं है।

डेकार्ट के ईश्वर विषयक प्रतिपादन को प्रस्तुत कर देने के बाद मेग्नस उसकी आलोचना करते हैं। उनके अनुसार पूर्ण की अपूर्ण पर आश्रितता का प्रत्यय या तो तार्किक अनुपपत्ति (रिडक्श्यो एड् एब्सर्डम) की ओर ले जाता है, अथवा इसके द्वारा कोजिटो से सीधे विस्तारवान् द्रव्य पर जाया जा सकता है। उसके लिए ईश्वर के माध्यम की आवश्यकता नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेकार्ट ने कोजिटो की अपूर्णता और अपुष्टता को पूर्णता को सिद्ध करने के लिए आधार बनाया। अब, यदि ईश्वर के विशेषण उसके अस्तित्त्व की सिद्धि के लिए पर्याप्त हैं तो वही बात विस्तारात्मक द्रव्य के लिए क्यों नहीं कही जा सकती ? मेगनस की उपर्युक्त आपत्ति का आशय यह है कि यदि पूर्ण के सत्त्व के बिना पूर्णता का प्रत्यय नहीं हो सकता तो उसी प्रकार विस्तारवान् सत्त्व के बिना विस्तार का प्रत्यय भी नहीं हो सकता। उसके अनुसार, जितना पूर्णता के प्रत्यय के लिए पूर्ण सत्त्व का अस्तित्त्व आवश्यक है उतना ही किसी भी प्रत्यय के लिए आवश्यक है कि उसकी अन्तर्वस्तु के अनुरूप सत्त्व भी हो।

डेकार्ट तथा चैतन्य का देहीकरण

जेम्स एम० एडी

एडी के अनुसार, डेकार्ट के दार्शनिक के रूप में महत्त्व के सम्बन्ध में आधुनिक दार्शनिकों में गहरा मतभेद है। एक ओर एयर के समान दार्शनिक हैं जो उसे दर्शन से अल्प परिचित मानते हैं और दूसरी ओर हुस्सर्ल आदि हैं जो उसे आधुनिक युग का प्रवर्त्तक दार्शनिक मानते हैं और अपने दर्शन को उसकी उद्‌भावनाओं से सम्बन्धित करते हैं।

एडी के मत में, यद्यपि डेकार्ट ईश्वर तथा आत्मा की अमरता को सिद्ध करना अपने दर्शन का प्रयोजन मानते हैं किन्तु वास्तव में उन्होंने आत्मा की अमरता को सिद्ध करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। एडी के अनुसार, वास्तव में मध्ययुगीन ईसाई दार्शनिक आत्मा की अमरता को तर्कतः सिद्ध नहीं कर पाए। अपने इस कथन के समर्थन में वे ऑगस्तीन, एन्स्लम और ओक्खाम आदि से उद्धरण देते हैं।

एडी के कथनानुसार, डेकार्ट इस परम्परा में अपने को इससे विच्छेद के लिए ही रखते हैं। डेकार्ट-दर्शन का मूल स्वर, उसकी गणितीय विधि के बावजूद, अनुभव को प्रतिष्ठा देना है। यद्यपि डेकार्ट प्रत्ययवादी थे और वे गणितीय निगमन-विधि को दर्शन के लिए भी आदर्श मानते थे, किन्तु उनके निगमन जिन प्रथम स्वयंसिद्धों से आरम्भ होते हैं वे "स्पष्ट तथा विविक्त प्रत्यय" हैं जो आन्तर प्रत्यक्ष (प्रातिभ-इन्ट्यूशन) से प्राप्त होते हैं। आंतर प्रत्यक्ष के आधार के बिना स्वयं निगमन उतने ही सन्देह-विषय और अतएव निरास्य हैं जितने गोचर विषय। इस प्रकार उनका सन्देह सब निर्णयों का आन्तर प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव करता है।

यह भी सर्वविदित ही है कि डेकार्ट के सर्वग्रासी सन्देह से एक तो विचारवान् द्रव्य बचा और दूसरा विस्तारवान् द्रव्य। उसके दर्शन में दोनों द्रव्य परस्परानपेक्षी हैं। परिणामतः डेकार्ट और उसके अनुयायिओं के लिए चेतना और संसार के बीच की खाई पाटना एक असाध्य समस्या बनी हुई है। किन्तु इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है कि डेकार्ट के अनुसार मानव-चेतना के लिए मन और भूत तथ्यतः संयुक्त हैं। चतुर्थ वर्ग की आपत्तियों का उत्तर देते हुए वे कहते हैं : "यद्यपि मन और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर के स्वरूप पर पृथक्-पृथक् विचार करते हुए हम इनमें कुछ भी सामान्य नहीं पाते किन्तु जैसाकि मैंने छठी मेडीटेशन में दिखाने का प्रयत्न किया है, इससे यह निष्कर्ष निकालना अयुक्त है कि मनुष्य केवल चैतन्य है और वह शरीर का उपयोग करता है, क्योंकि इसी मेडीटेशन में मैंने जहाँ यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि ये दो सर्वथा भिन्न तत्त्व हैं वहीं यह भी दिखाया है कि मन शरीर से तथ्यतः संयुक्त है।" दूसरे शब्दों में, मन और शरीर प्रत्ययात्मक रूप से पूर्णतः स्वतन्त्र हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ये एक-दूसरे से तथ्यतः भी स्वतन्त्र हैं, अथवा हो सकते हैं।

डेकार्ट का सुव्यक्त तथा स्पष्ट प्रत्ययों का सिद्धान्त भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि ऐसे प्रत्यय उनके लिए असंदिग्ध प्रमाण हैं। एडी प्रश्न करते हैं कि इस प्रामाण्य का क्या आधार है और इन प्रत्ययों की स्थिति कहाँ है ? और उत्तर देते हैं कि, चेतन अनुभव में, मन में। वह चैतन्य अनुभव सब सत्य का निस्सन्दिग्ध तथा आत्यन्तिक स्रोत तथा पर्याप्त हेतु है।

एडी के अनुसार, डेकार्ट की यह स्थापना उसे सम्पूर्ण प्राचीन दर्शन से अलग कर देती है और इस बात का उसे ज्ञान था। ग्रीक दर्शन में "आत्मा" (सोल) जीव का पर्याय है। यही धारणा हमें मध्ययुगीन दर्शन में भी मिलती है। डेकार्ट ने पहली बार आत्मा की इस अवधारणा को छोड़ा। उसका "मन" जीव या प्राण नहीं है, क्योंकि यदि मैं अपनी चेतना हूँ तो मैं अपना प्राण या शरीर-क्रिया नहीं हो सकता, क्योंकि मेरा प्राण या शरीर-क्रिया चेतना से सर्वथा स्वतन्त्र क्रियाशील रहती है। डेकार्ट के लिए आत्मा विशुद्ध रूप से विचार-क्रिया है—व्यक्तिगत, चैतन्य अनुभव का यथार्थ। इस प्रकार डेकार्ट के स्वयं के कथन के बावजूद, चैतन्य द्रव्य की बात उसके दर्शन के प्रतिकूल है। हुस्सर्ल के अनुसार, डेकार्ट ने दूसरे मेडीटेशन में "अतिक्रामी विषयिता" का, अर्थात् ऐसे शुद्ध तथा निरपेक्ष आनुभव क्षेत्र का, जिसमें कि सत्त्व (बींग) चेतना को अपने विषय के रूप में प्रदत्त होता है, प्रतिपादन किया है।

निष्कर्ष यह कि, डेकार्ट के अनुसार चेतना का शरीर-धारण चेतना का अनिवार्य तथा प्रामाणिक अनुभव है और इसलिए एक मात्र प्रमाण आत्मा का अपना आंतर अनुभव है। हेनरी गौहीर के शब्दों में, "यह कहना ठीक नहीं है कि डेकार्ट ने आत्मा को एक ओर रखा और शरीर को दूसरी ओर, बल्कि उसके लिए एक ओर शरीर की चेतना से युक्त मन है और दूसरी ओर शरीर का वह सत् है जो अपने सम्बन्ध में अवगति का अतिक्रमण करता है। यह पार्थक्य वास्तव में केवल उस व्यापकतर पार्थक्य का अंग है जो भौतिक विश्व के अनुभव से संयुत आत्म के तथा मेरे अनुभव का अतिक्रमण करने वाले भौतिक विश्व के बीच है।

किन्तु डेकार्ट में अनुभव-कर्त्ता विषयी और अनुभव (संवेद, कल्पना, अनुभूति, इच्छा आदि) में कोई अन्तर नहीं है। यह भेद हुस्सर्ल ने किया और चेतना के विषयापेक्षा-सिद्धान्त के रूप में मन और विश्व के दो ध्रुवों को विश्लिष्ट किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे शब्दों में, डेकार्ट में जबकि आत्म आत्मावस्थित है और आत्म का आन्तरबोध विश्व के ज्ञान का आधार है, हुस्सर्ल और सार्त्र में चैतन्य अथवा आत्म विश्व के माध्यम से अपने को प्राप्त करता है। किन्तु तब भी, "आइडियाज़" में ऐसे बहुत से स्थल हैं जिनमें हुस्सर्ल के विषयापेक्षी चैतन्य के विवेचन में डेकार्ट का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। हुस्सर्ल चैतन्य-क्रिया (कांश्यस एक्ट) को प्रकृति से पृथक् क्षेत्र के रूप में स्थापित करते हैं। किन्तु वे इस बात में डेकार्ट से आगे जाते हैं कि वे प्रकृति को चैतन्य-सापेक्ष, तन्निर्भर और आगन्तुक रूप में देखते है जबकि चैतन्य पूर्णातिक्रामी (ट्रांसेंडेंट), प्राकृतिक सत्ताओं की दृष्टि से निरपेक्ष और अनिवार्य है और इन सत्ताओं का अपनी आन्तरप्रज्ञा में सृजन करता है।

हुस्सर्ल विषय-जगत् (फिनोमिना) की फिनोमिनलोजिकीय अवधारणा द्वारा डेकार्ट से इस बात में आगे गये कि वे विशुद्ध चैतन्य के अतिक्रामी क्षेत्र के अन्तर्गत विषय की रक्षा कर सके। यह उन्होंने विषय में सत्तामीमांसीय विश्वास के स्थगन द्वारा किया। किन्तु सत् का अनुभूत सत् में अन्तर्भाव करने पर स्वलक्षण सद्-विश्व की समस्या रह ही जाती है। सार्त्र इस समस्या को **बींग एण्ड नथिंगनेस** में इस प्रकार उठाते हैं : "सत्व तथा चैतन्य के बीच, जोकि अन्यथा परस्पर पूर्णतः स्वतन्त्र क्षेत्र हैं, द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध क्या है?" इस समस्या का हुस्सर्ल द्वारा प्रस्तुत समाधान यह है कि चेतना के विश्वोन्मुख होने के दो रूप हैं (१) शरीर में अवतरण द्वारा और (२) इन्द्रिय-गोचरता (पर्सेप्शन) द्वारा, और डेकार्टीय परम्परा का अनुसरण करते हुए वे मानते हैं कि प्रथम दूसरे पर निर्भर है। हुस्सर्ल यह कहीं स्पष्ट नहीं करते कि शरीर चैतन्य में रचित अन्य भौतिक विषयों के समान है, यद्यपि वे इसके विपरीत भी नहीं कहते। हुस्सर्ल के इस मौन में निहित दो दिशाओं में से एक को आगे सार्त्र ने ग्रहण किया और दूसरी को मार्ल्यू पोंती ने।

एडी के अनुसार सार्त्र की चेतना निरतिशय अपवारणात्मक है। वह न केवल गोचर विषयों का ही अपने से अपवारण करती है बल्कि अपने शरीर को, यहाँ तक कि मानसिक प्रक्रियाओं तक को, अपवारित कर देती है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि क्या इस प्रकार के निरपेक्ष चैतन्य को आत्म कहना उपयुक्त है? हुस्सर्ल डेकार्टीय परम्परा के अनुसार इसका उत्तर स्वीकार में देते हैं और सार्त्र निषेध में। सार्त्र चेतना का एक निरात्मवादी सिद्धान्त देते हैं जोकि चेतना के विषयापेक्षिता के सिद्धान्त का ही आत्यन्तिक फलन है : विषयापेक्षी चैतन्य आत्म का भी विषयरूप में ही आक्षेप कर सकता है और इस प्रकार विषयों में पूर्णतः निश्शेष होकर स्वयं एक रिक्तता मात्र के रूप में बच रहता है।

कहा जा सकता है कि सार्त्र अपनी फिनोमिनलोजिकीय सत्तामीमांसा में उन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं जिनके लिए डेकार्ट और हुस्सर्ल टटोल रहे थे। सार्त्र डेकार्ट की अपेक्षा बहुत स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करते हैं कि चैतन्य अपने शरीर को विषया-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पेक्षा द्वारा विषय रूप में प्रतिष्ठित करता है जोकि विशुद्धतः निर्देशात्मक अर्थ में (डिनोटेटिवली) "अपना" है, क्योंकि आत्म स्वयं विषय होने से इसका स्वामी नहीं हो सकता।

सार्त्र का मत हुस्सर्ल के सिद्धान्त के आपादनों (इम्प्लीकेशन्स्) का ही स्फुट रूप होने पर भी हुस्सर्ल ने इन अतिवादों का प्रतिपादन नहीं किया। हुस्सर्ल न केवल चेतना के "आत्म पक्ष" को अनुभव-वैविध्य का व्यवस्थापक ही मानते हैं बल्कि वे आत्म को अद्वितीय और व्यक्तिलक्षण भी मानते हैं। **कार्टेशियन मेडीटेशन्स्** में हुस्सर्ल ने **आइडियाज़्** की अपेक्षा कहीं अधिक आत्म के शरीराधिष्ठान की समस्या पर ध्यान दिया है। उनके अनुसार, संसार में कम से कम एक ऐसा विषय है जो वास्तव और गोचर है किन्तु जो तब भी मात्र भौतिक विषय नहीं है। यह मेरा सप्राण शरीर है। "अपना शरीर" होने का यह अनुभव चेतना के लिए अनुभव के सम्पूर्ण क्षेत्र में विलक्षण है। इस प्रकार हुस्सर्ल के लिए चैतन्य आन्तरशून्य नहीं है बल्कि "जीवन", "काल" तथा "स्थान" से आपूरित है। किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि आत्म के भीतर संरचनाओं की विद्यमानता आपादित करती है. कि आत्म शुद्ध अनुभव के अतिक्रामी क्षेत्र में अपने को विषय रूप में पाये और इसके लिए हुस्सर्ल अनुभव के आदिम स्तर और तदोत्तरवर्ती स्तरों में भेद करते हैं। प्रथम स्तर पर आत्म शुद्ध विषयीरूप होता है और उत्तरवर्ती स्तरों पर यह अपने को अपने विषय के रूप में संरचित करता है।

अब हमारे लिए अन्तिम प्रश्न है कि हुस्सर्ल कहाँ तक उससे आगे गये हैं जहाँ उन्होंने डेकार्ट को पाया ? इसका सम्यक् और संक्षिप्त उत्तर होगा कि वे इससे मौलिक रूप से आगे नहीं बढ़े हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि डेकार्ट या हुस्सर्ल को द्वैतवादी शिविर में रखा जाय, जिसमें कि सार्त्र निश्चित रूप से हैं। किन्तु उनका दर्शन एक कठिन प्रश्न प्रस्तुत करता है, कि क्या कोई दर्शन, जो अनुभव में एक मूलगामी अन्तर्भाव को लक्ष्य कर चलता है, अपनी सीमाओं में रहते हुए चेतना के शरीराधिष्ठान की समस्या का समाधान कर सकता है ?

एक ओर हम चेतना को संसार में सर्वतः व्यस्त देखते हैं—ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों, संवेदनाओं और आवेगों के रूप में, और विचारों को ध्वनियों अथवा लिपि-चिह्नों के माध्यम से व्यक्त करने की अनिवार्य बाध्यता के रूप में, आदि। पोंती ने इस समस्या को इस दृष्टिकोण से ही देखा है। दूसरी ओर हुस्सर्ल, एडिथ स्टीन और सार्त्र आदि हैं जो देखते हैं कि अनुभव का अपना एक विशिष्ट क्षेत्र है जिसकी अपनी संरचनाएँ, अपने नियम तथा अपना सत् है। इससे स्पष्ट है कि यदि फिनोमिनलोजी का पूर्ण आलोड़न किया जाय तो द्वैतवाद का पलड़ा अद्वैतवाद की तुलना में अधिक भारी रहेगा।

पुरुष तथा उसका शरीर

पीटर ए० बर्टोकी

बर्टोकी के अनुसार, डेकार्ट सन्देहवादी नहीं थे, वे केवल विज्ञान तथा दर्शन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए ऐसे आधारों की खोज करना चाहते थे जो आत्यन्तिक रूप से निस्सन्दिग्ध हों। इसी अनुसन्धान के प्रसंग में उन्होंने पाया कि उनका स्वरूप शुद्ध रूप से विचारात्मक है और यह तथ्य निस्सन्दिग्ध है। इससे यह भी आपादित होता है कि शरीर आत्म से बाह्य और अतएव संदिग्ध है। किन्तु तब भी वे "पूर्ण मनुष्य" में मन और शरीर को संयुक्त मानते हैं, जोकि दो पृथक् द्रव्यों के रूप में परस्पर संयुक्त हैं। यद्यपि मनोवैज्ञानिक रूप से यह अकल्पनीय लगता है कि मन और शरीर परस्पर वियुक्त हों और मैं अशरीरी होऊँ, किन्तु डेकार्ट की प्राविधिकता का प्रयोजन ही प्रामाण्य को मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ से निकाल कर शुद्ध तार्किक सन्दर्भ में प्रतिष्ठित करना था।

बर्टोकी के अनुसार, जो ठोस तथ्य डेकार्ट को मन और शरीर को पृथक् करने की ओर प्रेरित करता है वह यह है कि "शरीर की अवधारणा में कुछ ऐसा नहीं है जो मानसिक हो और न मन की अवधारणा में ही कोई ऐसा घटक है जो शरीरात्मक हो।"

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि डेकार्ट द्रव्य का अव्यवहित ज्ञान सम्भव नहीं मानते थे। उनके अनुसार द्रव्य वह है जिसमें गुण अध्यस्त रहते हैं। इस प्रकार बर्टोकी के अनुसार, "पूर्ण मनुष्य" से उनका अर्थ होगा ऐसा द्रव्यात्मक सायुज्य जिसमें मन और शरीर, जो स्वयं भी पूर्ण द्रव्य हैं, अध्यस्त होते हैं। डेकार्ट की "पूर्ण मनुष्य" की अवधारणा में इन दो द्रव्यों के सायुज्य की अनिवार्यता उनकी "पैश्यन" की अवधारणा से देखी जा सकती है। पैश्यन (वासना) का स्रोत हमारी अन्तरात्मा नहीं है, जिस प्रकार इच्छाओं, संकल्पों आदि का है। यद्यपि आत्मा को वासनाओं के अवगमन में भ्रम नहीं हो सकता, क्योंकि ये उसके इतने निकट और आन्तरिक हैं कि उनका उनके स्वरूप से भिन्न रूप में ग्रहण असम्भव है। किन्तु तब भी उन्हें स्पष्ट संज्ञान (कोग्नीशंस्) भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे मन और शरीर की अन्योन्य क्रिया के परिणाम हैं।

मार्सल, पोंती तथा रिक्यूर की प्रतिक्रिया

मन-शरीर की अन्योन्य क्रिया की एक दुर्निवार समस्या यह है कि दो सर्वथा विदेशी द्रव्य दूसरे से प्रभावित हुए बिना किस प्रकार एक–दूसरे पर क्रिया कर सकते हैं? मन और भूत द्रव्यों में कोई भी सामान्य धर्म नहीं है, तब वे किस प्रकार परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया कर सकते हैं?

इस डेकार्टीय द्वैतवाद का अस्तित्ववादियों–फिनोमिनलोजीवादियों ने विरोध किया और एक क्रियात्मक-अस्तित्वात्मक द्वैतवाद का प्रतिपादन किया। गेब्रिअल मार्सल के शब्दों में·········"यह शरीर क्या है, जिसका मैं एक-साथ स्वामी और दास हूँ? क्या मैं मूर्ख हुए बिना इसे उस विशाल विदेशी साम्राज्य को समर्पित कर सकता हूँ जो मेरे ग्रहण का, अवगमन का, अतिक्रमण करता है? किन्तु न मैं इसका विषयी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गत क्षेत्र में ही समावेश कर सकता हूँ, जिसमें कि मेरी इच्छा सर्वशक्तिमान है और इस क्षेत्र की किसी भी वस्तु का निरोध कर सकती है। यह कहना कि मैं अपने शारीरिक परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी हूँ, उतना ही सत्य लगता है जितना इसका निषेध करना : मुझे ये दोनों कथन समान रूप से सत्य लगते हैं और दोनों समान रूप से उपहासास्पद लगते हैं।" (बींग एण्ड हेविंग)

बर्टोकी डेकार्टीय द्वैतवाद की आगे व्याख्या करते हुए कहते हैं कि, डेकार्ट के कोजिटो की सीमितता और अपूर्णता अनात्म की मनोवैज्ञानिक और तार्किक दोनों प्रकार की प्रामाणिकता को सन्दिग्ध बना देती है। इसके लिए ईश्वर की श्रेयोमयता का आश्रय लेना आवश्यक था जिससे मन के लिए संसार विदेशी होते हुए भी विरोधी और उससे असंवादी नहीं हो।

बर्टोकी के अनुसार, जब मनुष्य के ज्ञानात्मक प्रयत्नों को जीवन में एक निर्णायक महत्त्व नहीं दिया जाता तब भी इस विश्वास के लिए आधार पाने की समस्या रह ही जाती है कि मनुष्य की इच्छाएँ और आशाएँ उस विश्व के साथ समरस हैं जिसमें कि ये अपने को पाती हैं। इस समस्या के डेकार्टीय-कांटीय समाधान के प्रति अस्तित्ववादी-फिनोमिनलोजीवादी प्रतिक्रिया यह है कि इससे निकलने का एकमात्र उपाय इसमें नहीं पड़ना है।

इसके पश्चात् बर्टोकी मार्सल से कुछ उद्धरण देकर उसके विचार का निष्कर्ष देते हैं: विषयी के रूप में मुझे यह आश्वासन है कि मैं अपना शरीर हूँ (शरीर-युक्त आत्मा नहीं)। मेरा शरीर एक उपकरण नहीं है जिसके द्वारा मैं बाह्य विषय के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करता हूँ। अब, यदि "मैं मेरा शरीर हूँ" प्रतिज्ञप्ति डेकार्ट के कोजिटो का रूप सर्वथा बदल देती है तो यह "शरीर" का अर्थ भी सर्वथा बदल देती है। यदि "मेरे शरीर" का अन्तर्भाव "देशात्मक वस्तु" में किया जा सके जो निश्शेष रूप से विषयनिष्ठ विज्ञान द्वारा परिभाष्य है, तो इस कथन को क्या अर्थ दिया जा सकता है कि "मैं मेरा शरीर हूँ ?" (इसको अर्थ देने के लिए शरीर का अविषयकरण आवश्यक है जिससे यह विज्ञान के उन अध्ययनों के लिए अगम्य हो सके जो वह देशात्मक विषयों के सम्बन्ध में कर सकता है।) मार्सल संसार के साथ मेरे सम्बन्ध को "शरीराधिष्ठान" के द्वारा परिभाषित करते हैं। किन्तु इसका आशय पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। डेकार्ट प्रश्न कर सकते हैं कि क्या शरीराधिष्ठान देशात्मक नहीं है, जिस प्रकार आशा, प्रेम, विश्वास आदि नहीं हैं ? यदि हैं तो "शरीराधिष्ठान" "संयुक्तता" से अधिक क्या हो सकता है ? मार्सल का उत्तर होगा कि संसार में सहभाग लेने के रहस्य के सन्दर्भ में शरीराधिष्ठान मनुष्य की एक ठोस मूलितता है। दूसरे शब्दों में, डेकार्टीय विश्लेषण सहभाग लेने के तथ्य का आकलन नहीं करता।

डेकार्ट ने राजकुमारी ऐलिजाबेथ के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा था कि मन और शरीर की अन्योन्य क्रिया को दो भौतिक वस्तुओं की अन्योन्य क्रिया के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान नहीं देखना चाहिए। किन्तु इससे वे एक नई दिशा में अग्रसर होने के बजाय इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मन-शरीर के द्वैत और सायुज्य का एक-साथ विविक्त ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके लिए एक-साथ मन-शरीर को दो और एक कल्पित करना आवश्यक है। किन्तु डेकार्ट यह भी कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने में इस सायुज्य का अनुभव करता है, वह अपने को एक व्यक्ति के रूप में ग्रहण करता है जो मन और शरीर दोनों से युक्त है। संक्षेप में, डेकार्ट मार्सल से कहेंगे कि जब-तक आप यह नहीं दिखा देते कि मन और शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार की सत्ताएँ नहीं हैं तबतक आप मेरी समस्या से बच नहीं सकते। मैं आपको **रहस्यमय उपस्थिति** की बात वहाँतक समझ सकता हूँ जहाँतक वह मनोवैज्ञानिक प्रामाण्य के स्तर तक रहती है। किन्तु इससे दार्शनिक स्तर पर समाधान नहीं होता। तुम भी अन्ततः स्वामी-दास सम्बन्ध के रूप में इस समस्या को पुनः ले आते हो।

पोंती अपने अन्वेषण का आधार "प्रत्यक्षीकरण" (पर्सेप्शन) को बनाते हैं। उनके अनुसार, "प्रत्यक्षकर्त्ता मन एक शरीराधिष्ठित (इन्कार्नेटेड) मन है। सर्वप्रथम मैंने मन की जड़ें शरीर और उसके संसार में पुनः रोपित करने का प्रयत्न किया और इस प्रकार प्रत्यक्ष के उन सिद्धान्तों का निराकरण किया जिनमें प्रत्यक्ष को हमारे शरीर पर बाह्य वस्तुओं के प्रभाव का परिणाम माना गया है अथवा जिनमें चेतना की स्वायत्तता का प्रतिपादन किया गया है। (अथवा कहें) जो वस्तुकल्प शरीर पर शुद्ध, मननात्मक चेतना का अध्यारोपण करते हैं।" (पर्सेप्शन, पृ० ३१४) पोंती के अनुसार, शरीर संसार में एक विषय नहीं है बल्कि यह एक स्थान है जिस पर आत्मा एक भौतिक तथा आध्यात्मिक स्थिति ग्रहण करती है। बाह्य देश का हम शारीरिक अवस्थिति के द्वारा ग्रहण करते हैं और उसका उपकरण के समान उपयोग करते हैं। शरीर हमारे लिए उपकरण अथवा साधन से बहुत अधिक है, यह विश्व में हमारी अभिव्यक्ति है, हमारी विषयापेक्षाओं का गोचर रूप है।" (पर्सेप्शन पृ० ५)।

पोंती के मत को प्रस्तुत करने के पश्चात् बर्टोकी इस पर टिप्पणी के रूप में कहते हैं कि डेकार्ट यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि शरीर सप्राण है और यह प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया को प्रमाणित करता है, किन्तु वे विचार और विस्तार के मौलिक भेद को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं।

बर्टोकी के अनुसार, यदि हम यह मान भी लें कि शरीर का भौतिक अथवा जैविक विज्ञान की पदावली में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, और न इसे आत्म और विश्व के बीच मात्र सेतु माना जा सकता है, तब भी यह स्पष्ट है कि उनका अपना एक विशिष्ट सत्त्व है जो हमारे स्वरूप को एक-साथ व्यक्त और निरुद्ध करता है।

इसके पश्चात् बर्टोकी पॉल रिक्यूर का मत प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार, पॉल रिक्यूर ने **फ्रीडम एण्ड नेचर** में दिखाने का प्रयत्न किया है कि एक वास्तव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानव-स्थिति में स्वैच्छिक और अस्वैच्छिक (वालंट्री एण्ड इन्वालंट्री) में एक पारस्परिकता रहती है। मूलतः हम अपने को संकल्पकर्त्ता (इच्छावान्) के रूप में पाते हैं। आवश्यकता, आवेग और आदत जैसी मानव-क्रियाएँ अपने-आप में अवगम्य नहीं हैं, केवल स्वैच्छिक और अस्वैच्छिक का सम्बन्ध ही गम्य है। परिणामतः वे ऐसे आधार की खोज करते हैं जिस पर स्वैच्छिक और अस्वैच्छिक संरचनाओं के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सके और इस प्रकार डेकार्टीय द्वैतवाद का अतिक्रमण किया जा सके। उनके अनुसार, "कोजिटो के अनुभव को उसकी समग्रता में लेते हुए, उसमें "मैं चाहता हूँ", "मैं समर्थ हूँ", "मेरा विचार है" आदि का, और इस प्रकार शरीर के रूप में मेरे अस्तित्त्व का, समावेश है।" रिक्यूर डेकार्ट से भिन्न यह मानते हैं कि कोजिटो का प्रातिभ-ग्रहण (इन्ट्यूशन) शरीर की प्रातिभ-ग्रहण-क्रिया है जो इच्छा क्रियाओं से संयुक्त है। यह इच्छा इससे नियन्त्रित और इसकी नियामक दोनों है। रिक्यूर के अनुसार, "मेरा शरीर न तो विषय के समान अपेक्षा द्वारा रचित है और न अतिक्रामी विषयी के समान रचनात्मक है। यह इन विरोधी युगलों में नहीं समाता। यह अस्तित्ववान् है।"

डेकार्ट के द्वैतवाद के प्रति इस फिनोमिनलोजीवादी–अस्तित्ववादी प्रतिक्रिया पर टिप्पणी करते हुए बर्टोकी कहते हैं कि द्वैतवाद न केवल गम्भीर दार्शनिक समस्याओं को ही उत्पन्न करता है बल्कि "अव्यवहित प्रस्तुति के रहस्य" के अनुभव का भी तिरस्कार करता है। किन्तु इसका समाधान यह नहीं है कि उन भेदों की, उस मौलिक अन्तर की, उपेक्षा की जाय जोकि उतना ही प्रस्तुत है, बल्कि आवश्यकता इस बात की है कि इन भेदों से गहनतर स्तर पर इनका एकत्त्व खोजा जाय जो इन भेदों का भी आकलन करे।

× × × ×

ऊपर प्रस्तुत लेखों में डेकार्ट-दर्शन की दो ज्ञानमीमाँसात्मक प्रतिपत्तियों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार हुआ है। ये दो प्रतिपत्तियाँ आत्मज्ञान और विषयज्ञान से सम्बन्धित हैं। इनमें उनके ईश्वर-विषयक विमर्श को भी इसी प्रसंग में देखा गया है। इन प्रतिपत्तियों पर डेकार्ट का विमर्श न केवल युगप्रवर्त्तक ही सिद्ध हुआ बल्कि उनके द्वारा उठाए गए प्रश्न आज भी उतने ही विचारोत्तेजक बने हुए हैं जितने ये उनके समय में थे। इससे इन प्रश्नों के अर्थ-वैभव की विपुलता का सही अनुमान किया जा सकता है। हीन्रिख श्खोल के शब्दों में, "न केवल इन प्रतिपत्तियों से सम्बन्धित अधिकांश प्रश्न अभी सुलझाए ही नहीं गए हैं, बल्कि अनेक प्रश्न उठाए भी नहीं गए हैं।" यहाँ हम संक्षिप्त टिप्पणी के रूप में इन पर एक और दृष्टिपात करेंगे।

डेकार्ट ने प्राविधिक सन्देह द्वारा ज्ञान और प्रकृति के बीच स्थायी विच्छेद घटित कर दिया और मनुष्य को उसकी ज्ञान-वृत्ति से, विषयिता से, परिभाषित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया । इस कोजिटो के लिए शरीर ही प्रकृति का भाग नहीं है, अनुभूतियाँ और वेदनाएँ तक इससे बाह्य हैं । किन्तु ये प्रकृति हैं, यह कहना भी कठिन है । डेकार्ट ने "पूर्ण मनुष्य" में मन और शरीर दोनों को संयुक्त माना अवश्य है, किन्तु प्रश्न है कि वेदनाएँ आदि मानसिक हैं या प्राकृतिक ? इस दृष्टि से भारतीय दर्शन अधिक स्पष्ट और मूलगामी है । डेकार्ट स्पष्टतः इन्हें (अनुभूतियों आदि को) कोजिटो के अन्तर्गत नहीं मानते, किन्तु उनके अनुसार प्रकृति का धर्म विस्तार होने से, इन्हें प्रकृति के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता । उनके वासना (पैश्यन) और कल्पना (इमेजीनेशन) विषयक विमर्श एक प्रकार से मन और शरीर के बीच सान्निध्य प्रतिपादित करते हैं और इस प्रकार शरीर को प्रकृति में विशिष्टता देते हैं, "अब तक उनकी मान्यता रही थी कि आत्म का शरीर के साथ वैसा बाह्य सम्बन्ध नहीं होता जैसा मल्लाह का नौका के साथ अथवा कारीगर का उपकरणों के साथ होता है । अब उन अनुभवों का आकलन करने पर, जिनकी ओर उन्होंने पहले ध्यान नहीं दिया था—जैसे प्रकाश, गर्मी, ध्वनि आदि के संवेदों की ओर तथा अनुभूतियों और वासनाओं की ओर, उनके पास अपनी पिछली बहुत-सी मान्यताओं को सन्देह की दृष्टि से देखने के अतिरिक्त और कोई विकल्प ही नहीं रहा । यदि इन इन्द्रियानुभवों का न अकेले शरीर की अवधारणा के अन्तर्गत आकलन किया जा सकता है और न अकेले मस्तिष्क की अवधारणा के अन्तर्गत, और यदि घटना सामंजस्यवादी (ओकेज़नलिस्टिक) व्याख्या को उचित व्याख्या नहीं माना जाती, तो एकमात्र विकल्प यह बच रहता है कि इन्हें मन और शरीर की संयुक्त क्रिया का व्यापार माना जाय । परिणामतः यह मानना आवश्यक हो जाता है, जैसाकि डेकार्ट ने फादर गिब्यूफ को लिखे अपने एक पत्र में स्वीकार किया, कि भूत-द्रव्य और मन-द्रव्य में अनेक ऐसे गुण हैं जिनके बारे में हम कुछ नहीं जानते हैं ।"[3]

उनका यह विमर्श उनकी मनुष्य के संसार के बीच होने के तथ्य के आकलन-विषयक चिन्ता का द्योतक है । वास्तव में उनके दर्शन की मूल प्रेरणा भौतिक विज्ञान के निस्सन्दिग्ध आधारों की खोज थी, इसलिए वे सन्देह के द्वारा प्रकृति से निवर्त्तन और कोजिटो में आत्म के साथ यौगपद्य घटित करके भी इसे केवल एक निस्सन्दिग्ध ज्ञान की समस्या के रूप में देखते हैं और इसके बाद प्रकृति की ओर पुनः लौटने पर वे इसे शुद्ध विस्तार के स्पष्ट और विविक्त प्रत्यय में पाते हैं ।

किन्तु ये समाधान कुछ प्रश्नों को अनुत्तरित ही छोड़ देते हैं : विचार-क्रिया द्वारा आत्म अपने अस्तित्व का सहज और निस्सन्दिग्ध भावन करता है, किन्तु क्या आत्म का समग्र सत्त्व (होल बींग) विचारक्रिया का घटित होना ही है या कुछ और भी है ? यदि उसका सत्त्व यही है तब उसकी अपूर्णता का अर्थ केवल इस विचार

---

३. डेकार्ट : फिलासफीकल राइटिंग्स, अनु० कैंपस्मिथ, प्रवेश XV, माडर्न लाइब्रेरी, न्यूयार्क ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अन्तर्वस्तु की अपूर्णता ही होगा। किन्तु घटना-सत्त्व आत्म की अन्तर्वस्तु का क्या अर्थ है ? क्योंकि इसके लिए कोई भी अन्तर्वस्तु तद्वाह्य ही होगी। दूसरे, इसके लिए इच्छाओं, वासनाओं, संकल्पों आदि का क्या स्थान होगा ?

डेकार्ट में मुख्य कठिनाई यह है कि जबकि चैतन्य विचारधर्मी है और यह विचारधर्मी चैतन्य सन्देह द्वारा आत्मोन्मुख होकर आत्म-स्थित होता है, इसके आंतर निवर्त्तन का प्रयोजन आत्मस्थिति नहीं होकर भौतिक विश्व के ज्ञान के लिए निश्चित आधार खोजना है। किन्तु सन्देह द्वारा निरस्त भौतिक विश्व की पुन: स्थापना उनकी योजना में सम्भव नहीं है, इस स्थापना के लिए उन्हें घटना-संवादिता की और ईश्वर की कल्पनाओं का सहारा लेना पड़ता है। अस्तित्ववाद और फिनोमिनलोजीवाद ने इस समस्या का समाधान चैतन्य को विषयधर्मी मानकर किया। उनके अनुसार चैतन्य स्वरूपत: विषयापेक्षी है। इस अभ्युपगम द्वारा वे इनके बीच सम्बन्ध की समस्या से बच सके। किन्तु, तब आत्म का स्वरूप क्या होगा ? सार्त्र के लिए आत्म का कोई सत्त्व नहीं है, उनके अनुसार चैतन्य निरात्मक और अन्त:सारशून्य है। किन्तु तब इस दर्शन के लिए मानव-स्वातन्त्र्य एक समस्या होगी। इसका समाधान सार्त्र चैतन्य की नि:स्वभावता और निषेधात्मकता के अभ्युपगमों द्वारा करते हैं। उनका चैतन्य अपनी विषयापेक्षा को प्रकृति के निषेध (निहिलेशन) द्वारा चरितार्थ करता है। इस प्रकार उसकी विषयापेक्षा सृजनात्मक है। इसके विपरीत हुसर्ल का चैतन्य विषयापेक्षी होने पर भी नि:स्वभाव और अन्त:सारशून्य नहीं है, यह आतरवृत्ति में आत्म द्वारा आपूरित है। किन्तु यह आत्म डेकार्ट के समान आत्मस्थ नहीं है बल्कि यह आंतरवृत्ति में अपने को प्रस्तुत रूप में ही पाता है। यह स्वरूपत: अपेक्षी है, किन्तु मात्र अपेक्षीतभाव इसे सार्त्र के समान अन्त:सारशून्य बना देता। हुस्सर्ल का अपेक्षीतभाव अन्तरोन्मुख हो सकता है और इस अन्तरोन्मुखता में अपने को अपेक्षित के रूप में ग्रहण करता है।

यहाँ यह संकेत करना स्थाने होगा कि डेकार्ट और अनुगामी दर्शन का प्रयोजन विश्वोपलब्धि है और इस प्रकार यह दर्शन यूरोपीय संस्कृति की मूल प्रवृत्ति के अनुरूप ही है। इस परिप्रेक्ष्य में सांख्यीय द्वैतवाद और बौद्ध शून्यता और नि:स्वभावता पर विचार करना उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैत वेदांत के मूलाधार[1]

यहाँ मैं प्रो० के० सच्चिदानन्द मूर्ति तथा प्रो० के० रामकृष्ण राव द्वारा संपादित तथा आन्ध्र विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित कंटेंपोरेरी इण्डियन फिलासफी के चार लेखों के सारांश प्रस्तुत कर रही हूँ। पता नहीं यह पुस्तक कहाँ तक समकालीन भारतीय दर्शन का सही चित्र देती है, किन्तु अन्यथा यह बहुत ही दरिद्र है। यहाँ सारांश लिखने के लिए पुस्तक से लेखों का चयन इनके सर्वोत्कृष्ट होने से नहीं किया गया है। इस पुस्तक से लेख-सारांश यहाँ विद्यार्थियों को भारतीय दार्शनिकों से परिचित कराने के विचार से प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

—भगवती

(प्रो० बनर्जी के अनुसार, दर्शन का कार्य मनुष्य के स्वरूप को समझना और उसके आध्यात्मिक अन्वेषण में सहयोग देना है। संक्षेप में, दर्शन का उपयुक्त विषय मनुष्य है। इस दृष्टि से अद्वैत वेदान्त तथा कुछ अन्य भारतीय दर्शनों की मूल प्रेरणा सर्वाधिक समीचीन है। किन्तु अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि जबकि मानव के बंध के सम्बन्ध में समुचित है, मुक्ति की अवधारणा मनुष्य के आत्म का ही विलय कर देती है।)

प्रो० बनर्जी के अनुसार, पश्चिमी जगत् में दर्शन विज्ञान का पोषक और उपजीव्य बन रहा है और फलस्वरूप क्रमशः क्षय की ओर बढ़ रहा है। वास्तव में प्रकृतिवादी प्रवृत्ति यूनानी-रूमी जीवन-दृष्टि का ही परिणाम है। यह दृष्टि मनुष्य को अपने उस आन्तर-वैभव से वंचित कर देती है जिसकी ओर बुद्ध और ईसा हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं।

जहाँ तक पूर्व का, विशेषतः भारत का, सम्बन्ध है, यहाँ दर्शन ने संसार-वृत्ति के प्रति एक उदासीनता का रवैया उत्पन्न किया और अब यह परिस्थितिवश निर्जीवता की अवस्था को प्राप्त है। परिणामतः इसमें न तो प्राचीन आध्यात्मिक सजीवता रही है और न वैज्ञानिक-भाव का विकास ही हुआ है। दर्शन की इन दो स्थितियों के बीच कोई चुनाव करना सम्भव नहीं है, चाहे पश्चिम वैज्ञानिकता के सहारे पार्थिव

---

१. दि फाउंडेशंस् ऑफ अद्वैत वेदान्त, लेखक निकुंजबिहारी बनर्जी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समृद्धि की दृष्टि से पूर्व से बहुत आगे बढ़ गया है। सच्चाई यह है कि ये दोनों संयुक्त रूप से मानवीय संकट की स्थिति उत्पन्न कर रहे हैं।

आज जो यह विचार ज़ोर पकड़ता जा रहा है कि उपर्युक्त संकट के निवारण का उपाय आर्थिक और सामाजिक योजना तथा समृद्धि है, वह बहुत बड़े भ्रम पर आधारित है। इसलिए मानव के अस्तित्त्व की सार्थकता का अनुसन्धान सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है और अद्वैत वेदान्त तथा अन्य प्रमुख भारतीय दर्शन इसी को आधारभूत मानते हैं।

२

विदेह आत्म की बात केवल कल्पना है, यह निर्विवाद है, इसलिए अध्यात्म-साधना शरीर तथा बाह्य विश्व से असम्बद्ध नहीं हो सकती। परन्तु तब भी अध्यात्मवृत्ति तथा जगद्वृत्ति में सामरस्य, जोकि सहजसिद्ध होना चाहिये, केवल एक ऊपरी बात है, गहराई में इनमें एक आधारभूत विरोध दिखाई देता है। इस विरोध को प्रकाश में लाना आवश्यक है, अन्यथा यह दर्शन के लिए घातक हो सकता है।

ठीक बात यह है कि जगद्वृत्ति आत्म के शरीर अथवा अनात्म के साथ तादात्म्य-भाव से प्राप्त होती है। अनात्म के साथ आत्म का यह तादात्म्य बहुत सहज है। यह तादात्म्य निरन्तर अतृप्त तृष्णाओं को जागृत करता है। इस प्रकार मनुष्य में जो सहज मानवीय है वह है उसकी जैववृत्तिकता, जो उसे निरन्तर जीवन के लिए संघर्ष में नियुक्त रखती है। यही मनुष्य के साधारण जीवन का स्वरूप है, जोकि विपरीत प्रयत्नों के बावजूद ज्यों का त्यों अबाध रूप से सभ्यता के क्रम का निर्माण करता है। इस प्रकार वस्तु-स्थिति यह है कि मनुष्य की बन्ध की स्थिति, उसके आत्म-ह्रास की स्थिति, मानव-इतिहास पर जड़ बोझ के समान पड़ी है। इतिहासवाद पर यह एक बड़ी दुःखद टिप्पणी है, क्योंकि यह सिद्धान्त यह देखने में असमर्थ है कि मनुष्य का वास्तव में कोई इतिहास नहीं है; क्योंकि वह (मनुष्य) या तो उसके अनुरूप है या नहीं है, जो उसे होना चाहिए, और उसके भाव्यतः वह होने (बिकमिंग) का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता जो वह नहीं है।

३

इस प्रकार मनुष्य के वह नहीं होने से, जो उसे होना चाहिए, वह आत्मच्युत है। इस आत्मच्युति का ज्ञान उसे केवल दुःख की अनुभूति से ही होता है। बहुत से दुःख उसके अपने कर्मों के परिणाम नहीं होते। किन्तु यदि ये दुःख उसे अन्यों के साथ अव्यवहित मानव-सम्बन्धों में बंधने के कारण मिलते हैं तो यह बड़ी महत्त्वपूर्ण क्षतिपूर्ति हुई। अब यह सम्बन्ध मनुष्य को उस अवगुंठन से मुक्त कर देते हैं जो उसमें निहित मानवता को छिपाए होता है। यह बात इस सत्य की ओर संकेत करती है कि अमानवीय वासनाओं के, जोकि उसके आध्यात्मिक दुःखों की कारण हैं, निवारित हो जाने से अन्य सब दुःखों के प्रभाव स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु कोई दुःख-निवारण की बात पर सन्देह कर सकता है और कह सकता है कि दुःख एक तथ्य है और इससे आगे कुछ प्रश्न नहीं है। किन्तु यह द्रष्टव्य है कि दुःखानुभव मानव-जीवन के गहरे स्तरों से सम्बन्धित सभी तथ्यों के समान आत्म-विसंगत है। यह विसंगति इस बात में है कि दुःख का अनुभव दुःख-नाश की प्रक्रिया का आरम्भ होना है। संभवतः इसका कारण यह है कि आत्मा के अनाविल होने से दुःख का अनुभव आत्मा का धर्म नहीं है। जो भी हो, यह मानना कि दुःखानुभव आत्म-पर्याप्त रह सकता है, समस्या से बचने का प्रयत्न मात्र है जो हमें इस अनुभूति के रहस्यों से वंचित रख देता है।

दुःख से मुक्ति की कामना यद्यपि पूर्णतः लौकिक नहीं है किन्तु यह पूरी तरह आध्यात्मिक भी नहीं है। किन्तु यह कामना दुःख से संघर्ष की प्रक्रिया में आत्मा में उद्रेक उत्पन्न कर सकती है। किन्तु इस उद्देश्य-पूर्ति में इसे ऐसे मध्यस्थ की आवश्यकता होती है जो मनुष्य के बन्धन के स्तर पर उपस्थित होकर भी उसे दुःख से मुक्ति का भाव देता है। यह मध्यस्थ मानवीय सुख है। सुख के इस स्वरूप को समझना आवश्यक है, अन्यथा सुखवाद (हिडोनिज्म) की इस भ्रांति से बचना असम्भव होगा कि सुख ही परम श्रेयस् है।

स्थिति यह है कि सुख-मूलक मुक्ति पूर्ण मुक्ति नहीं है, क्योंकि इसमें दुःख की सम्भावना बनी रहती है। सुखवाद में यह एक तात्त्विक विरोधाभास है। इसके अतिरिक्त, सुखानुभूति दुःखानुभूति के समान ही आत्मतुष्ट नहीं रह सकती, क्योंकि यह अपने सातत्य और अभिवृद्धि के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है। परिणामतः यह दुःख की सम्भावना से उत्पन्न भय का ही उत्तानीकरण है। इस प्रकार सुख बद्ध मनुष्य की ही मुक्ति है, मुक्त की नहीं। यह सत्य हमें शौपेनहॉर ने प्रकाशित किया था, किन्तु पाश्चात्य दृष्टिकोण के कारण वे पूर्ण सत्य को नहीं देख सके। यह सत्य है दुःखानुभव तथा सुखानुभव का समन्वय।

पश्चिम अपने विषयनिष्ठ दृष्टिकोण के कारण यह देखने में असमर्थ रहा है कि दुःखानुभव दुःख-निरास की कामना की अनिवार्यतः अपेक्षा करता है। परिणामतः पश्चिमी दृष्टि ने इन दो अनुभूतियों को परस्पर बाह्यतः सम्बन्धित रूप में ही देखा और वह इनके एक समग्र में समन्वय की बात नहीं समझ सकी। इसीसे पश्चिमी दर्शन दो विपरीत दृष्टियों में विभक्त दिखाई देता है : एक आशावादी, जो सुख को ही परम काम्य मानती है और दुःख की सम्भावना से मुक्ति की ओर ध्यान नहीं देती, और दूसरी, जो उतनी प्रबल नहीं है, पूर्ण निराशादी है। इन दोनों अतिवादों में यह सामान्य है कि ये दुःख की सम्भावना से मुक्ति की ओर ध्यान नहीं देते।

पूर्ण मानव-स्वातंत्र्य मनुष्य के आत्म की अनात्म से, जिनमें शरीर भी सम्मिलित है, मुक्ति में निहित है। यह मनुष्य को जैविक निर्धारणों—वासनाओं तथा जीवन के लिए संघर्ष—से निर्बन्ध कर उसे उसके अपने सत्त्व में प्रतिष्ठित करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस प्रकार यह मनुष्य का पुनर्मानवीकरण-पुनर्जन्म-है। मुक्ति एक जीवन-विधि के रूप में दुर्गम और असाधारण है, किन्तु यह एक कल्पनामात्र नहीं है। इसके विपरीत, जब मनुष्य का अमानवीकरण एक असंदिग्ध तथ्य हो तब मुक्ति के रूप में उसका पुनर्मानवीकरण एक आवश्यक लक्ष्य होना उपयुक्त है।

४

यद्यपि यह ठीक है कि दर्शन का उद्भव सर्वत्र मनुष्य की बाह्य विश्व-विषयक जिज्ञासा से हुआ, किन्तु इसकी उत्पत्ति का यह संयोग इसके स्वरूप का निर्धारक नहीं होना चाहिये। इस प्रकार, भौतिक विज्ञान या गणित ही नहीं, मनोविज्ञान भी, जोकि अंततः भौतिक विज्ञानों का ही अनुयायी है, इसके स्वरूप से असंगत है। वास्तव में अस्तित्ववाद भी, मनुष्य के गुह्य स्वरूप में रुचि के बावजूद, पर्याप्त क्षतिपूर्ति नहीं कर पाता, क्योंकि यह मनुष्य के सत्व का रहस्य आशा, भय तथा उद्विग्नता में देखता है। तो भी, यह तथा मनोविज्ञानवाद स्थूल विषय-परकता से विरोध के कारण तार्किक प्रत्यक्षवाद और भाषा-विश्लेषणवाद से कम भ्रान्त हैं।

दर्शन को इस स्थायी विमोह से बचाकर इसके स्वरूप में स्थित करने के लिए हम उपर्युक्त विधि का आश्रय लेंगे और इसे अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में अति-मनोविज्ञान (मैटासाइकोलोजी) नाम देंगे। मनुष्य की मुक्ति में विश्वास के कारण इसे आधारभूत दार्शनिक अनुसन्धान भी कहा जा सकता है। जैसे अद्वैत वेदांत आदि मुख्य भारतीय दर्शन ऐसे अनुसंधान ही हैं।

५

जैसा पहले कहा जा चुका है, अद्वैत-वेदांत मुक्ति को चरितार्थ्य मानता है और इस प्रकार प्रकटतः मनुष्य इसके लिए मुख्य जिज्ञास्य है। किन्तु क्या वास्तव में ऐसा है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसके उत्तर के लिए हमें इस दर्शन के मुक्ति की सिद्धि से सम्बन्धित मूल अभ्युपगमों पर विचार करना होगा। ये अभ्युपगम हैं (१) वैश्व-भ्रम के रूप में माया का सिद्धान्त, जिसके अनुसार सब व्यष्टिताएँ भ्रम-मूलक हैं। (२) पूर्ण, अखण्ड, निर्गुण ब्रह्म का सिद्धान्त। (३) ईश्वर अथवा माया के प्रसंग में ब्रह्म का सिद्धान्त। (४) ब्रह्म के साथ जीव के अभेद की प्राप्ति के रूप में मुक्ति का सिद्धांत। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि ये अभ्युपगम मुक्ति के उस अभ्युपगम का निषेध करते प्रतीत होते हैं जिसकी पुष्टि करना अभिप्रेत है। इसके विपरीत इन सिद्धांतों की वास्तव निष्पत्ति यह है कि (१) ये मनुष्य तथा प्रकृति की कीमत पर आत्म का याद‍ृच्छिक विस्तार करते हैं तथा (२) पूर्ण मानव-स्वातन्त्र्य की चरितार्थ्यता के नाम पर ब्रह्म की पूर्णता का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु ब्रह्म के साथ अभेद केवल मनुष्य के निषेध का प्रापक है। यह मुक्ति मोक्ष-साधक को अपने को खो कर प्राप्त होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६

किन्तु अद्वैत वेदांत के प्रति न्याय करने के लिए उसमें वैयक्तिक आत्म की स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। अद्वैत मतानुसार मनुष्य का बन्ध में होना एक लक्ष्य है और अतएव दर्शन के लिए मुक्ति-विचार आधारभूत महत्त्व का है। और बन्ध आत्मा का अपनी उन उपाधियों से अभेद अनुभव करने में है जो उससे भिन्न हैं। इन उपाधियों में शरीर भी एक है जो सबसे अधिक भ्रामक है। दर्शन का कार्य आत्म-अनात्म-विवेक और आत्म-प्राप्ति की साधना है।

यहाँ एक कठिनाई है : यदि मनुष्य सहजतः बन्ध में है तो वह इसे जान कैसे सकता है ? यद्यपि यह समस्या अन्य मोक्षवादी दर्शनों (सांख्य, बौद्ध) के लिए भी है, किन्तु वेदांत के लिए यह अधिक कठिन है, क्योंकि सांख्य-बौद्ध के लिए यह दुःख-पीड़ा की आनुभव स्थिति से अनुमेय है जबकि वेदांत के लिए यह अव्यवहित रूप से प्रदत्त है।

इस सम्बन्ध में अद्वैत वेदांत का तर्क यह है कि व्यक्ति-आत्म आत्म (अस्मत्) है ही नहीं, यह केवल अहंकार है जो एक प्रकार का विषय (युष्मत्) ही है, विषयात्म (आब्जेक्टिव-सब्जेक्ट) है, जो वदतोव्याघात और अतएव भ्रम है। अब यहाँ आपत्ति है कि, प्रश्न भ्रम के होने के सम्बन्ध में नहीं है, प्रश्न यह है कि भ्रम का ज्ञान कैसे होता है ? वेदांत इस प्रश्न पर विचार करते हुए भी भ्रम की विद्यमानता और ज्ञान के प्रश्नों को मिला देता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार व्यामिश्र के बिना अद्वैत वेदांत यह प्रतिपादित नहीं कर सकता था कि अहंकार के रूप में अपना बोध अहंकार के भ्रम होने तथा अस्मत् अथवा शुद्ध ज्ञातृ-चैतन्य के सत्य होने का भी बोध है।

वेदांत की जीव के भ्रम होने की अवधारणा विषय मात्र को भ्रम मानने की सामान्य अवधारणा का अंग है। इस रूप में इसकी युक्तता योगाचार, बर्कले तथा कांट आदि से अधिक नहीं हो सकती। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि वास्तव में वेदांत की विचार-दिशा इनसे उलट है। इसके अनुसार जीव वास्तव में आदि विषय है और इसके भ्रम होने के बोध द्वारा ही विषयमात्र के भ्रम होने की सम्भावना का भान होता है।

किन्तु जीव को विषय का निदर्श (मॉडल) मानना आपादमस्तक अहंकेन्द्रिकता में डूबना है। इसके अतिरिक्त, आत्म शरीर के साथ तादात्म्य के कारण विषयभाव को प्राप्त होता है और शरीर विषयी-माध्यम के रूप में विषयात्मक है, जीव के समान विषयिपरकतया विषयात्मक नहीं। इस प्रकार जीव (व्यक्ति-आत्म) विषयता का निदर्श नहीं हो सकता। यह युक्ति वेदांत के आधारभूत सिद्धान्तों पर, जहाँ तक ये तार्किक अनिवार्यता से परस्पर बंधे हैं, कुठाराघात करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७

किन्तु वेदांत की कठिनाई तार्किक नहीं होकर एक परम वस्तुस्थिति सम्बन्धी तथा अनुषंगी वस्तुस्थितियों सम्बन्धी भ्रान्ति के कारण है। परम वस्तु-स्थिति यहाँ मानव की बंध की स्थिति है। वेदांत द्वारा इसे मूल प्रदत्त के रूप में देखना सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि इस प्रकार यह दर्शन को मानव की मूल समस्या से सम्पृक्त करता है। वेदांत की यह दृष्टि भी महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य की बंध-स्थिति व्यक्ति-आत्म विषयक भ्राति के कारण है। अब, जबकि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बंध व्यक्ति-आत्म विषयक भ्रांति का सहगामी है, व्यक्ति-आत्म को ही भ्रम मानना एक ओर स्वयं मनुष्य की अवधारणा का तिरस्कार करना है और दूसरी ओर बंध के तथ्य का निषेध करना है। यह दृष्टिकोण डेकार्ट द्वारा प्रस्तुत विपरीत दृष्टिकोण से अधिक वरेण्य नहीं है, जिसके अनुसार व्यक्ति-आत्म मूल सत्य है।

डेकार्ट के लिए व्यक्ति-आत्म अनात्म में से विश्लेषित होता है और इस प्रकार मनुष्य 'मशीन में भूत' के समान कल्पित होता है। इससे यद्यपि प्राकृतिक विश्व अक्षत रह जाता है, किन्तु मनुष्य अपने से अजनबी हो जाता है। किन्तु वेदांत इससे बहुत आगे जाता है—यह संसार को निरस्त कर और आत्म का असीम विस्तार कर विज्ञान को शून्य में और मनुष्य को अनाम-अरूपता में समाप्त कर देता है। यह सब दर्शन की अपूर्त अपेक्षाओं की ओर संकेत करता है। अपेक्षा क्रियात्मक और सैद्धांतिक दोनों है—प्रथम मनुष्य के स्वरूप-ज्ञान सम्बन्धी है और दूसरी उसके आचरण सम्बन्धी।

तत्त्व मीमांसा में आंतर प्रज्ञा का स्थान[२]

डॉ० कालिदास भट्टाचार्य ने इस लेख में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न उठाया है और उसका समाधान करने का प्रयत्न किया है। उनका प्रश्न है, बहुत बार ऐसा होता है कि हम किसी वस्तु के किसी पक्ष को, अथवा किसी जटिल संस्थान में किसी गुण अथवा आकृति को, पहले नहीं देख पाते और पीछे आंतर प्रज्ञा (रीफ्लेक्शन) के द्वारा उसे देखते हैं। इसमें ऐसा क्या घटित होता है कि वह वस्तु या गुण या आकृति अप्रकट से प्रकट हो जाती है? उदाहरणतः, हम किसी चित्र को ध्यान से देखते हैं और खोजने का प्रयत्न करते हैं कि इसमें लिखित वृक्षों के पत्तों के बीच पक्षी कहाँ है, जो हमें बताया गया है कि उसमें है? कभी वह पक्षी अकस्मात् एकाएक प्रकट हो जाता है। यदि हम यह नहीं मानें कि आंतर प्रज्ञापूर्वक देखना इस वस्तु को उत्पन्न

२. रीफ्लेक्शन इन मेटाफिज़िक्स, प्रो. कालिदास भट्टाचार्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है तो इसका अर्थ है कि वह वस्तु वहाँ मेरे देखने से स्वतन्त्र रूप से पहले से ही विद्यमान थी। किन्तु तब वह पहले मेरे देखने पर मुझे प्रकट क्यों नहीं हुई? दर्शन में और लोक-साधारण में सामान्यतः यह धारणा है कि इसका कारण देखने वाले में कोई न्यूनता अथवा उपयुक्त अभिवृत्ति का अभाव होना होता है। डॉ० भट्टाचार्य इस प्रकार के कुछ उत्तरों पर विचार कर उन्हें असंतोषजनक पाते हैं। केवल एक उत्तर को वे कुछ सीमा तक संगत मानते हैं और वह है उस विषय अथवा वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में समस्यात्मक अभिवृत्ति। जब हम किसी स्थिति को एक समस्या के रूप में देखते हैं तब हमारे सम्मुख उसके कुछ ऐसे पक्ष उद्घाटित होते हैं जो अन्यथा ध्यान में नहीं आ सकते थे। किन्तु डॉ० भट्टाचार्य के अनुसार, यह बात सब तरह के आंतर प्रज्ञात्मक ज्ञान के सम्बन्ध में लागू होती है आंतर प्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में ही नहीं। इसके लिए कुछ और भी अपेक्षित है।

२

यदि हम किसी सद्वस्तु को देखने में असमर्थ रहते हैं तो इसका निम्न में से कोई एक कारण हो सकता है :

(१) ज्ञाता में दोष है।

(२) विषय और मेरे बीच का व्यवधान इसमें बाधक है।

(३) स्वयं विषय में दोष है।

इनमें प्रथम दो स्पष्ट हैं। तृतीय का स्पष्टीकरण भट्टाचार्य जी निम्न प्रकार करते हैं : (१) हमें बताया गया है कि चित्र में लिखित वनस्पतियों में कहीं पक्षी बना है, किन्तु हम उसे साधारण प्रत्यक्ष से देख नहीं पाते, (२) परमाणु अपनी सूक्ष्मता के कारण अदृश्य है, (३) दूध में मिश्रित पानी दिखाई नहीं देता, (४) पानी में हाइड्रोजन और आक्सीजन दिखाई नहीं देते। ये बिल्कुल अलग-अलग तरह की स्थितियाँ है किन्तु चारों में विषय को देख पाने में मेरी असमर्थता विषयगत दोष के कारण है। इस विषयगत व्यामिश्र की स्थिति के लिए डॉ० भट्टाचार्य 'फ्यूयन' शब्द का प्रयोग करते हैं जबकि विषयिगत व्यामिश्र के लिए 'कन्फ्यूयन' का प्रयोग करते हैं।

इस विषयगत व्यामिश्र में विषय के अप्रकट से प्रकट होने अथवा प्रकट से अप्रकट होने के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह एक ही वस्तु नहीं होती, बल्कि एक का तिरोभाव होकर दूसरे का अविर्भाव होता है। किन्तु भट्टाचार्य जी के अनुसार, यह विषयगत अप्रकटता की धारणा में निहित कठिनाइयों से बचने का प्रयत्न मात्र है।

इस आरम्भिक विवेचन के बाद डा० भट्टाचार्य तात्त्विक (तत्त्वमीमांसा के) विषयों की चर्चा करते हैं। ये विषय देश, काल, आत्म, ईश्वर तथा परम सत् आदि हैं। अब, यह कहा जाता है कि मनुष्य का इन विषयों में एक आदिम विश्वास है। दूसरा दावा यह है कि बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा अथवा अन्य प्रयोजनों में अनुशासित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चिंतन के द्वारा हम इन तात्त्विक वस्तुओं का स्वरूप जान सकते हैं और क्रमशः यह ज्ञान एक प्रकार के अव्यवहित प्रत्यक्ष में परिणत होता है जिससे इन वस्तुओं का वास्तव स्वरूप पूर्ण विविक्त रूप में प्रकट होता है। आंतरिक रूप से अनुशासित इस प्रत्यक्ष को आंतर प्रत्यक्ष (रीफ्लेक्टिव इंट्यूशन) कह सकते हैं। तीसरे, इस प्रकार साधनात्मक अनुशासन से आंतर प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाने पर हमें कम से कम अन्यों पर इसे प्रकट करने के लिए बौद्धिक विमर्श का सहारा लेना पड़ता है।

स्पष्टतः, तत्त्वमीमांसी के लिए दूसरी विधि—आंतर प्रत्यक्ष की—ही महत्त्वपूर्ण है जिसके द्वारा वह इन वस्तुओं को इनके अन्तर्गत व्यामिश्र (फ्यूयन) से निकालकर विविक्त रूप में ग्रहण करता है। यह व्यामिश्र और विविक्तता ऊपर कहे चित्रलिखित व्यामिश्रित पक्षी के जैसे हैं, सिवाय इस अंतर के कि वह पक्षी बिना आंतर प्रज्ञा के भी अकस्मात् दीख सकता है, जबकि तात्त्विक विषय इस प्रकार नहीं ग्रहण किये जा सकते।

डॉ० भट्टाचार्य के अनुसार, तात्त्विक वस्तुओं का यह पहले ग्रहण नहीं हो पाना देखने वाले में किसी दोष के कारण नहीं है, न किसी बाहरी व्यवधान के कारण है। उदाहरणतः, यह कोई नहीं कह सकता कि जो मैं विशुद्ध द्रव्य-रूप देश अथवा काल का ग्रहण नहीं कर पाती वह मेरे में किसी दोष के कारण है। यह ग्रहण नहीं होना विषयगत व्यामिश्र के कारण ही है, जिसका अर्थ है कि इनकी खोज अव्यवहित साक्षात् (इंट्यूशन) के रूप में होती है और इनमें आरम्भिक विश्वास आदि सहायक मात्र होते हैं।

३

यहाँ डॉ० भट्टाचार्य आंतर प्रज्ञा के स्तर पर विषय की विविक्तता और उससे रहित स्तर पर उसकी अविविक्तता को विषयगत मानने पर एक और आपत्ति का उल्लेख करते हैं। आपत्ति है कि क्या व्यामिश्र से विविक्त होने का क्षण भी विषयगत ही है? आपत्ति करने वालों के अनुसार, यह अकल्पनीय है। इसलिए उनके अनुसार, यही मानना उचित है कि वस्तु सदैव स्वायत्त और विविक्त रूप में रहती है और व्यामिश्र देखने वाले में ही होता है। भट्टाचार्य जी के अनुसार, जहाँ विषयिगत दोष का अनुमान उपयुक्त भी हो वहाँ भी वस्तुस्थिति का सीधा विवरण देना अधिक उचित है। यद्यपि अनुभव का यथावत् विवरण देने में भी यह एक कठिन प्रश्न है कि अविविक्त से विविक्त होने की प्रक्रिया को क्या कहा जाय, किन्तु मेरा उत्तर होगा, यह विषयगत ही है।

किन्तु उतना ही स्पष्ट यह भी है कि यह विषयगत विविक्तता विविक्त करने की, अर्थात् आंतर प्रज्ञा की, सापेक्ष है। हमने विषय को तबतक विविक्त रूप में नहीं देखा जबतक विविक्त करने की मनस्क्रिया घटित नहीं हुई, और दूसरे, जैसे ही हम इसका अंतःप्रज्ञा में विविक्त ग्रहण करते हैं, यह विविक्त रूप में उद्घाटित हो जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इससे स्पष्ट है कि विविक्तता जैसा पूर्णतः विषयगत लक्षण भी विविक्त करने जैसे विषयिगत व्यापार पर निर्भर कर सकता है। किन्तु तब, इस निर्भरता का क्या स्वरूप है? डा० भट्टाचार्य के अनुसार, विविक्तता की विवेचक पर निर्भरता का यह अर्थ नहीं है कि विवेचन विविक्तता को उत्पन्न करता है, क्योंकि तब इसका अर्थ होगा कि व्यामिश्र को आंतर प्रज्ञा-रहित प्रत्यक्ष उत्पन्न करता है। इसका यह अर्थ भी होगा कि वस्तु स्वयं विविक्तता-अविविक्तता से अलग सत्ता है जो इन लक्षणों को धारण करती है। डा० भट्टाचार्य इस मूल वस्तु की सम्भावना पर विचार कर इसे अयुक्त बताते हुए कहते हैं कि आंतरप्रज्ञा केवल तभी विविक्तता की जनक हो सकती है यदि यह उस वस्तु की भी जनक हो, और यह हमें स्वीकार्य नहीं हो सकता।

इस निर्भरता में वास्तव में कुछ भी रहस्यमयता नहीं है। जिस तरह वस्तुओं का दायें या बायें होना, अथवा बड़ा-छोटा होना, देखने वाले पर निर्भर होने पर भी उसके द्वारा उत्पादित नहीं होता, उसी तरह विविक्तता-अविविक्तता भी उत्पादित नहीं होतीं। किन्तु यह कहा जा सकता है कि यदि विषयगत विविक्तता के साथ विषयिगत विवेचन भी अनिवार्य रूप में रहता है तब इस दूसरे से ही क्यों सन्तुष्ट नहीं रहा जाय? इसका उत्तर वे देते हैं कि, क्योंकि जीवन के प्रति हमारी साधारण अभिवृत्ति विषयोन्मुखता की है इसलिए हम चेतना तथा चेतन-क्रियाओं के होने से इन्कार नहीं करते, किन्तु ये विषयोन्मुख होती हैं और इनके परस्पर सम्बन्ध तथा भेद विषयों के माध्यम से ही प्राप्त होते हैं।

अविविक्त तथा विविक्त स्थिति में वस्तु एक ही होती है या भिन्न-भिन्न, इस प्रश्न को पुनः उठा कर वे उत्तर देते हैं कि दोनों स्थितियों में वस्तु एक ही होती है। किन्तु आपत्ति की जा सकती है कि आंतरप्रज्ञा को प्रस्तुत विविक्त वस्तु य या तो विविक्तता से भिन्न है या अभिन्न। यदि अभिन्न है तब अप्रज्ञा के स्तर पर उसका अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि अप्रज्ञा के स्तर पर य अविविक्त था। यदि य को विविक्त-अविविक्त-व्यतिरिक्त माना जाय तब इसकी विविक्त, अविविक्त दोनों स्थितियों में विद्यमानता का कोई विशेष अर्थ नहीं होगा। यहां द्रष्टव्य है कि विविक्त य ही अप्रज्ञा के स्तर पर भी था। अब आपत्ति यह है कि अप्रज्ञा के स्तर पर विविक्त य का अस्तित्व नहीं हो सकता क्योंकि उसका अर्थ होगा विविक्त य विविक्त रूप में अविविक्त रहा, जोकि स्पष्ट वदतोव्याघात है। भट्टाचार्यजो इसका समाधान करते हैं कि अविविक्त–य (य–एज़–इंडिस्टिंक्ट) तभी अविविक्त–य-विविक्त-भूत (इंडिस्टिंक्ट य–एज़–डिस्टिंक्ट) के बराबर हो सकता है यदि अविविक्त–य य+अविविक्तता के बराबर हो। किन्तु ऐसा नहीं है।

अप्रज्ञात्मक अवगति का विषय सदैव अस्फुट समग्र होता है। इस एकरूप समग्र में आंतर प्रज्ञा स्वयं य का साक्षात् ग्रहण करती है। इस य–स्वयं में तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकरूप समग्र में सम्बन्ध वैसा ही होता है जैसा मेज-आकार में तथा विशेष मेज़ों में होता है, वैसा नहीं जैसा आकार तथा आकार-रहित द्रव्य में।

४

भट्टाचार्य जी के अनुसार, तत्त्वमीमांसा के विरुद्ध गम्भीरतम आपत्ति यह है कि या तो इसकी शुद्ध वस्तुएँ आंतर प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं, केवल अनुभवगम्य हैं, अथवा ये कुछ हैं ही नहीं।

प्रथम के लिए उनका उत्तर है कि, यदि तात्त्विक वस्तुओं का अस्तित्त्व है तो फिर उनके आंतर प्रज्ञात्मक ज्ञान की सम्भावना में सन्देह का क्या आधार है ? यदि हम आंतर प्रज्ञात्मक प्रत्यक्ष से अन्य बहुत-सी वस्तुओं का ग्रहण सम्भव मानते हैं तो तात्त्विक सत्ताओं के प्रत्यक्ष को स्वीकार करने में क्या दिक्कत है ? अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि बहुत से लोगों में इनको देखने की शक्ति नहीं होती, जैसे बहुतों में शास्त्रीय संगीत के सौन्दर्य-ग्रहण की योग्यता नहीं होती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि तात्त्विक वस्तुएँ वाच्य नहीं होतीं, क्योंकि उनके सम्बन्ध में असंख्य लोगों ने चर्चा की है।

जहाँ तक अनुमेयता का सम्बन्ध है, प्रत्यक्ष के लिए अगम्य वस्तु का अनुमान भी कैसे किया जा सकता है ? यह सही है कि हम सुदूर-ग्रह की वस्तुओं के सम्बन्ध में तथा परमाणुओं के सम्बन्ध में अनुमान करते हैं। किन्तु इनमें प्रथम प्रत्यक्षगम्य वस्तुओं के अनुरूप होती हैं और उपयुक्त स्थिति में इनका प्रत्यक्ष भी सदैव होता है। दूसरी (परमाणु आदि) यद्यपि प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं किन्तु प्रत्यक्षगम्य से ही आगे कल्पना के विस्तार द्वारा गम्य हैं। अब यह कहा जा सकता है कि तात्त्विक प्रत्यक्ष कल्पना का सुदूरतम प्रसार है। इस तरह असंवेदनात्मक प्रत्यक्षता के विभिन्न स्तरों पर हम अपने साधारण ऐन्द्रिय स्तर से क्रमशः मुक्त होते हैं। किन्तु सब प्रत्यक्ष, संवेदनात्मक या असंवेदनात्मक, मूलतः एक ही स्वरूप के होते हैं, केवल इस अन्तर के साथ कि संवेदनात्मक प्रत्यक्ष भौतिक-शारीरिक सीमाओं से बँधे होते हैं और दूसरे इनसे न्यूनाधिक मुक्त होते हैं।

यह बात प्राक्कल्पना (हाइपोथिसिस) द्वारा व्याख्या में भी देखी जा सकती है। जब वैज्ञानिक किसी समस्या का हल खोजने में प्रवृत्त होता है तब उसके सम्मुख एकाएक कोई प्राक्कल्पना कौंध जाती है और वह इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। असफल रहने पर कोई दूसरा प्रत्यक्ष कौंध जाता है। यह भी प्रत्यक्ष ही है। असत्यापित आंतर प्रत्यक्ष उतना ही आंतर प्रत्यक्ष होता है जितना सत्यापित, जैसे असत्यापित ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष होता है।

अब, कोई कह सकता है कि तात्त्विक वस्तुएँ न आंतर प्रत्यक्षगम्य होती हैं और न अनुमेय, ये केवल अभ्युपगमित होती हैं—विश्व के हमारे ज्ञान को व्यवस्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिए। भट्टाचार्यजी इसका उत्तर केवल यह देते हैं कि यह उनका अतिचार है, क्योंकि वे लोग स्वयं भी कभी-कभी ऐसे प्रत्यक्ष करते हैं।

इसके पश्चात् डॉ० भट्टाचार्य ने तार्किक प्रत्यक्षवाद द्वारा तत्त्वमीमांसा के प्रत्याख्यान पर विचार किया है। उनके अनुसार, तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने कभी इस बात को देखने का प्रयत्न ही नहीं किया कि तत्त्वमीमांसी के दावे का सत्यासत्य क्या है, उन्होंने केवल अपनी एक पूर्वधारणा बना ली है कि केवल ऐन्द्रिय संवेद से ग्राह्य ही सत् है, और तब तत्त्वमीमांसी के अतीन्द्रिय संवेदनों या प्रत्यक्षों को अप्रतिष्ठित घोषित कर दिया। यह तर्क कि तात्त्विक वस्तुएँ अनुमेय नहीं हैं क्योंकि वे प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं, उलटा तर्क है, क्योंकि हम किसी चीज की अनुमेयता का प्रागनुभविक रूप से निषेध नहीं कर सकते और परिणामतः उसकी प्रत्यक्षगम्यता का भी निषेध नहीं कर सकते। कांट ने भी तत्त्वमीमांसीय वस्तुओं का प्रत्याख्यान इसी आधार पर किया कि तत्त्वमीमांसीय वस्तुएँ संवेद-गम्य नहीं हैं, जो अनुपयुक्त है। तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने उत्तरदायित्व से बचने के कुछ और भी रास्ते अपनाए; जैसे उन्होंने कहा—

(१) लोक-साधारण सत् को इसी रूप में देखता है।
(२) संवेद-गम्य दूसरों को भी दिखाया जा सकता है जबकि तत्त्वमीमांसीय वस्तुएँ नहीं दिखाई जा सकतीं।
(३) सत् की संवेदन से परिभाषा भी विश्व की व्याख्या देने में समर्थ है और यह परिभाषा तत्त्वमीमांसा की परिभाषा से इसलिए उत्कृष्टतर है क्योंकि तत्त्व-मीमांसा अधिक से अधिक पृथक्-पृथक् वस्तुएँ दे सकती है, इनकी व्यवस्था नहीं।

इसके पश्चात् डॉ० भट्टाचार्य इन आपत्तियों का एक-एक कर उत्तर देते हैं, जिनमें कोई नयापन नहीं है।

× × ×

यहाँ मैंने डॉ० भट्टाचार्य के प्रतिपादन का पर्याप्त विस्तृत विवरण दिया है। उन्होंने लेख के आरम्भ में जो विविक्तता और अविविक्तता को वस्तुगत कहा है, उसमें कुछ नयापन है, किन्तु अपने इस प्रतिपादन को वे तनिक भी सिद्ध कर पाए हैं, या कहें, विश्वसनीय बना पाए हैं, यह कहना कठिन है—क्या वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि तत्त्वमीमांसीय वस्तुएँ तो हैं किन्तु वे व्यामिश्र-स्वरूप की हैं ? किन्तु तब वे तार्किक प्रत्यक्षवादी को अपनी आंतर चक्षु का मल दूर करने को क्यों कहते हैं ? क्योंकि इनका नहीं दीख पाना दृष्टि-दोष के कारण तो है ही नहीं। तब आंतर-प्रज्ञा की इतनी चर्चा का भी क्या अर्थ है ? इस प्रकार, कम से कम मैं तो यह देखने में नितान्त असमर्थ रही हूँ कि नहीं दीखने की जिम्मेदारी वस्तु पर कैसे हुई और उस पर यह जिम्मेदारी डालने का लाभ क्या हुआ ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यात्मक प्रकथनों का स्वरूप तथा सत्यता[1]

इस लेख में देवराज जी ने दिखाने की कोशिश की है कि मूल्य विषयक भाषायी अभिव्यक्तियां भी प्रकथनात्मक होती हैं। यह दिखाने के लिए वे तथ्यात्मक भाषायी अभिव्यक्तियों के स्वरूप का विवेचन करते हैं जोकि प्रकथनात्मकता की मानदंड हैं, और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आखिर तथ्य भी उतने तथ्यात्मक नहीं होते जितने प्रतीत होते हैं और इस तरह तथ्य और मूल्य में उतना भेद नहीं है। पर तब क्या यह कहा जाय कि तथ्यात्मक भाषायी अभिव्यक्तियां उतनी प्रकथनात्मक नहीं होतीं जितना हम समझते हैं या कि यह कहा जाय कि मूल्यात्मक भाषायी अभिव्यक्तियाँ भी पूरी तरह प्रकथनात्मक होती हैं? यहाँ हम देखने की कोशिश करेंगे कि देवराज जी का क्या निष्कर्ष है।

देवराजजी के अनुसार, इधर के मूल्य-दर्शन में यह एक पूर्वधारणा-सी है कि केवल तथ्यात्मक भाषाभिव्यक्तियाँ ही प्रकथनात्मक हैं और परिणामतः वे ही सत्य या असत्य होती हैं, मूल्याभिव्यक्तियाँ नहीं। तब वे प्रश्न करते हैं कि क्या ये अभिव्यक्तियाँ अस्तित्ववान् वस्तुओं से अलग मूल्यों के अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ कथन करती हैं? इसका उत्तर वे देते हैं कि केवल तथ्यों का आख्यान (एसर्शन) ही प्रकथनात्मक नहीं होता, मूल्यों का भी होता है। इस प्रसंग में वे तथ्यात्मक और मूल्यात्मक आख्यानों में सामान्य लक्षण दिखाने के प्रयत्न में तथ्यात्मक आख्यानों की अतथ्यात्मकता का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार (१) कोई कथन शुद्ध रूप से तथ्यात्मक नहीं होते और वे निर्विवाद रूप से और पूर्ण रूप से सत्य नहीं होते, (२) तथ्यात्मक प्रकथनों की सत्यता की अंतिम कसौटी सफल क्रिया, मनस्संतोष तथा सार्वजनिक सहमति होती है, (३) तथ्यात्मक प्रकथनों की सत्यता को चुनौती एक हद तक ही स्वीकार की जा सकती है।

२

दूसरे अनुच्छेद में देवराजजी ने दार्शनिकों की याथातथ्य ज्ञान की खोज को भ्रम बताते हुए भाषा के चित्र-सिद्धान्त को अस्वीकार किया है। इस प्रसंग में उन्होंने हर्स्ट (Hirst) तथा स्ट्रॉसन के मत उद्धृत किये हैं। इनमें प्रथम के अनुसार, "तथ्य विश्व के घटक नहीं हैं" और दूसरे के अनुसार, "तथ्य सत्य कथनों के वाच्य हैं, कथनों के विषय नहीं हैं।" किन्तु देवराजजी के अनुसार, तथ्य कथनों से स्वतन्त्र होते हैं और इनका ज्ञान कथनों से पूर्वगामी होता है। उनका यह प्रतिपादन याथा-

1. नेचर एंड वेलीडिटी ऑफ वेल्यू स्टेटमेंट्स।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथ्य ज्ञान की सम्भावना के निषेध से किस प्रकार संगत बनेगा, यह देखने का कष्ट उन्होंने नहीं किया।

उनके अनुसार, किसी कथन की सत्यता और असत्यता उसके पीछे अभिप्राय से निश्चित होती है तथ्य के साथ पूर्ण अनुरूपता से नहीं। परन्तु वे इस आभिप्रायिकता के सम्बन्ध में आगे कुछ नहीं बताते। अनुरूपता के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि भाषा सत् का उस सीमा तक उद्घाटन करती है जिस सीमा तक वक्ता अथवा लेखक को उसका ज्ञान होता है और जिस सीमा तक वह इसका सफल संप्रेषण कर सकता है।

उनके अनुसार, तथ्य के कथन में अभिज्ञान (रिकोग्नीशन) का योगदान रहता है। इस तरह कथन शुद्ध वर्तमान वस्तुस्थिति का निर्देश नहीं करता। कथन की सत्यता के लिए कथन करने वाले का अवयव संस्थान तथा स्मृति ठीक होने चाहिएँ। इसके अतिरिक्त, सार्वजनिक समर्थन भी अनिवार्य है: यदि मैं किसी मेज के लाल रंग को देखती हूँ किन्तु अन्य उसका समर्थन नहीं करते तो मुझे अपनी आँखों के ठीक होने में शक होगा। इसके बाद वे प्रयोजनवाद के साथ दूसरा प्रसंग आरम्भ करते हुए कहते हैं कि "सार्वजनिक विश्व की समानता उतनी संवेदों की समानता के आधार पर निर्धारित नहीं होती जितनी क्रियाकारित्व की समानता के आधार पर होती है। इससे वे तुरन्त इस निष्कर्ष पर कूद पड़ते हैं कि "भाषा अथवा वार्तालाप का अन्तिम लक्ष्य सर्जक के रूप में मेरे जीवन को मूल्यों के सर्जन अथवा अनुभव में अग्रसर करना है। भाषा के द्वारा मैं अन्यों को सत् के उन पक्षों का संप्रेषण करना चाहता हूँ जो मूल्यों के चरितार्थन के प्रसंग में वस्तुओं के प्रयोग में सहायक होते हैं।" यहाँ यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं है कि इस निष्कर्ष का पिछले प्रतिपादन से क्या सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त, क्या तथ्य-सर्जन भी सम्भव है? यदि नहीं तो तथ्य और मूल्य में भेद वैसा ही बना रहता है। किन्तु देवराजजी के ऐसे बहुत से कथन इस लेख में दिखाए जा सकते हैं जिनसे यह आपादित होता है कि तथ्य स्वतः कुछ नहीं हैं। जैसे वे कहते हैं कि "हमारे लिए वस्तु का लक्षण उसकी कार्यसाधकता से निश्चित होता है।"

थोड़ा ही आगे वे तथ्य को परिभाषित करते हैं: "तथ्य वह है जो जनसम्मत मूल्य का उत्पादन कर सकता है। तथ्यात्मक कथन वह है जो ऐसे कथन करता है जैसे, इस प्रदेश में गर्मियों में पानी १०० सैं० पर उबलता है" आदि। यदि आप यहाँ भौंचक्के हों कि इसमें मूल्य कहाँ है तो हमारा दोष नहीं है। यह विषयनिष्ठ=सर्वजनसम्मत मूल्य क्या होता है और क्या अन्य मूल्य आत्मनिष्ठ=एक व्यक्तिसम्मत होते हैं, आदि अनेक प्रश्न यहाँ भौंचक्का करते हैं।

३

देवराजजी के अनुसार, मूल्यात्मक कथन स्वरूप से पसन्द-नापसन्दपरक होते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। एक वस्तु से दूसरी को अधिक पसन्द करने की प्रवृत्ति सब जीवों में पायी जाती है। मनुष्य में यह योग्यता अपेक्षाकृत बहुत अधिक है और इसके अतिरिक्त उसे भाषा की शक्ति भी उपलब्ध है। भाषा का प्रयोग मुख्यतः उसकी मूल्य-सर्जन की प्रवृत्ति से निर्धारित होता है। हम तथ्यों के सम्बन्ध में या तो इसलिए बात करते हैं कि हम उनके सहयोग से कुछ कार्य-सिद्ध करना चाहते हैं या वस्तुओं के सम्बन्ध में अपने प्रशंसा-अप्रशंसा-भाव में उन्हें भी शामिल करना चाहते हैं। भाषा का प्रयोग हम नये अवधारणात्मक विषयों की रचना के लिए भी करते हैं और दूसरों से अपेक्षा करते हैं कि वे इन्हें समझें और सराहेंगे।

पसन्दपरक कथन अथवा निर्णय उतने ही विभिन्न हैं जितने विभिन्न मूल्यों के प्रकार हैं। हम एक निर्मित वस्तु का उसकी तुलनात्मक कीमत, उपयोगिता और सुन्दरता के आधार पर निर्णय करते हैं। ये विभिन्न मूल्य, जो इस विषय में मूर्तित होते हैं अथवा जिन्हें चरितार्थ करने में यह विषय सहायक होता है, जीवन के जटिल ताने-बाने में एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। उच्चतर स्तरों पर ज्ञान तथ्यों का संचय नहीं हो कर प्रमाण तथा सिद्धान्त-मीमांसा का रूप ले लेता है। इसी प्रकार, साहित्य के क्षेत्र में काव्य-लक्षणों का सहज बोध, उत्कृष्ट-निकृष्ट कृति का विवेक और ब्रह्मांड, समाज तथा इतिहास-सम्बन्धी धारणाओं और अभिवृत्तियों के योगदान का ज्ञान अभिप्रेत होता है। इस तरह विज्ञान और कला दोनों में सृजनात्मक कल्पना और ग्रहणशील अनुभूति की ज़रूरत होती है।

लेखक के अनुसार, कुछ दार्शनिकों ने नीति-दर्शन का कार्य उचित और श्रेयस् की कोटियों को परिभाषित करना मानकर उचित और श्रेयस् को भी वस्तु-गुण मान लिया और संवेदवादियों ने इसी आधार पर इनकी विषयनिष्ठता का निषेध कर दिया। जी. ई. मूर ने श्रेयस् को एक सरल-अविश्लेष्य गुण माना है। ये विचारक हमारे नैतिक जीवन की इस महत्त्वपूर्ण वस्तुस्थिति की ओर ध्यान नहीं देते कि बहुत बार हमें समानरूप से श्रेयस्कर कर्मों के बीच चयन करना होता है और कभी ऐसे कर्मों के बीच चयन करना होता है जो समान रूप से कलुष हैं। इसके अतिरिक्त, हम पहले एक कार्य-प्रणाली को उचित और कर्त्तव्य मानते हैं किन्तु पीछे उससे अच्छा विकल्प पता चलने पर उसे अपना लेते हैं। किन्तु इससे पहली कार्य-प्रणाली की श्रेष्ठता समाप्त नहीं हो जाती। देवराज जी आगे इलियट को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि साहित्य में एक नवीन उत्कृष्ट कृति का आविर्भाव पहली उत्कृष्ट कृतियों के सम्बन्ध में हमारी धारणाओं को बदल देता है। नैतिक निर्णयों को विध्यात्मक, आदेशात्मक अथवा अनुप्रेरणात्मक मानने के विरुद्ध वे तर्क देते हैं कि हम प्रायः ही अन्यों में ऐसे गुणों की प्रशंसा करते हैं जिनका हम स्वयं अनुसरण नहीं करना चाहते। हम विपरीत प्रकार के गुणों की भी प्रशंसा करते हैं—जैसे सन्यास-मूलक और संसार-मूलक गुणों की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने उपर्युक्त विवेचन का समाहार करते हुए वे कहते हैं कि जब हम कहते हैं : 'मेज़ लाल है' तब हमारा अभिप्राय होता है, यह उन सब मनुष्यों को लाल दिखाई देता है जिनकी आँखें ठीक हैं। इसी प्रकार जब हम किसी कर्म को अच्छा अथवा बुरा कहते हैं तब हम सर्वसाधारण संवेदनशीलता और कल्पना से युक्त व्यक्तियों की ओर से कह रहे होते हैं। किसी चीज़ को श्रेष्ठ मानकर हम दूसरों को भी वैसा मानने के लिए प्रेरित करते हैं, आदि। तब फिर देवराजजी का उन दार्शनिकों से कहाँ मतभेद हुआ जो नीति-वाक्यों को अनुप्रेरणात्मक आदि मानते हैं ?

इसके पश्चात् देवराजजी जोह्न स्टुअर्ट मिल को उद्धृत कर कहते हैं कि प्रत्येक कर्म का अन्तिम लक्ष्य कर्त्ता द्वारा अपने सत्त्व (बींग) की कोई स्थिति सिद्ध करना होता है। जब हम किसी कविता को दूसरी से उत्कृष्टतर कहते हैं तब वास्तव में हम एक प्रतीक-व्यवस्था में व्यक्त अनुभव को दूसरी प्रतीक-व्यवस्था में व्यक्त अनुभव से उत्कृष्टतर कहते हैं। किसी कलाकृति के मूल्यांकन के सम्बन्ध में विशेषज्ञों में मतभेद हो सकता है, किन्तु ये मतभेद किसी वैज्ञानिक प्राक्कल्पना (हाइपोथिसिस) के मूल्य के सम्बन्ध में भी हो सकते हैं।

मूल्य-क्षेत्र में विशेषज्ञता की सम्भावना के सम्बन्ध में देवराजजी प्रश्न करते हैं कि क्या नैतिकता के क्षेत्र में भी यह विशेषज्ञता सम्भव है ? लेखक के अनुसार, जटिल परिस्थितियों में साधारण व्यक्ति निर्णय करने में नितांत असमर्थ होता है। ऐसी अवस्थाओं में केवल बहुत कल्पनाशील और विचारवान् व्यक्ति ही सदसद् विवेक कर सकते हैं। इन विशेषज्ञों में भी मतभेद हो सकता है, किन्तु यह मतभेद मूलभूत प्रतिमानों की अनेकता के कारण ही होगा। किन्तु हम अपने को अपने वास्तव जीवन से पृथक् कर सहानुभूतिक कल्पना द्वारा उत्कृष्टता के विभिन्न प्रतिमानों की महत्ता समझ सकते हैं। उदाहरणतः महान फ्रांसीसी उपन्यासकार तथा संगीत-आलोचक रोम्या रोलां, रामकृष्ण परमहंस तथा गोयथे के समान नितांत भिन्न व्यक्तित्वों की महत्ता की सराहना कर सके थे।

आलोचनात्मक दर्शन[1]

डॉ० चब के अनुसार, दर्शन का सबसे कठिन प्रश्न उसका अपने स्वरूप का विचार है। वास्तव में ज्ञान अथवा अनुभव की किसी भी विधा के सम्बन्ध में यह प्रश्न हो सकता है कि उसका स्वरूप क्या है—उदाहरणतः कला का स्वरूप अथवा विज्ञान का स्वरूप : किन्तु यह प्रश्न उन-उन शास्त्रों का अपना प्रश्न नहीं होगा। प्रत्येक शास्त्र की कुछ पूर्वमान्यताएँ (प्री-सपोज़ीशन्स्) रहती हैं जिन्हें कलिंगवुड

१. क्रिटिकल फिलासफी, लेखक जे. एन. चब।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरपेक्ष पूर्वमान्यताएँ कहते हैं, क्योंकि ये उस शास्त्र के द्वारा बिना आलोचना के स्वीकार की गई होती हैं। उस शास्त्र के सत्यासत्य के निर्णय का ढाँचा इन पर आधारित होता है। इसलिए ये पूर्वमान्यताएँ प्रतिज्ञप्तियाँ (प्रोपोज़ीशंस्) नहीं होतीं। इनके सत्यासत्य का विचार, आधारों के सम्बन्ध में प्रश्न, एक दूसरे शास्त्र के विषय बनते हैं और यह शास्त्र दर्शन है। मज़े की बात यह है कि दर्शन का अपने स्वरूप के सम्बन्ध में प्रश्न भी दर्शन ही के अन्तर्गत आता है, जिसका अर्थ है कि दर्शन की कोई निरपेक्ष मान्यताएँ नहीं होतीं। डॉ० चब ने इस लेख में अपने स्वरूप के सम्बन्ध में सचेत दर्शन को आलोचनात्मक दर्शन कहा है।

दर्शन में आलोचनात्मक विचार केवल निरपेक्ष पूर्वधारणाओं को ही नहीं खोजता, इसके लिए ये पूर्वधारणाएँ प्रतिज्ञप्तियाँ होने के कारण वह सत्ता-विषयक विचार भी करता है। जब दर्शन विज्ञान की पूर्वमान्यताओं को भ्रम से प्रतिज्ञप्तियों के रूप में देखता है और उनको सत्य मानता है तब वह तत्त्वमीमांसा होता है।

इस प्रतिपादन के बाद डॉ० चब कुछ उलझ जाते हैं और आत्मबाधक कथन करते हैं। उनके अनुसार सत्ता-प्रतिपादन (ओंटोलोजीकल कमिट्मेंट) का तत्त्वमीमांसीय होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणतः तार्किक प्रत्यक्षवादी इन्द्रियातिक्रामी सत् का न निषेध करता है न स्वीकार करता है, वह उसके सम्बन्ध में कथन को असम्भव—निरर्थक—मानता है। किन्तु तार्किक प्रत्यक्षवाद का यह प्रयत्न सफल नहीं हो सकता, क्योंकि वह यह सिद्ध नहीं कर सकता कि सब तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियाँ आत्मबाधक होती हैं और न यह ही सिद्ध कर सकता है कि उसका सार्थकता का सिद्धान्त सर्वत्र लागू होता है। इस प्रकार तार्किक प्रत्यक्षवाद अपने को सत्ता-प्रतिपादन से सर्वथा मुक्त नहीं कर सकता। इसलिए वह भी एक तत्त्वमीमांसा ही है। दूसरे शब्दों में, डॉ० चब के अनुसार, सत्ता-प्रतिपादन तत्त्वमीमांसा है, जबकि थोड़ा ही पहले वे कह चुके हैं कि सत्ता-प्रतिपादन आवश्यक रूप से तत्त्वमीमांसापरक नहीं होता।

डॉ० चब के अनुसार, आलोचनात्मक दर्शन के लिए मुख्य प्रेरणा दार्शनिक मतभेद का स्वरूप है। दार्शनिक लोग अपने से भिन्न मत को अयुक्त और निराधार मानते रहे हैं और उनमें निर्णय के लिए कोई कसौटी स्थिर नहीं की जा सकती। बहुत से दार्शनिकों ने दावे किये हैं कि वे एक ऐसी आधारभूत दर्शन-व्यवस्था दे रहे हैं जो विवादों को समाप्त कर देगी, परन्तु दूसरे दार्शनिकों ने उनका खण्डन कर दिया। इस प्रकार दर्शन में विश्व के उत्कृष्टतम मस्तिष्कों के नियुक्त होने पर भी इसमें कोई प्रगति नहीं हुई। इसके विपरीत, विज्ञान में हम निरन्तर प्रगति देखते हैं। इस प्रसंग में डॉ० चब स्टुअर्ट हैम्पशायर को उद्धृत करते हैं। हैम्पशायर के अनुसार, दर्शन में असली क्रान्ति जी. ई. मूर के साथ घटित हुई जिसने दर्शन को एक सर्वग्राही व्यवस्था और एक सर्वग्राही विधि के रूप में स्वीकार नहीं किया बल्कि प्रत्येक विशिष्ट प्रश्न का उसके अपने विशिष्ट स्वरूप के अनुसार विचार किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हैम्पशायर के अनुसार, आधुनिक दर्शन की नवीनता और मौलिकता इस बात में है कि यह हमें एक दूसरी विधि अथवा व्यवस्था का प्रस्ताव नहीं करता बल्कि इसके निषेध का प्रस्ताव करता है। किन्तु, डॉ० चब के अनुसार, दर्शन का यह नया रूप पिछले से कम पूर्वाग्रह-ग्रस्त नहीं है, जिस प्रकार धर्म को भ्रम मानने वाले केवल अपने ही धर्म को सत्य मानने वालों से कम पूर्वाग्रह-ग्रस्त नहीं होते। इस प्रकार डॉ० चब के अनुसार, तत्त्वमीमांसा का निषेध स्वयं तत्त्वमीमांसात्मक होता है।

डॉ० चब तब प्रश्न करते हैं कि आलोचनात्मक-दर्शन दर्शन के क्षेत्र में व्याप्त अराजकता को दूर करने में इस तरह क्यों असफल रहा है? उनके अनुसार, मूर आदि दार्शनिक इसके उपचार के रूप में प्रस्तावित करते हैं कि दर्शन को एक सार्वभौम विधि के रूप में नहीं देखना चाहिए। किन्तु यह खुद एक सार्वभौम सिद्धान्त का प्रस्ताव है। इन सब की भूल यह है कि ये दार्शनिक मतभेदों का निराकरण करना चाहते हैं, ये ऐसे स्तर पर नहीं उठ पाते जहाँ से सब मतों की यथास्थान उपयुक्तता देखी जा सके। तो, यह कैसे सम्भव है? डॉ० **चब** के अनुसार, इसके लिए सांख्य के पुरुष जैसा साक्षी-भाव ग्रहण कर दार्शनिक चिन्तन के स्वरूप को तथा अन्य दार्शनिकों एवं अपने स्वयं के दार्शनिक कर्म के प्रयोजन को देखने की आवश्यकता है। यहाँ विट्गेंस्टाइन के इस प्रतिपादन की सत्यता एक उच्चतर धरातल पर देखी जा सकती है कि दर्शन सिद्धान्त नहीं होकर क्रिया है। यह दार्शनिक क्रिया भाषाई घपलों का निराकरण नहीं है बल्कि साक्षी-चिन्तन की क्रिया है। इसे ज्ञानमीमांसात्मक अन्तरोन्मुखता भी कह सकते हैं। यह अपने चिन्तन के स्रोत और स्वरूप की स्पष्ट अभिज्ञता है, फिर चाहे जो भी स्वरूप उसका हो। विभिन्न दार्शनिकों के अन्तर्दर्शन के निष्कर्ष भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, बल्कि होंगे ही, और हमें यहाँ किसी एक सिद्धान्त अथवा विधा के आरोपण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

डॉ० चब के अनुसार, दार्शनिक चिन्तन के दो रूप हैं—रचनात्मक और आलोचनात्मक। रचनात्मक विचार एक दृष्टिकोण का प्रतिपादन और पुष्टीकरण है और आलोचनात्मक दर्शन यह देखना है कि विभिन्न रचनाएँ सम्भव हैं और इन सबकी अपनी-अपनी उपयुक्तता है। इस भेद को आगे स्पष्ट करते हुए चब कहते हैं कि रचनात्मक दर्शन पूर्वाग्रहमूलक चिन्तन होता है (यहाँ 'पूर्वाग्रह' शब्द में निन्दा की ध्वनि अभिप्रेत नहीं है)। इसके विपरीत आलोचनात्मक दर्शन बिना किसी पूर्वाग्रह के होता है, क्योंकि इसका कार्य विभिन्न पूर्वाग्रहों को उनके अपने-अपने स्थान पर समझना होता है। किन्तु दो ही वाक्यों के बाद डॉ० चब कहते हैं कि दर्शन में पूर्वाग्रह-रहित चिन्तन सम्भव नहीं है, यह विज्ञान में ही सम्भव है, उसकी पूर्वधारणाओं की बात अलग छोड़ते हुए। उनके अनुसार, वैज्ञानिक चिन्तन निष्कर्षों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर विषयनिष्ठ प्रमाणों के द्वारा पहुँचता है जबकि दर्शन एक दृष्टिकोण के प्रति आबद्ध होता है। (मानो उनका कल्पित आलोचनात्मक दर्शन दर्शन नहीं हो)।

समाहार करते हुए वे कहते हैं कि आलोचनात्मक दर्शन के विमर्श और निष्कर्षों में भी ग़लती हो सकती है, किन्तु यह ग़लती पूर्वाग्रही चिन्तन के कारण नहीं होकर प्रेक्षण अथवा आंतर प्रज्ञा की कमी के कारण होती है।

भगवती
डी-१४ बापूनगर, जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान का सामाजिक परिवेश[1]

वालश ने प्रस्तुत लेख में यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान व्यक्ति की निजी—आत्मगत—क्रिया नहीं होकर सामाजिक संदर्भ में घटित होता है। इस स्थापना के प्रतिपक्ष के रूप में उन्होंने ज्ञान-विषयक दकार्तीय[2] दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर उसका प्रत्याख्यान किया है।

लेखक के अनुसार, दकार्ते के 'डिस्कोर्स' में यह व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण स्पष्ट है, क्योंकि उसका मूल स्वर ही अन्यों द्वारा संचित ज्ञान को सन्देह की दृष्टि से देखना है। वह केवल ऐसी अवधारणाओं को ही सत्य मानता है जो व्यक्ति को अपने अन्तर में सुस्पष्ट और सुव्यक्त प्रतिभासित होती हैं। यह अन्य-निरपेक्ष आंतर प्रत्यक्ष ही उसके लिए विज्ञान का आधार है।

दकार्ते-दर्शन के विद्वानों में भी अभी यह एक समस्या ही बनी हुई है कि उनका 'सुस्पष्ट और सुनिश्चित' प्रतिज्ञप्ति (प्रेपोज़ीशन) से क्या तात्पर्य था। किन्तु लेखक इस समस्या पर विचार नहीं कर उसकी मूल दो बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता है :—(१) स्वयं दकार्ते ने किसी भी बात को पहले से ही मानकर चलने से इन्कार कर दिया था, उसने केवल कुछ ऐसी तत्वमीमांसीय प्रतिज्ञप्तियों को ही स्वीकार किया था जिनकी सत्यता प्रातिभ (इंट्यूशन) द्वारा प्रमाणित थी। आधुनिक समालोचक कहते हैं कि शायद दकार्ते के ये सुस्पष्ट और सुनिश्चित सत्य आजकल की विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ होंगी जिन पर सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु इस बात को इसलिए नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि एक तो दकार्ते के दो सुस्पष्ट और सुनिश्चित सत्य अस्तित्व का दावा करते थे और दूसरे वे तर्क के नियमों को स्वतन्त्र सत्ता नहीं देना चाहते थे जिन पर विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ आधारित हैं। उनकी पद्धति में तो तर्क के सिद्धान्तों की भी उसी प्रकार आलोचना करनी पड़ेगी जिस प्रकार भौतिकी या गणित के सिद्धान्तों की।

---

१. डब्ल्यू० एच० वालश–नॉलेज इन इट्स सोश्यल सैटिंग, माइंड; जुलाई, पृष्ठ ३२१-३६।

२. इस लेखक ने 'डेकार्ट' के बजाय 'दकार्ते' प्रयुक्त किया है जबकि पीछे सर्वत्र डेकार्ट शब्द रखा गया है। (सं०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) दूसरे, यदि हम इस सुस्पष्टता और सुनिश्चितता को सत्य की कसौटी मान लेते हैं तो इससे ज्ञान के क्षेत्र को हम निरर्थक रूप से अत्यन्त सीमित बना देते हैं। इस प्रकार नित्यप्रति के जीवन के अनेक सत्य संदिग्ध बन जाते हैं। यद्यपि दकार्ते तो इस स्थिति में बिल्कुल भी चिन्तित नहीं होते, क्योंकि वे स्वयं की और परमात्मा की सत्ता सिद्ध करने के पश्चात् जगत् की विशिष्ट वस्तुओं की सत्ता के बारे में उतना चिन्तित नहीं दिखलाई पड़ते। इसके अतिरिक्त वे यह भी मान लेते हैं कि उनकी इस पद्धति से विज्ञान के अनिवार्य सत्यों की उपलब्धि भी हो जायगी। किन्तु इस धारणा को अन्य अनेक दार्शनिक नहीं मान पाते और इसलिए उन्हें ज्ञान और सत्य की कसौटी के बारे में अन्य विकल्प प्रस्तुत करने को बाध्य होना पड़ता है। यहाँ इन विकल्पों में से दो को प्रस्तुत किया जा रहा है। पहला प्राचीन अनुभववादियों का है और दूसरा प्रोफेसर एयर का, जो उन्होंने अपने ग्रन्थ दि प्राब्लम्स ऑव नॉलेज में प्रस्तुत किया है।

प्राचीन अनुभववादियों के मत में किसी प्रतिज्ञप्ति के सत्य होने की निम्न शर्तें हैं :—(१) यदि उसकी विपरीत प्रतिज्ञप्ति स्वव्याघाती हो, अथवा (२) यदि यह संवेद या अनुभव में प्रदत्त का वर्णन करे या उससे सम्बन्धित की जा सके। अब सत्य की इस कसौटी के अनुसार भी सत्य किसी व्यक्ति के अनुभव पर आधारित हो जाता है, जोकि दकार्ते के अनुसार ही है। यहाँ भी ज्ञान की खोज एक वैयक्तिक कृत्य हो जाता है और सत्य का निर्धारक विशिष्ट व्यक्ति का अनुभव बन जाता है। यद्यपि अनुभववादी इस वैयक्तिक ज्ञान को सार्वजनिक बनाना चाहते थे, किन्तु वे भी यह तो मानते ही थे कि ज्ञान के ग्रहण में मूलभूत वैयक्तिक अनुभव ही होते हैं। उनकी समस्या एक व्यक्ति के द्वारा प्रमाणित ज्ञान को सर्वसाधारण के द्वारा मान्य कराने की थी। किन्तु अनुभववाद की मूल स्थापनाएँ व्यक्ति को उसकी अपनी सीमाओं से बाहर नहीं निकलने देतीं। अतः इस सन्दर्भ में इन दार्शनिकों का मत भी दकार्ते की भाँति वैयक्तिक ही है।

एयर किसी भी सत्य ज्ञान के दावे की सफलता के लिए तीन शर्तें रखते हैं:— कोई व्यक्ति "अ" के सच्चे ज्ञान का दावा तभी कर सकता है यदि (१) "प" वास्तव में वस्तुस्थिति हो, (२) वह "प" के बारे में निश्चित हो, और (३) उसका "अ" के बारे में निश्चित होना युक्तिसंगत हो।

यहां वाल्श यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि "युक्तिसंगत" का प्रत्यय सामाजिक परिस्थितियों में ही सार्थक हो सकता है, क्योंकि युक्तिसंगतता का निर्णय यादृच्छिक दावों से नहीं हो सकता, सर्वस्वीकृत नियमों द्वारा ही हो सकता है। तर्क-शास्त्र के नियम भी सर्वसामान्य होते हैं और वे भी सामाजिक सन्दर्भ में ही सार्थक रूप से प्रयुक्त किये जा सकते हैं। "या तो कल बरसात होगी या नहीं होगी" तार्किक रूप से सत्य है और यह सब को मान्य होता है।

वाल्श का मत है कि जो बात तर्क-शास्त्र के लिए सही है वही ज्ञान की अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाखाओं के लिए भी सही है। उनका कहना है कि ज्ञान के दावे आवश्यक और अनिवार्य रूप से सामाजिक ढाँचे में प्रस्तुत किये जाने चाहिएँ और सफलता के लिए उन्हें सर्वसाधारण का समर्थन (अनुमोदन) प्राप्त करना चाहिए। किन्तु जब हम अनिवार्य सत्यों से आगंतुक सत्यों की ओर आते हैं तो दो कठिनाइयाँ पाते हैं: आज के स्वीकृत सत्य कल असत्य हो जाते हैं, और तथ्यों की व्याख्या को लेकर मदभेद होते हैं।

इसका उत्तर वाल्श देते हैं कि विज्ञानों में सिद्धान्तों का परिवर्त्तन विकासात्यक होता है और इतिहास तथा दर्शन जैसे क्षेत्रों में, जहाँ मतभेद होते हैं, वहाँ भी सम्प्रदाय होते हैं।

इस प्रकार अपने मत को पुष्ट करने के पश्चात् वाल्श अपने मत के विरुद्ध कुछ आपत्तियों का उत्तर देते हैं। पहली आपत्ति तो यह है कि यदि वाल्श का मत सही है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि विद्वत्-समाज की राय या विद्याविदों के संस्थानों का मत ही ज्ञान के दावे के बारे में अन्तिम होगा। वाल्श के अनुसार, विद्वानों का अनुमोदन प्राप्त कर लेना मात्र पर्याप्त शर्त नहीं है, यह केवल एक आवश्यक शर्त है।

दूसरी आपत्ति अधिक ठीक तौर पर यों रखी जा सकती है कि, यदि विश्व में एक ही व्यक्ति हो तो उसे आलोचक के मतानुसार हानि होगी ही नहीं। वाल्श का कहना है कि ऐसे व्यक्ति के पास अपना ज्ञान प्रकट करने को न तो भाषा होगी और न ही वह ज्ञान प्राप्त कर पायेगा, क्योंकि ज्ञान की अवधारणा में यह निहित है कि अन्यों के द्वारा अनुमोदित हुए बिना ज्ञान का कोई दावा विश्वास्य नहीं बनता।

तीसरी आपत्ति यह है कि कुछ प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी होती हैं जिनकी सत्यता एक व्यक्ति के अतिरिक्त और किसी पर निर्भर नहीं करती। उनकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए वह व्यक्ति अन्तिम न्यायाधीश होता है। उदाहरण के लिए, मेरी भावनाओं से सम्बन्धित प्रतिज्ञप्ति या ज्ञान को, दूसरे शब्दों में, प्रमाणीकरण को, कैसे प्रमाणित किया जाय ?

चौथी आपत्ति यह है कि जो विद्वान ज्ञान के दावों पर निर्णय देने वाले हैं वे भी ग़लत हो सकते हैं और तब वाल्श का उक्त सिद्धान्त खण्डित हो जायगा। इस आपत्ति का उत्तर यह है कि यद्यपि कुछ विद्वान किसी समय ग़लत हो सकते हैं पर इससे इस बात का खण्डन नहीं होता कि ज्ञान का संदर्भ सामाजिक है क्योंकि भविष्य में विद्वानों द्वारा उसकी प्रामाणिकता या अप्रामाणिकता का ज्ञान संभाव्य है।

रमेशचन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक समीक्षा

विषय और आत्म : ले० यशदेव शल्य

प्रकाशक दर्शन प्रतिष्ठान, डी-१४, बापूनगर, जयपुर, १६७२, पृ० संख्या २१३+३, मूल्य रु० २०·०० ।

शल्यजी की यह पुस्तक उनके द्वारा लिखित विविध लेखों का संग्रह है, जिनमें से अधिकाँश पहले ही अन्यत्र प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत पुस्तक में संकलित लेखों के विषय में यह बात कही जा सकती है कि उनमें एक ही मूल विचारधारा का क्रमिक विकास हुआ है और यह कि इस विकास में फिनामिनालाजिकीय दर्शन का प्रभाव अधिकाधिक स्पष्ट होता गया है—कहीं संयोगवशात् तो कहीं प्रकट प्रेरणावश। शल्य जी द्वारा पूर्व-लिखित ग्रंथों व लेखों के जानकारों के लिए, जो उन्हें तार्किक अनुभववादी व विश्लेषणवादी विचारधारा का समर्थक समझते हैं, वर्तमान पुस्तक में संकलित लेख निस्संदेह एक नया दिशा-निर्देश करते प्रतीत होंगे—किन्तु इसलिए नहीं कि वे अपनी दार्शनिक-दृष्टि व प्रविधि में उनकी पूर्व रचनाओं से बिल्कुल पृथक् हैं। वरन् सत्य तो यह है कि उक्त परस्पर-विरोधी समकालीन पाश्चात्य दर्शनों के बीच एक मूलभूत सम्बन्ध है, जो शल्य जी के इन लेखों में काफी हद तक स्पष्ट हुआ है—यद्यपि इतना नहीं कि स्पष्ट शब्दों में उसका संतोषजनक विवरण दिया जा सके। किन्तु, मेरी दृष्टि में, महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि एक मूलत: अलग सांस्कृतिक परम्परा में पले लेखक की सैद्धान्तिकता उक्त परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों को साथ-साथ समझने के प्रयास में विचलित नहीं होती। दूसरे शब्दों में, संस्कृति का 'मूल्य-विषय" होना उस सन्दर्भ में किसी भी "ज्ञान-विषय" को, इस तरह के "ज्ञान-विषय" के रूप में स्वयं संस्कृति को भी, एक नया विचारणीय आयाम प्रदान करता है। इसकी कुछ झलक हमें उनके लेख स० ११ में मिलती है, यद्यपि वहाँ लेखक का उद्देश्य "भारतीय संस्कृति" के इस पक्ष को उजागर करना नहीं है।

जैसाकि पुस्तक के शीर्षक से स्पष्ट है, लेख का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है : "विषय और आत्म का स्वरूप-दर्शन" और उनके परस्पर-सम्बन्ध की पारम्परिक धारणाओं व प्रश्नों का विवेचन। इस दृष्टि से मैं उनके लेखों को ३ वर्गों में विभाजित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता हूँ : लेख सं० १ और २ "विषय" के सम्बन्ध में, लेख सं० २-४ "आत्म" के सम्बन्ध में, और लेख सं० ४-८ उनके विविध-रूप सम्बन्धों की धारणाओं व प्रश्नों के सम्बन्ध में हैं। लेख सं० ६ और १० उक्त लेखों (नं० १-८) पर समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टिकोण को किसी हद तक अधिक स्पष्टतापूर्वक प्रकट करने में सहायक हैं।

'विषय' के सन्दर्भ में शल्यजी की दो मान्यताएँ द्रष्टव्य हैं : उसकी परात्परता (पृ० १५) और उसकी आभिमुख्यता (पृ० वही)। प्रथम विषय को भाव-रूप में स्वातन्त्र्य प्रदान करता है, जबकि द्वितीय उसे मानव-मानस् (जो तब शरीराधिष्ठित होता है) की अभिप्रायात्मकता से सम्बन्धित कर उसके ज्ञान को सम्भव बनाता है। स्पष्टतः 'विषय' सम्बन्धी ये दोनों मान्यताएँ मूलतः फिनामिनालाजी की हैं। फिनामिनालाजी दर्शन आरम्भ से ही इस समस्या के समाधान के प्रति सचेष्ट रहा कि वस्तुओं की मनसेतर स्वतन्त्रता (परत्व, बाह्यता) के बावजूद वह किस तरह तत्वतः ज्ञेय या आभ्यंतरेण अधिगृहीत होता है। विषय के परत्व या बाह्यता से उक्त दर्शन का आशय सदैव अस्तित्त्वमूलता का नहीं है : विषय की अस्तित्त्वमूलता केवल उन विषयों के विषय में सही है जो, शल्यजी के शब्दों में, व्यष्ट्यात्मक हैं, अर्थात् जो किसी न किसी तरह विशिष्ट देश-काल के सन्दर्भ वाले हैं। इन्हीं व्यष्ट्यात्मक विषयों के सम्बन्ध में शल्यजी ने अपने प्रथम लेख में 'विशेष' की चर्चा चलाई है, जिसे उन्होंने विषय के एक अन्य प्रकार—"सामान्य" (वस्तु-धर्म या एस्सेंसिज़)—से समतुल्य परिप्रेक्ष्य में रख कर परखा है। इस समतुल्यतात्मक अध्ययन के ही सन्दर्भ में विशेष व सामान्य के अस्तित्त्व का प्रश्न उठाया गया है, जिसका वास्तविक सम्बन्ध "यथार्थता" की पारम्परिक धारणा से है। शल्यजी के अनुसार (पृ० २५), व्यष्ट्यात्मक या अस्तित्त्वमूलक विषय का स्वरूप-लक्षण "आगंतुकता" है, जबकि सामान्य का स्वरूप-लक्षण "अनिवार्यता" है। पुनः, जो अपने निजी-भाव में आगंतुकता का लक्षण वाला है वह सदैव आकस्मिक ही हो सकेगा, और इसीलिए एकाधिक परिप्रेक्ष्यों का विषय होने की योग्यता वाला होगा : जैसे भौतिक व पौराणिक रूपों में (पृ० १५)। अतः व्यष्ट्यात्मक या अस्तित्त्वमूलक विषय के सम्बन्ध में अपूर्ण अधिग्रहण या अन्यथा अधिग्रहण की सम्भावना स्वतः उस विषय के अपने स्वभाव का ही अंग है—जैसाकि फिनामिनालाजिकीय दार्शनिक और शल्यजी भी स्वीकार करते हैं। अतः स्पष्ट है कि उक्त ढंग से पारिभाषिक रूप में "अस्तित्त्व" का अर्थ स्वीकार कर लेने पर, सामान्यों के बारे में अस्तित्त्व का कोई उचित प्रश्न ही नहीं बन पाता। इसलिए स्वाभाविक है कि जब भी दर्शन में सामान्य के अस्तित्त्व की चर्चा की गई है, जैसाकि शल्यजी ने भी किया है, उसकी कृत्रिमता प्रकट हो जाती है। किन्तु यह कहना कि सामान्यों के विषय में अस्तित्त्व का कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं बनता, यह कहना नहीं है कि उसके सन्दर्भ में "सत्ता" का कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं बनता। वस्तुतः अन्य कई महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विचार-धाराओं की ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह फिनामिनालाजिकीय दर्शन में भी उसकी "सत्ता" की ही चर्चा की गई है, अस्तित्त्व की नहीं।

ऐसा लगता है कि चूँकि शल्यजी देख पाते हैं कि सामान्यों के सन्दर्भ में अस्तित्त्व का प्रश्न निरर्थक सिद्ध होता है, जबकि आरम्भ में वे इसे विशेषों व सामान्यों दोनों के सन्दर्भ में उठाते हैं, इसलिए वे सामान्य के साथ-साथ विशेषों के सन्दर्भ में भी उक्त प्रश्न की चर्चा "अर्थ" (मीनिंग) और इसलिए अर्थाभिप्राय के परिप्रेक्ष्य के स्तर पर करते हैं—यद्यपि वे स्वतः यह स्वीकारते प्रतीत होते हैं कि इस चर्चा से विशेषों के अस्तित्त्व-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई समाधान सम्भव नहीं है। अर्थ का प्रश्न मूलतः परिप्रेक्ष्य या व्याख्या का प्रश्न है और इसलिए इसका सम्बन्ध विषय के प्रति हमारी 'अभिमुखता' से है। अतः स्पष्ट है कि स्वतः इससे अस्तित्त्व सम्बन्धी कोई भी निष्पत्ति असम्भव है। शल्यजी अवश्य यह स्वीकार करते हैं कि अर्थ या व्याख्या की दृष्टि से ही यह सम्भव हो पाता है कि कलाकृति या आत्मास्तित्त्व सर्वाधिक विशिष्ट रूप में प्रकट होते हैं—क्रमशः आत्मकृति और आत्माभिव्यक्ति रूपों में, किन्तु "विशेष" का यह रूप सर्वोत्कृष्ट होने पर भी व्याख्यापेक्षा वाला है तथा ज्ञान की स्थिति प्रकट करने वाला है, और इसलिए उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि प्रत्यक्षमूलक (पॉज़िटिव) "विशिष्ट"—अर्थात् अस्तित्त्वमूलक "विशेष" —का सर्वोच्च रूप भी केवल इसी तरह निश्चित होने योग्य है। यहाँ प्लेटो के इस मत का उद्धरण अप्रासंगिक न होगा कि कलाकृति सत्ता के क्रम में तीसरी सीढ़ी पर होती है।

विषय के सन्दर्भ में उक्त "अस्तित्त्व" और "अर्थ" के बीच जो भ्रामक-स्थिति-सी पैदा हुई है, मेरा विश्वास है कि वही शल्यजी द्वारा हुस्सर्ल के आत्म-विषयक मत की आलोचना (पृ० ३०–३१, ३४–३५) का आधार है। यह सही है कि हुस्सर्ल द्वारा व्यवहृत (रीअल) शब्द सदैव स्पष्ट नहीं है। किन्तु तब भी यह तो स्पष्ट ही है कि जब हुस्सर्ल इस शब्द को अस्तित्त्वमूलक परता के लक्षण वाली बहिर्वस्तुओं पर प्रयुक्त करना चाहता है तब उससे उसका अर्थ "वास्तविक" (एक्चुअल) का होता है, जबकि आत्म के सम्बन्ध में वह जिस शब्द का उपयोग करता है वह है—'अ-यथार्थ" (इरियल) या तात्त्विक (एस्सेंश्यल)। अब, तत्त्व के सम्बन्ध में यह मान्यता पारम्परिक रही है कि उसमें अंतर्वस्तु (कांटेंट) और आकार (फोर्म) का तादात्म्य है—जो आकार होकर अन्तर्वस्तु की चेतना है वही अन्तर्वस्तु रूप में उस चेतना का विषय है। हुस्सर्ल के अनुसार इस प्रकार की चेतना केवल शुद्ध आत्म-चेतना ही हो सकती है, जहाँ विविध-रूप बहिर्प्रत्यक्ष उस एकात्मक अन्तर्प्रत्यक्ष की अन्तर्वस्तुएँ हैं जिनसे उक्त एकात्मकता प्रकट होती है। पुनः, हुस्सर्ल का मत है कि आत्मचेतना का यह रूप केवल फिनामिनालाजिकीय विवरण के रूप में प्रदत्त या "विषय" रूप में ग्रहणीय है, वह आनुभविक रूप में इस तरह का प्रदत्त नहीं बन पाता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि अनुभवतः प्रदत्त होने पर तो उसकी "परता" स्वीकार करनी होगी और इस तरह उसकी तात्त्विक अनिवार्यता समाप्त हो जायगी। अतः शल्यजी द्वारा हुस्सर्ल के मत की यह व्याख्या सही नहीं जान पड़ती कि हुस्सर्ल के अनुसार आत्म भी "विषय" रूप वाला है। वस्तुतः इस सन्दर्भ में हुस्सर्ल के "प्रस्तुति" और "प्रदत्त" का भेद ध्यान में रखना चाहिये : वस्तुओं के अनुभव में प्रस्तुति देश-कालिक वस्तुओं की होती है, किन्तु वे अनुभव के प्रदत्त नहीं हैं, अनुभव के प्रदत्त स्वतः अनुभव-रूप (जैसे संवेद, संवेदना आदि) हैं। ये ही अनुभव-प्रदत्त अन्तरानुभव में अनुभव (चेतना) से एकाकार होकर आत्म-रूप का निदर्शन चेतना की अनिवार्य एकता के रूप में करते हैं।

ज्ञान-सन्दर्भ में प्राविधिक संदेह, जो घटनामूलक मनोगत संदेह से भिन्न प्रकार का है, एक-साथ ही वस्तु की परता तथा आत्म के निजत्व का आधार है (पृ० ३५)। यह एक विशिष्ट फिनामिनालाजिकीय धारणा है जो फिनामिनालाजिकीय स्थगन का आधार है। शल्यजी कहते हैं कि फिनामिनालाजिकीय स्थगन "आत्म द्वारा अपनी सहज वृत्ति का प्रयत्न-साध्य निरोध और प्रवर्त्तन है जो इसे मूल्यात्मक बना देता है।........ किन्तु मूल्यबोध से निर्वतित आत्म, जोकि एकमात्र यथार्थ निवर्तन है, अपने को ज्ञेय में नहीं पाकर मूल्य में पाता है। इसके अतिरिक्त, मूल्यात्मक स्थगन से प्राप्त आत्म ही वास्तव में निर्विषय अवगम्य हो सकता है।" (पृ० ३६)। शल्यजी की यह आलोचनात्मक विवेचना अपने आप में काफी रोचक और उनके स्वयं अपने दार्शनिक लक्ष्य और रुझान की दृष्टि से प्रायः तर्क-सम्मत भी है। किन्तु द्रष्टव्य यह है कि उनका दार्शनिक लक्ष्य व रुझान वही नहीं है जो एक फिनामिनालाजिकीय दार्शनिक का होता है। फिनामिनालाजी-दर्शन का आरम्भ व अन्त फिनामिना-रूप अनुभव ही है : उसमें मूल्य-बोध भी अनिवार्यतः अनुभवगत ही है—अर्थात् परिप्रेक्ष्य-भेद से एक ही जगत् तथ्य-जगत् भी है और आदर्श-जगत् (मूल्य-जगत्) भी। इसलिए, हुस्सर्ल के मतानुसार, एक ही "सत्" से वास्तविकता (अस्तित्वमूलक वस्तुओं) के अर्थ के साथ-साथ अ-वास्तविकता (मूल्यपरक वस्तुओं) का अर्थ भी निकलता है। इसके विपरीत, स्वतः चेतना-रूप फिनामिना (अनुभव) अ-सत् (इर्रियल) है—जो न तो उक्त जगत् का अंश है और न ही उसका कोई पक्ष। इस दृष्टि से शल्यजी का यह कथन कि फिनामिनालाजी में आत्म निरपेक्षतः प्राप्त नहीं होता, पर्याप्त सही नहीं है। वस्तुतः फिनामिनालाजी-दर्शन के अनुसार आत्म को निरपेक्षतः प्राप्त करने की बात ही अनिवार्यतः अस्पष्ट होगी, क्योंकि उसे "प्राप्त" करने सम्बन्धी कोई समस्या उठ ही नहीं सकती—उसके सम्बन्ध में समस्या का सही रूप उसके स्पष्टतः प्रकट होने में है। और, फिनामिनालाजी के अनुसार, फिनामिनान् रूप में तत्त्वतः और स्पष्टतः प्रकट हो सकने वाला केवल आत्म ही है, यद्यपि सदैव विषय–निर्देशात्मक रूप में। उसकी इस अनिवार्य विषय-निर्देशात्मकता को ही शायद शल्यजी उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113445

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरपेक्षत: प्रकट होने में बाधक समझते हैं। किन्तु द्रष्टव्य है कि यदि अनिवार्यत: प्रकट केवल आत्म है और अन्य सभी कुछ केवल उससे सम्बन्धित होकर ही कमोबेश अवगम्य होता है, तो निस्संदेह केवल वही ऐसा है जो निरपेक्षत: प्रकट है। जहाँ तक चेतना में मूल्यात्मक बोध का सवाल है, वह अनिवार्यत: आत्म के विषय-सम्बन्ध का पक्ष है, जो स्थगन-योग्य सामान्य प्राकृतिक स्थापना पर आधारित है और इसलिए उसका अपना रूप तात्त्विक नहीं है, जबकि चेतना का अपना निजरूप तात्त्विक है। अत: स्पष्ट है कि फिनामिनालाजी-दर्शन का—कम से कम हुस्सर्ल का—लक्ष्य वही नहीं है जो शल्यजी का है : जबकि प्रथम का लक्ष्य ज्ञान के पूर्ण प्रमाणीकरण और इसलिए ज्ञान-चेतना की पूर्ण तात्त्विकता प्रकट करने का है, शल्यजी का लक्ष्य उक्त चेतना को आदर्शमूलता का अनिवार्य लक्षण वाला बताने का है। यही कारण है कि वे "मोक्ष" (पृ० ३६–३७) तथा 'पुरुषार्थ" (पृ० ५०) जैसी धारणाओं की चर्चा "विषय-विरोध" के अर्थ में करते हैं। पर, जैसाकि मैंने पहले कहा, इस आधार पर फिनामिनालाजिकीय दृष्टिकोण की आलोचना उचित नहीं है।

आत्म-स्वरूप और आत्म-ज्ञान की अपनी उक्त धारणा के आधार से ही शल्य जी "अन्य मनस् के ज्ञान" की समस्या का समाधान करना चाहते हैं, जो निस्संदेह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है (ले० "संवाद" —ले० सं० ४)। उनके अनुसार, ज्ञेय-रूप में आत्म-कथन केवल मुझ तक सीमित नहीं, जबकि मूल्य-रूप में उस पर केवल मेरा "अधिकार" होता है। ज्ञेय या विषय के रूप में वह उसे अधिष्ठित करने वाले शरीर की घटनात्मकता से अनिवार्य तारतम्य वाला है—शरीर और मनस् एक ही संरचना के अंग हैं। अत: स्पष्ट है कि अन्य मनस् की समस्या इस ग़लत पारम्परिक धारणा पर आधारित है कि "मानसिक" और "भौतिक" मूल-भावत: पृथक् हैं। दूसरी ओर, आत्म-सन्दर्भ से ही वह मूल्यपरक बोध होता है जिसमें मेरा आत्म-बोध व्यक्ति रूप में विशिष्ट हो जाता है—और इस रूप में वह केवल मेरा ही होता है। मेरी समझ में शल्यजी का यह मत निस्संदेह विचारणीय है, यद्यपि, जैसाकि मैंने पहले कहा, शल्यजी इसकी प्रतिष्ठा नहीं कर पाए हैं कि आत्म का अपना रूप मूल्यबोध में ही प्रकट होता है—विशेषकर इसीलिए क्योंकि उन्होंने इस मूल्यबोध का सवाल फिनामिनालाजी के सन्दर्भ में उठाया जिसके आत्मबोध की व्याख्या बिल्कुल भिन्न है। अवश्य, संकलित रचनाओं में शल्यजी का 'मूल्यान्वेषण व अर्थ-विवेक" लेख भी शामिल है, किन्तु वह उक्त मौलिक समस्या पर कोई प्रकाश नहीं डाल पाता : "मूल्य" के अर्थ में वे अवश्य "अर्थान्वेषण" या "प्रयोजनवत्ता का बोध" समाविष्ट मानते हैं, किन्तु इससे उक्त भावमूलक (पॉजिटिव) समस्या का समाधान नहीं होता।

जहाँ तक आत्म-भाव की विशिष्टता के रूप में "ज्ञान" का सवाल है, द्रष्टव्य है कि अपने मूल्य-स्वरूप भाव के विषय में आत्म-बोध संज्ञानात्मक या विषयपरक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान के रूप में न होकर "नेयार्थक" या "आत्मचरितार्थक" रूप में होता है। मेरे विचार में शल्यजी का यह मत आत्मविषयक रूढ़ चिन्तन से स्वतन्त्र होकर समकालीन अस्तित्ववादी दर्शन के निकट चला जाता है—यद्यपि इससे इसकी अपनी विशिष्टता नष्ट नहीं होती। आत्मवत्ता के नेयार्थ-सन्दर्भ में शल्यजी ने "इतिहास-बोध" की चर्चा चलाई है। इनके अनुसार "नेयता अतीत और वर्तमान का भविष्य के लिए धारण करना है," जबकि उसकी अर्थायत्तता या अभ्यर्थना वह "अन्वेष्यता" है जो "भविष्य का वर्तमान में धारण करती है।" (पृ० ५७) संक्षेप में, नेयार्थकता अनिवार्यतः मनुष्य को अपने आत्मबोध में "अर्थानुप्रविष्ट कालिकता" के लक्षण वाला बनाती है, और इसीलिए "इतिहास-बोध" मनुष्य का स्वभाव-धर्म ही है : मनुष्य अनिवार्यतः "ऐतिहासिक" प्राणी है।

जहाँ तक रचनात्मकता का सवाल है, वह निस्संदेह प्रत्यक्ष-विषय में होती है—जहाँ तक उसमें मानव-परिप्रेक्ष्य योजना के रूप में आक्षिप्त होता है। किन्तु शुद्ध तार्किक व मूल्यपरक विषयों के रचना की यह विशिष्टता होती है कि वे पूर्णतः रचित होने से पूर्णतः पारदर्शी होते हैं, जबकि प्रत्यक्षपरक विषयों की रचना में उपस्थित अन्तर्वस्तु रूप संवेद रचित न होने से अर्थ के लिए अभेद्य होते हैं। (उक्त विषय-सम्बन्धी रचनागत भेद पुनः फिनामिनालाजिकीय दर्शन की तत्सम्बन्धी धारणा पर आधारित है, यद्यपि उसका रूप पर्याप्त भिन्न है।) अतः अर्थानुप्रविष्ट कालिकता की दृष्टि से भी उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं में भेद होता है : कालिकता दोनों में ही होती है, किन्तु केवल प्रथम का ही वह सर्वभावेन स्वरूप-लक्षण है। पुनः, पूर्णतः रचित तथा तदनुसार पूर्णतः पारदर्शी होने से विषय-रूप मूल्य अपने अवधारणात्मक अर्थ में निस्संदेह कालातीत पूर्णता का लक्षण वाला होता है—अर्थात् काल के अन्दर उसकी पूर्णता केवल "संभाव्य का चरितार्थन" के रूप में होती है। चरितार्थन की यही वास्तविक प्रक्रिया शल्यजी के अनुसार "इतिहास" है, जिसमें मनुष्य की सभी आत्माभिव्यक्तियों (दर्शन सहित) के लिए जगह है। अतः आश्चर्य नहीं कि वे इतिहास के लिए घटनाओं को नहीं वरन् घटना-क्रम (अर्थमूलक घटना-क्रम) को अनिवार्य मानते हैं—यद्यपि मेरी दृष्टि में इस बात पर ज़ोर देना विशेष मायने नहीं रखता, क्योंकि इतिहास-बोध को शल्यजी के अर्थ में समझ लेने पर उसका विषय केवल घटना-क्रम ही होगा, कोई घटना नहीं। वस्तुतः फिनामिनालाजिकीय दृष्टिकोण से घटनाएँ अपने विशिष्ट वैयक्तिक रूप में उपस्थिति हो ही नहीं सकतीं, क्योंकि उनकी सार्थकता सदैव मानव-परिप्रेक्ष्य से निश्चित होगी और इसलिए उन्हें किसी न किसी योजना या घटना-क्रम का अंश होना ही पड़ेगा। तदनुसार, शल्यजी द्वारा "इतिहास" को "सांस्कृतिक नेयार्थ के आत्म-चरितार्थन की प्रक्रिया" (पृ० ६४) कहना एक तरह से पूर्व-स्पष्ट की पुनरावृत्ति मात्र ही है।

लगता है कि "इतिहास" के स्वरूप की व्याख्या में शल्यजी का दृष्टिकोण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैयार्थक विकासवाद का है, टायन्बी या स्पेंगलर की तरह नियतिवाद का नहीं।* स्वयं मूल्य की चरितार्थता ही उनके लिए ऐतिहासिकता है, जबकि नियतिवाद में घटना-क्रम एक विशिष्ट परिणति की ओर चलता दिखाई देता है। परन्तु मेरी समझ में उक्त "विकासवाद" व "नियतिवाद" दो मूलतः पृथक् धारणाएं नहीं हैं—यदि यह मान लिया जाय कि घटनाक्रम के विकास की कोई अन्तिम सीमा नहीं है और यह कि उसे उसके विकास के विभिन्न स्तरों पर नियोजन-क्रम या नियति के आधार पर परखा जा सकता है। इस एकात्मरूप ऐतिहासिकता को मानव-दृष्टि की सम्भाव्य मूलक (मूल्य-परक) अर्थायित्ता से देखने पर शल्यजी के मत की पुष्टि होती है, जबकि घटनात्मकता में ही उक्त अर्थायोजन का रूप देखने से टायन्वी व स्पेंगलर के मत की। यहाँ हम पुन: इस फिनामिनालाजिकीय धारणा का उल्लेख कर सकते हैं कि मनुष्य की अर्थायत्तक दृष्टि या क्षमता अपने-आप में शून्य है, जबकि इस दृष्टि के अनुकूल उचित वस्तुओं का रूप अपने-आप में इस तरह का है कि वे उक्त दृष्टि का विषय बनती हैं। दूसरे शब्दों में, इतिहास-सन्दर्भ में, मनुष्य की अर्थायोजन-शक्ति के साथ स्वत: घटनाओं में भी उक्त शक्ति के अनुकूल नियोजन की क्षमता है। शायद यही कारण है कि "इतिहास" सदैव घटनापरक या वस्तुनिष्ठतामूलक होता है। और वह बात केवल "इतिहास" की नहीं है। स्वत: मानव-अर्थायत्तता में भी उक्त भेद घटित होता है—केवल शुद्ध सम्भव-रूप में ही वह विषय-गत अर्थ का आधार है, जबकि नैतिकता आदि के क्षेत्र में मूल्यों को वास्तविकता का रूप वाला समझने से उसी अर्थायत्तता का रूप बदल जाता है।

समीक्षा की आवश्यक सीमाओं को ध्यान में रखते हुए शल्यजी के लेखों की विस्तृत विवेचना यहाँ सम्भव नहीं। अत: स्वाभाविक ही है कि मैंने उनके किन्हीं विशिष्ट मतों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहा है और इन्हीं मतों की समालोचना मैंने की है—विशेषकर फिनामिनालाजिकीय दर्शन की तत्सम्बन्धी मान्यताओं को ध्यान में रख कर। शायद कहीं-कहीं वह अस्पष्ट रह गई है, जिसके लिए न तो शल्यजी का लेखन और न ही फिनामिनालाजिकीय दर्शन उत्तरदायी हैं। उनकी जिम्मेदारी मेरी है।

राजेन्द्र पांडेय
शांतिनिकेतन

---

*इस प्रसंग में उनकी पुस्तक **"संस्कृति: मानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या"** में अध्याय सं० २ "संस्कृति का अधिष्ठान" द्रष्टव्य, विशेषत: पृ० ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन समीक्षा

सम्मतियाँ

Thank you for the copies of **Darshan Samiksha** which You sent some time back.

I have gone through them and have been greatly impressed by the material contained in them. In fact, it is a rere publication of which one could be proud in any language. It is not only useful to students and teachers of philosophy, but it is helpful to any body doing research in the field of philosophy.

Daya Krishna,
Prof. & Head, Department of Philosophy
University of Rajasthan, Jaipur.

I have seen **Darsan Samiksha, Vol. II, No. I of July 72. I am** impressed by the reviews of recent important books, which have appeard in this Number. It is not possible for anyone to read all the latest important books in Philosophy. So if some of the most important books published all over the world were to be carefully selected and extensively reviewed by competent men in Darshan Samiksha, it would be of invaluable help to all advanced students. I note that such is your aim and commend it. I also congratulate you for the excellence of Your July, 72 Number.

Dr .K. Satchidananda Murty,
Prof. & Head, Philosophy Department,
Andhara University, Visakhapatnam-3

दर्शन समीक्षा से दर्शन के विद्यार्थियों तथा दार्शनिकों को पर्याप्त सामग्री मिलेगी और उनको चिन्तन में अनुप्रेरणा मिलेगी। इस प्रकार के प्रयास का प्रभाव दो-चार वर्षों के बाद होगा। आपकी अथक तपस्या और त्याग के फलस्वरूप ही हिन्दी में दर्शन की सुबोध पुस्तकें प्राप्त होने लगी हैं।

डा० या० मसीह,
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शन विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शन समीक्षा के अंक देख कर बहुत खुशी हुई। इस पत्रिका का उद्देश्य और स्तर दोनों बहुत प्रशंसनीय हैं। इस प्रकार की पत्रिका निस्सन्देह हिन्दी में दार्शनिक वाङ्मय की प्रगति में सहायक होगी और विद्यार्थियों तथा अध्यापकों दोनों के लिए अत्यधिक लाभप्रद होगी।

डॉ० नारायण शास्त्री द्राविड़,
अध्यक्ष दर्शन विभाग,
नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

'दर्शन-समीक्षा' का ताजा अंक भी मिला, धन्यवाद। बहुत अच्छा निकल रहा है। हार्दिक बधाई।

प्रो० अ० कि० शरण,
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

दर्शन-शास्त्र में अंग्रेजी में लिखी गई नवीन कृतियों का संक्षिप्त, विवेचनात्मक रूप हिन्दी भाषी पाठकों तक पहुँचाने का प्रथम सफल प्रयास 'दर्शन-समीक्षा' ने किया है। अंग्रेजी में लिखे गए दार्शनिक साहित्य का अनुवाद करने की प्रथा अकादमियों तथा समितियों द्वारा पहले ही स्थापित हो चुकी थी। पर अनुवाद अपनी सुविदित सीमाओं के कारण एक जागरूक पाठक के लिए अपेक्षित रूप से उपयोगी सिद्ध नहीं हो पाये। पाठक की आवश्यकता जिस प्रकार के संक्षिप्त विवरण तथा समीक्षा की थी, उसे पूर्ण करने में दर्शन-समीक्षा बहुत कुछ सफल हुई है।

डॉ० रूपरेखा वर्मा,
अध्यक्ष दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113445

दर्शन–समीक्षा के जुलाई १९७२ अंक में प्रकाशित संवादी विसंवाद लेख का शुद्धिपत्र

पृष्ठ संख्या	पँक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७३	२४	ऋतु	ऋत
	२५	वस्तु-योनी	वस्तु-योनि
७४	१८	विरुद्ध	विरुद
७७	१४	वैदिक 'यह्वे'	वैदिक 'यह्व'
८७	१५	योगवसिष्ठकार	योगवासिष्ठकार
५८	७	सभी	सामी
६०	अंतिम पँक्ति	विवृत्ति	विवृति
६२	२५	हिरहिरण्यगर्भ-सूक्त	हिरण्यगर्भ-सूक्त
	अंतिम पँक्ति	सिद्ध	सिद्धि
	,,	द्यावा,	द्यावा-
६३	२३	हरण्यगर्भ	हिरण्यगर्भ
	२४	कस्मे दैवाय	कस्मै देवाय
६४	२७	विपरित	विपरीत
६६	३	जाग्रत्	जगत्
६८	९	अक्ल	अकल
	१५	कवल्य	कैवल्य
७०	१०	रहस्य-साधक	रहस्य-साधना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" ऐसा कोई विचार संभव नहीं है जिसमें शब्द का अनुवेध न हो। शब्द के ही सहारे बुद्धि-प्रक्रिया सम्पन्न होती है। इसी कारण विचार पद्धतियां एवं दृष्टियां भाषा की अपेक्षा रखती हैं। किसी भी देश में स्वतन्त्र चिन्तन का विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक उसके निवासी अपनी मातृभाषा में अपना चिन्तन एवं लेखन नहीं करें। भारत की सभी भाषाएं समान परम्परा के अन्तःसूत्र से बँधी हैं और उनका पूर्ण विकास हिन्दी के विकास का अविरोधी ही नहीं है अपितु हिन्दी के उत्कर्ष से ही उनकी परस्पर-सम्बद्धता अभिषिक्त होती है। अतः स्वतन्त्र चिन्तन के विकास एवं भारत की अखण्ड एकता के लिए हिन्दी के विकास में सहयोग देना सभी भारतीयों का कर्त्तव्य है।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, ए-२३, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-४ के लिए श्री यशदेव शल्य द्वारा प्रकाशित तथा संपादित, एवं जयपुर मान प्रिन्टर्स, बाएवालों का दरवाजा, चौड़ा रास्ता, जयपुर से मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar